कल्याण-मार्गका पथिक

स्वामी श्रद्धानन्द

ओ३म्

कल्याण-मार्गका पथिक ।

लेखक—

स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी

संवत्
१९८१

ज्ञानमण्डल कार्यालय
काशी ।

प्रकाशक—
श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव,
ज्ञानमण्डल कार्यालय,
काशी ।

लागत व्ययका हिसाब

छपाई	...	...	५७०)
कागज	...	...	६८५)
सम्पादन, संशोधन इ०		...	१२०)
चित्र, छपाई, कागज		...	१३५)
जिल्द	...	...	८६५)
बिक्री-व्यय ५% हानि ५ %, भेंट, समालोचना, व्याज, विज्ञापन इ० १५%			११२५)
कमीशन लगभग २५%			१०००)
			४५००)
एक प्रतिका मूल्य			१॥)

मुद्रक—
श्री माधव विष्णु पराड़कर,
ज्ञानमण्डल यंत्रालय,
काशी ।

ओ३म्

ऋषि दयानन्दके चरणोंमें

सादर समर्पण

ऋषिवर ! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदयपटपर अब तक ज्योंकी त्यों, अंकित है। मेरे निर्वलहृदयके अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते गिरते तुम्हारे स्मरणमात्रने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओंकी काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है। परमात्माके विना, जिनकी पवित्र गोदमें तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशोंसे निकली हुई अग्निने संसारमें प्रचलित कितने पापोंको दग्ध कर दिया है ? परन्तु अपने विषयमें मैं कह सकता हूं कि तुम्हारे सहवासने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्थासे उठाकर सच्चा जीवन लाभ करनेके योग्य बनाया ?

मैं क्या था इसे इस कहानीमें मैंने छिपाया नहीं। मैं क्या बन गया और अब क्या हूं ? वह सब तुम्हारी कृपाका ही परिणाम है। इस लिए इससे बढ़कर मेरे पास तुम्हारी जन्म-शताब्दिपर और कोई भेंट नहीं हो सकती कि तुम्हारा दिया आत्मिक जीवन तुम्हें ही अर्पण करूं। तुम वाणी द्वारा प्रचार करने वाले केवल तत्ववेत्ता ही न थे परन्तु जिन सचाइयोंका तुम संसारमें प्रसार करना चाहते थे उनको क्रियामें लाकर सिद्ध कर देना भी तुम्हारा ही काम था। भगवान् कृष्णकी तरह तुम्हारे लिए भी तीनों लोकोंमें कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया था, परन्तु तुमने भी मानव-संसारको सीधा मार्ग दिखलानेके लिए कर्मकी उपेक्षा नहीं की।

भगवन् ! मैं तुम्हारा ऋणी हूं; उस ऋणसे मुक्त होना चाहता हूं। इस लिए जिस परम पिताकी असीम गोदमें तुम परमानन्दका अनुभव कर रहे हो, उसीसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे तुम्हारा सच्चा शिष्य बननेकी शक्ति प्रदान करें।

विनीत—

श्रद्धानन्द ।

ओ३म्

कल्याण-मार्गका पथिक

प्रस्तावना ।

अपना जीवन वृत्तान्त सर्वसाधारणके आगे रखना उन उच्चकोटिके महानुभावोंको ही शोभा देता है जिन्होंने संसारमें किसी न किसी बड़े काममें कृतकार्यता प्राप्त की हो । फिर उत्तम लेखक भी उन्हींकी जीवनी-को मुद्रित करना उचित समझते हैं जिन्होंने कोई अपूर्व काम किया हो, चाहे उस काममे संसारकी उन्नति हुई हो वा पहिलेसे भी बढ़कर संसार रसातलको चला गया हो । मैं जानता हूं कि मेरी जीवन-कथा दोनों कोटियोंमें नहीं आ सकती ; फिर भी मैंने अपनी कहानी सर्वसाधारणके आगे रखनेका साहस क्यों किया ?

अभी ५० वर्ष भी पूरे नहीं हुए कि भारतवर्षके नवयुवक सिवाय खाने, पीने, भोगने और उसके लिये धन सञ्चय करनेके अपना और कुछ कर्त्तव्य नहीं समझते थे । गुलामीमें वह जन्म लेते थे और उस दासताकी अवस्थाको अनिवार्य समझकर गन्दगीके कीड़ोंकी तरह उसीमें मस्त रहते थे । उन्हें मालूम न था कि उनके पुरुषा भी किसी समयमें सभ्यताका स्रोत थे । उन्हें यही बतलाया गया था कि भारतीय अर्ध-सभ्य हैं, उनकी कोई संस्कृति थी ही नहीं और यदि वह गिरी हुई अवस्था-से उठना चाहते हैं तो उन्हें योरोपियन सभ्यताकी शरणमें जाना चाहिये। इस पुस्तकका लेखक स्वयं किन विचारोंका था वह उसकी जीवन-यात्रा-की कहानी पढ़नेसे विदित होगा ।

आचार्य ऋषि दयानन्दने आर्य्यावर्तकी प्राचीन संस्कृतिका सप्रमाण चित्र खींच कर न केवल आर्यसन्तानके अन्दर ही आत्म-सम्मानका भाव उत्पन्न किया प्रत्युत योरोपियन विद्वानोंको भी, उनकी कल्पनाओंकी

असारता दिखलाकर, चक्करमें डाल दिया। हिन्दू युवक अपने प्रत्येक आचार-व्यवहारको दूषित और योरोपियनोंके गिरेसे गिरे अत्याचार और दुराचारको भी आदर्श समझा करते थे। मैंने भी उसी विद्यालयमें शिक्षा पाई थी जिसने हिन्दू युवकोंको अपनी प्राचीन संस्कृतिका शत्रु बना दिया था।

आजकलकी भारतीय जनता ५० वर्ष पूर्वका इतिहास पढ़कर उस समयके भारतीय लेखकोंको तुच्छ दृष्टिसे देखती है और उनके अज्ञानपर आश्चर्य करती है और यह समझ बैठी है कि अज्ञानसे ज्ञानकी ओर आनेके बीचमें कोई भी मञ्जिल तय नहीं करनी पड़ी। इसी भूलको दूर करनेके लिये मैंने अपनी जीवन-यात्राकी कहानी सविस्तर लिख दी है। इसमें सन्देह नहीं कि मेरी गिरावटकी कहानियां बहुतसे श्रद्धालु हृदयोंको ठेस लगायंगी, परन्तु मुझे यह विश्वास है कि इस आत्म-कथाके पाठसे बहुत-से युवकोंको संसार-यात्रामें ठोकरोंसे बचनेकी शक्ति भी मिलेगी।

एक और बात भी है जिसकी ओर विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूं। ऋषि दयानन्दके लेखोंका तत्त्व उन आर्यसमाजियोंकी समझमें पूर्णतया नहीं आता जिन्होंने आर्यसमाजके यौवनकालमें उसके अन्दर प्रवेश किया है।

अपनी निर्माण की हुई पाठविधिमें आचार्य दयानन्दने 'सर्व भाषा ग्रन्थ' त्याज्य लिखे हैं। इसपर सत्यार्थप्रकाशके तीसरे समुल्लासमें इस प्रकार प्रश्नोत्तर हैं:—

प्रश्न—'क्या इन ग्रन्थोंमें कुछ भी सत्य नहीं ?

उत्तर—'थोड़ा सत्य तो है, परन्तु इसके साथ बहुतसा असत्य भी है इससे......जैसे अत्युत्तम अन्न विषसे युक्त होनेसे छोड़ने योग्य होता है वैसे यह ग्रन्थ हैं।'

आचार्यका यह लेख रहस्य–पूर्ण है। आजकल कुछ ऐसे आर्य-समाजी भी हैं जो यह समझते हैं कि किसी भाषाग्रन्थको भी पढ़ना न चाहिए। यह उनकी भूल है। ऋषिने उनमें यत्किञ्चित सत्य भी माना है किन्तु बाल्यावस्थामें शिक्षा ग्रहण करनेके लिये संकेत कर दिया है कि वेदशास्त्रानुकूल नये भाषाग्रन्थोंका निर्माण करना चाहिये। परन्तु

जिस प्रकार गृहस्थोंके लिये आचार्यने आज्ञा दी है कि सत्यका मण्डन और असत्य मतका खण्डन सीखकर सदाचारपूर्वक विदेशमें जानेसे कोई हानि नहीं उसी प्रकार गुरुकुलों तथा राष्ट्रीय विद्यालयोंमें भी शिक्षा समाप्त करनेके पीछे पुराने भाषा-कवियोंके ग्रन्थ पढ़नेसे लाभ ही होगा। मैंने इस कहानीमें दिखलाया है कि आर्य संस्कृतिके गिरेसे गिरे समयमें भी तुलसीदास आदिकी कविताओंने आर्य संस्कृतिको लुप्त होनेसे बचाया है।

किस प्रकार क्रमशः धार्मिक दासतासे उत्तरोत्तर हिन्दू समाजको मुक्ति मिलती गयी और अपनी राजनीतिक दासताका भी उनको परिज्ञान हुआ इसके समझनेके लिये युगविधाता आचार्य दयानन्दके जीवनचरित्रका पाठ गहरी दृष्टिसे करनेकी आवश्यकता है। परन्तु उस परिवर्तनके बहुतसे मर्म तभी मालूम हो सकते हैं जब कि ऋषिके वे अनुगामी जिन्होंने स्वयं उनका सहवास किया है अपने अन्तःकरणके परिवर्तनोंको खोल कर जनताके सामने रख दें।

इस कहानीमें मैंने अपने कुछ साथियोंके नाम स्पष्ट नहीं दिये हैं, इसलिये कि उनके सम्बन्धियोंको किसी प्रकारका मानसिक कष्ट न हो। घटनाएं सब ठीक ठीक दी गई हैं। कुछ स्थानोंमें घटनाओंका वर्णन इस प्रकारका हुआ है कि शायद उनको कल्पनात्मक उपन्यास समझा जाय परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि सच्ची घटनाएं कभी कभी उपन्यासको भी मात कर देती हैं।

ज्येष्ठ संवत् १९३३ तककी कहानी आजसे २५ वर्ष पहिले ही लिख छोड़ी थी। आर्यसमाजमें प्रवेशके समयसे संवत् १९४६ तकका वृत्तान्त "सद्धर्म प्रचारक" साप्ताहिक पत्रमें "कुछ आपबीती कुछ जगबीती" के शीर्षकसे छपता रहा है। उसमेंसे असम्बद्ध विस्तारको संक्षिप्त करके उस समयकी कथा लेखबद्ध की गई है। इन दोनों समयोंके बीचका वृत्तान्त 'मियां वाली जेल'के एकान्त निवासमें लिखा गया। निस्सन्देह मेरी स्मरण-शक्तिने भी घटनाओंके ठीक वर्णनमें सहायता दी है। परन्तु मुझे विद्यार्थी जीवन व्यतीत करते हुए ही आत्मचिन्तनका व्यसनसा लग गया था और इसलिये दिन-पत्रिका (डायरी) रखनेका अभ्यास

था। उस दिन-पत्रिकासे तिथियों और घटनाओंके संशोधनमें बहुत सुबीता रहा है।

मेरे पुराने साथी प्रायः सब चल बसे हैं। आर्यसमाजमें प्रवेश-कालके नये साथियोंमें भी बहुत ह्रास हो चुका है। मुझे भी मौत सिरपर खड़ी दिखाई देती है। फिर भी नयेसे नये साथी मिलते चले जा रहे हैं और मेरे अन्तःकरणमें निराशाकी लहर जब कभी उठती है उसी समय श्रद्धासागरमें विलीन हो जाती है। मेरा जीवन आशातीत व्यतीत हुआ है, इस लिये जब तक दममें दम है तब तक मनुष्यको बेदम नहीं होना चाहिये—यह मेरा सिद्धान्त है।

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें 'ज्ञानमण्डल'के सञ्चालक बाबू शिवप्रसाद गुप्तसे मुझे बड़ी सहायता मिली है। यदि वह इसकी छपाईका भार अपने ऊपर न लेते और उनके प्रबन्धकर्त्ता मेरे पीछे न पड़े रहते तो मुझे ऋषि-ऋणसे मुक्त होनेका अवसर अभी न मिलता। यन्त्रालयसे मेरे दूर होनेके कारण अशुद्धियां अवश्य रह गई हैं, परन्तु मेरे लेखककी पहेलियों-को सुलझानेका काम ज्ञानमण्डलके संशोधकोंने उत्तम किया है।

मेरे जीवनके शेष अनुभव भी, किसी न किसी रूपमें जनताके सामने आते ही रहेंगे, यदि उनको छपवा कर मुद्रित करानेका बोझ उठाने-के लिए बाबू शिवप्रसादजीसे उदार आर्यपुरुष तय्यार रहें।

पाठकवृन्द ! कल्याणमार्गके पथिककी कहानीमें जो कुछ भी आपको शिक्षाप्रद दिखाई दे उसे ग्रहण करो, परन्तु जो कुछ अहितकर प्रतीत हो उसको उपेक्षा-दृष्टिसे ही देखो। गुसाईं तुलसीदासने ठीक कहा है :—

जड़ चेतन गुणदोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहिं पय, परि हरि वारि विकार॥

दिल्ली नगर
२६-८-८१, वि०

श्रद्धानन्द संन्यासी

विषय-सूची ।

प्रथम परिच्छेद

अनृत जीवनसे श्रेयकी ओर—अन्धकार और प्रकाशका युद्ध

द्वितीय परिच्छेद

प्रकाशका क्रमशः विजय

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक. आचार्य दयानन्द।

ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।

ओ३म्

अनृत जीवनसे श्रेयकी ओर

प्रथम परिच्छेद

अन्धकार और प्रकाशका युद्ध

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।"—भगवद्गीता।

जन्म-स्थान, नाम, संस्कार

(मांपर पूत पितापर घोड़ा। बहुत नहीं तो थोड़ा थोड़ा॥)

सम्वत् १९१३ विक्रमी, मास फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशीके दिन मेरा जन्म हुआ। मेरे पिता उन दिनों रोज़गारकी तलाशमें घरसे बाहर गये हुए थे। पञ्चनद (पंजाब) प्रान्तमें जालन्धर एक ज़िला है जो अपने मुख्य नगरके नामसे प्रसिद्ध है। जनोक्ति यह है कि इसी स्थानमें जालन्धर दैत्यका राज्य था, और यहां ही दैत्योंके शत्रु—मुरारि—के हाथसे वह मारा गया। दैत्य भी ऐसा था जिसकी स्त्री पतिव्रता थी और उसीके प्रतापसे जहां उसका रक्त गिरता वहां प्रति बूंद एक जालन्धर उत्पन्न हो जाता। मुरारीने किस विधिसे उसका वध किया इसके लिखनेकी ज़रूरत नहीं। फिर जालन्धरमें माण्डलिक हिन्दू राजे शासन करते रहे। मुसलमानोंके समयमें अदीना बेग यहांका हाकिम रहा और अंग्रेज़ोंने इसे ज़िला बना लिया।

ज़िला जालन्धरके पूर्वी कोनेपर, शतद्रु (सतलज) नदीके किनारे तलवन एक उपनगर है। वही मेरी जन्मभूमि है। किसी समय जालन्धर-दुआबमें अढ़ाई शहरोंकी गिनती हुआ करती थी। पूरा शहर 'तलवन', पूरा 'बिजवाड़ा' और आधा 'हदियाबाद'। अब यह तीनों स्थान केवल ग्रामकी स्थितिमें रह गये हैं। पुरानी कीर्तिके लिये उदारता और ब्याह शादियोंकी करतूतकी बदौलत मेरे जन्मके समय भी इनका कुछ मान था। अब तो जबसे नापित अर्थात्

नाऊ राजाके शासनसे छुटकारा पाकर पुराने प्रसिद्ध उत्तम कुलीन भी रिश्ते नाते देख भाल कर करने लगे हैं तबसे इन शहरोंकी कर्तूतोंका चमत्कार भी मद्धिम पड़ गया है।

तलवनमें मेरा जन्म हुआ और पाधाजीने जन्म-नाम बृहस्पति रखकर भी प्रसिद्ध नाम 'मुंशीराम' रख दिया। मेरे तीन भाई और थे तथा दो बहिनें। मैं सबसे छोटा अपनी माताकी अन्तिम सन्तान था। आयुके क्रमानुसार सब भाई बहिनोंके ये नाम थे:—(१) सीताराम (२) प्रेमदेवी (३) मूलाराम (४) द्रौपदी (५) आत्माराम (६) मुंशीराम।

तत्त्ववेत्ताओंने दो प्रकारके संस्कार बतलाये हैं। पूर्व जन्मके संस्कार ही वर्त्तमान योनिके कारण होते हैं और उन्हींके अनुसार बुरे वा भले माता पिता भी मिलते हैं। उन माता पिताके गुणों अवगुणोंका विशेष प्रभाव सन्तान-पर पड़ता है। इनको पैतृक संस्कार कहते हैं। यद्यपि पैतृक संस्कार भी अपने पूर्व कर्मोंके ही फल हैं तथापि इन्हें अलग समझकर भी जीवनके बहुतसे भेद खुल जाते हैं। इसलिये अपने कुलकी कुछ विशेषताओंका यहां वर्णन करना असंगत न होगा।

जन्म तथा गुण कर्म, दोनोंके विचारसे मेरा कुल क्षत्रि-कुल कहा जा सकता है, किन्तु साथही वह भक्तिप्रधान कुल था। मेरे पर-दादाका नाम सुखानन्द था। वह सचमुच सुख और आनन्दकी मूर्ति ही थे। मैंने अपने पिताजीसे सुना था कि उनका चित्त हर समय प्रसन्न तथा उनके मुखपर शान्ति और कान्तिका मेल रहता था। पहले तो वह किसीपर क्रोध करते ही न थे; परन्तु यदि किसी व्यक्तिके दुर्व्यवहारपर उसको तोड़ना करते तो भी उनके मुंह-से दुर्वाक्य कभी न निकलता। कहते तो क्या कहते—"स्याण्या! क्यों धर्मते डिग गिया है?" अर्थात् "सयाने! क्यों धर्मसे गिर गया है?" सबसे बड़ी गाली "सयाना" कहना था। लाला सुखानन्दके पांच पुत्र थे—(१) लाला कन्हैया-लाल (२) हीरानन्द (३) माणिकचन्द्र (४) गुलाबराय (५) महताबराय। लाला कन्हैयालाल राज कपुर्थलाकी ओरसे पंजाबकेसरी महाराजा रणजीतसिंहके दरबारमें वकील (एलची) बनकर रहते थे। उनकी बात महाराजा रणजीतसिंह-के यहां चलती थी। लाला कन्हैयालालने एक शिवालय बनवा दिया था जिसमें उनके पिता सुखानन्दजी रहते और वहीं नियमपूर्वक, दोनों समय शिवपूजा करते।

मेरे दादा लाला गुलाबराय भी हरिभक्तिमें रत रहते थे। नित्य प्रातः ब्राह्म मुहूर्त्तमें उठकर स्नान करते और सुखमणि तथा भगवद्गीताका पाठ करते। फिर कबीर तथा अन्य भक्तोंके शब्द गाते रहते। कपुर्थलामें वह रानी हीरादेवीके मुखतारकार थे और जब महाराजा नौनिहालसिंहके गद्दीनशीन होनेपर रानी साहेबा अपने दोनों पुत्रों (सर्दार विक्रमसिंह और कुँअर सुचेतसिंह) सहित जालन्धरमें आ बसीं तो मेरे दादा भी उन्हींके साथ चले आये और महाराजा

नौनिहालसिंहके दिये प्रलोभनोंकी परवा न की। गुलाबरायजी बड़े स्पष्ट-वक्ता थे। जिस समय वह ४ बजे स्नानादिसे निवृत्त होकर पाठ आरम्भ करते और पञ्चम स्वरमें भजन गाते तो सर्दार विक्रमसिंहकी नींद खुल जाती। तङ्ग आकर उन्होंने एक दिन कहा—"लालाजी! क्या आप परमेश्वरका नाम मनमें नहीं ले सकते?" उत्तर मिला—"मेरे मनमें तो हरदम परमात्मा बसते हैं, परन्तु जो मूढ़ भजनके अमृतवेलामें बेहोश सोये रहते हैं उन्हें सचेत करनेके लिये उच्च स्वरसे भजन बोलता हूं।"

ऐसे निर्भय वीर ईश्वरभक्तके घर मेरे पिता, नानकचन्द्रका जन्म हुआ। वह अपने छ भाइयोंमें सबसे बड़े थे। छुटपनमें ही, शिवपूजा अपने दादा सुखानन्दजीसे सीख, इन्होंने भी ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर पूजा आरम्भ कर दी थी। वह पूजा जो १४ वर्ष की आयुमें आरम्भ हुई तो ५६ वर्षकी आयु तक (अर्थात् मृत्युपर्यन्त) बराबर चलती रही। मुंहफट यह भी अपने पिताकी तरह ही थे। कपुर्थलामें थानेदारीसे, वज़ीर दानिश्मन्दके साथ कड़ी बातचीत होने पर, त्यागपत्र दे दिया। फिर सियालकोटमें "ठग्गीडकैती" महकमेके "खजाञ्ची" का चार्ज लिया। वहां भी अंग्रेज हाकिमको खुली सुनाकर नौकरी छोड़ आये। फिर अमृतसरकी तहसीलमें मुहासिब बने। शोभाराम लंगड़ा तहसीलदार था। उसपर घूस लेनेका मुकद्दमा चला। जहां सारी तहसील मौकूफ हो गई वहां मेरे पिताके विरुद्ध एक भी गवाह न खड़ा हुआ। परन्तु वह उदास हो, फिर त्यागपत्र देकर घर चले आये, और कुछ दिन वहां ही पूजापाठमें लगे रहे। फिर लाहौरमें जाकर चौकीदारोंके बक्शी नियत हुए।

लाहौर जानेसे पहले मेरे पिता, विना एक पैसा दादाजीसे लिये, सारे परिवारसे अलग हो गये; केवल एक दालान कोठरी लेकर माताजीको, बच्चों समेत, उसमें रख दिया। बड़ी बहिनके विवाहकी तय्यारी थी और उसके लिये पर्याप्त धनकी आवश्यकता थी। लाहौरमें वेतन इतना न था कि परिवारका गुज़ारा करते हुए अपनी पुत्रीके विवाहपर करतूतसे न गिर जायें। इधर विवाहमें नाक कटनेका डर और उधर सम्वत् १६१४ विक्रमीय का विप्लव, जिसे गोरोंने ग़दरकी उपाधि दे रक्खी थी—पिताजीने एक काने टट्टू पर ज़ीन डालकर, परमेश्वरका नाम ले, दिल्लीका रास्ता पकड़ा। भाग्यकी सहायतासे हिसार नगरकी शहरपनाहके अन्दर उस दिन प्रवेश किया जब बाग़ियोंने गढ़ हिसारको घेर रक्खा था। एक सिक्खसर्दार भी दो सौ सवारोंका दस्ता लेकर उस सरकारकी जड़ें भारतवर्षमें दृढ़ करने जा रहे थे जिसने कुछ वर्ष पहले ही पंजाबको दास बना लिया था। सरदार साहबने घोड़ोंको शहरपनाहके अन्दर तीन चक्कर दिला कर जो हमला किया तो बाग़ियोंके छक्के छूट गये और मेरे पिताजीने एक चौधरीके घर ब्रह्मभोजका सामान बनता देख, उसे इस बातपर राज़ी कर लिया कि पूरी, कचौरी, हलवा, भाजी बना बनाया पक्वान नये जङ्गी देके को

भट कर दे। सरदार साहब तो रणमें विजय प्राप्त करके लूटमाररूपी इनाम लेनेके लिये दिल्ली चल दिये और पिताजी हिसारके बागी कोतवालकी 'जाल किरिच' सम्भालकर बागियोंका फांसी दिलानेके शुभ कामपर तानात हुए। यहां रिश्वतकी कमाई से न केवल पुत्रीके विवाहके लिये पर्याप्त धन ही घर भेज दिया प्रत्युत घोड़े खरीद और अपने परिवारके २१ व्यक्तियोंको रिसालेके छोटे अफ़सर बना, और ७५ जाटोंको घुड़सवारीके लिए साथ लेकर, मेरठ पहुंच गये। वहां रिसालादार नियत होकर पहिला शुभ काम यह किया कि तीन महीनोंमें सहारनपुरके सारे ज़िलेके हथियार ले लिये और उस ज़िलेके गलेमें सदाके लिये गुलामीका तौक़ पहिरा कर नैपालकी तराईमें मेलाघाटकी लड़ाईका जा छापा मारा। वहां भी पूजा पाठ न छूटा। नदीके पास ही कैम्प था। उस पर बागियोंकी बाढ़ दूसरे किनारेसे फेंकी जाती थी। परन्तु रिसालादार साहबके लिये एक घड़ा पानीका गजरदमही आ जाता था और वह नहा कर पूजा कर लेते। फिर कुछ खाकर दिनभरके लिये कमर कस कर लहैस हो जाते।

मेला घाटपर विजय प्राप्त कर बेड़ा बांसबरेली में आ पड़ा। वहां मिलिटरी पुलिसके सब रिसाले तोड़ दिये गये और मेरे पिताजीको अपने भाइयों और सम्बंधियों सहित, सिविल पुलिसमें नौकरी मिल गई। मेरे पिताको कहा गया कि या तो १२०० विघे भूमि इनाममें ले लें अथवा पुलिस इन्स्पेक्टर का पद स्वीकार करें। अपने देशकी पुरानी लोकोक्ति है कि खेती उत्तम, व्यापार मध्यम और चाकरी सबसे निकृष्ट काम है। परन्तु जिस समय पिताजीके सामने दोनों इनाम रक्खे गये उस समय नौकरीसे बढ कर अन्य कोई भी प्रतिष्ठित काम नहीं समझा जाता था और फिर क्षत्रीके लिये तो चाकरी हकूमत की कलंगी समझी गई थी खेती तो रज़ील पेशा समझा जाता था; फिर पिताजी ज़मीन कैसे क़बूल करते। इन्स्पेक्टर साहब बन गये और पुलिस लाइन्स (Police Lines) का चार्ज ले लिया।

बालकपन गया खेल कूदमें

मेरी आयु तीन बरसकी हो चुकी थी जब मेरी माता मुझे और मेरे दो बड़े भाइयोंको साथ लेकर बरेली पहुँचीं। बरेलीमें तीन वर्ष खेल कूदमें ही व्यतीत हुवे। मेरे दोनों बड़े भाई तो मौलवी साहबसे पढ़ने लगे किन्तु मैं खुले मैदान घूमता और सारी पुलिस लाइन्ससे लाड़ लड़ाया जाता रहा। पिताजीने मुल्लाजीसे ही सब कुछ पाया था, अंग्रेज़ी शिक्षाका अभी नमूदही होने लगा होगा और बरेलीका संस्कृतके साथ कुछ सम्बन्ध ही न था। मुसलमानोंकी वहां पूरी बादशाहत थी। मेरे भाई घोखते घोखते थक जाते और मौलवी साहबके सामने फिर भी सबक़ (पाठ) पूरा न सुना सकते, मैं वही फ़ट्ट फ़ट्ट सुना देता। पिताजीने मुझे यह बतलाया था कि मैं उस आयुमें भी पर्यायवाची शब्द जोड़कर अन्वय अपना

बना लिया करता था। हम तीनों भाइयोंके मनों और शरीरोंकी रक्षा करने वाला कोई न था। मैं तो सचमुच खुदरौ वृक्षकी तरह स्वयम् ही बढ़ता रहा। हां, एक दृश्य मुझे स्मरण है जो माताके अगाध प्रेमको ही प्रकाशित नहीं करता प्रत्युत मातृशक्तिके स्वाभाविक विकासको भी प्रकट करता है।

सायंकालका समय था। मेरे छोटे मामूं, जो पुलिसमें ही सवार थे, होलीका मेला देख शहरसे लौटे आ रहे थे। घोड़ी अटखेलियां करती चली आ रही थी। मेरी दृष्टि उनपर पड़ी तो विचित्र दशा देखी। पगड़ी गलेमें लटक रही थी, शरीर एक ओर झुक रहा था। गिरने हीको थे कि एक भृत्यने उन्हें उतार लिया, दो आदमी आश्रय देते हुये पिताजीकी कोठीके अङ्गनमें ले आये और चारपाईपर लेटा दिया। अन्य पुरुषोंके बाहर जाते ही माताजी कमरेसे निकलीं। भाईको विचित्र दशामें बेहोश देखा, चिकनजालीकी कुड़ती और तनजेबका कुड़ता पारा पारा है, पगड़ी धूलमें लिपटी हुई है। मट्टी और होलीके लाल रङ्गके मेलने विचित्र दृश्य बना रक्खा है। प्रातः जो मुख कमलकी तरह खिला हुआ था, वह अब कुम्हलाही नहीं गया डरावना भी प्रतीत होता है। हाथ पैर चारपाईपर पटके जा रहे हैं। पानकी राल मुंहसे निकल कर दाढ़ी पर बह रही है, और सारे शरीरसे दुर्गन्ध फूट फूट कर निकल रही है। माताजीने बाहर आते ही शराबीके शिर-पर पानी डलवाना आरम्भ किया। मैं भी चारपाईके पास खड़ा था। मुझपर दृष्टि पड़ते ही माताजीके मुखका भाव बदल गया। मुझे झट गोदमें उठा लिया और घबरा कर नौकरसे कहा—"इसे क्यों यहां आने दिया?" भृत्य अभी उत्तर देनेको ही था कि मुझे बङ्गलेके कमरेमें ले गईं और प्रयत्न करती रहीं कि मैं उस दृश्य को भूल जाऊं। मैंने कुछ प्रश्न भी किया था जो स्मरण नहीं रहा, परन्तु माताजीने मेरा ध्यान दूसरी ओर खींचकर खेलमें लगा दिया।

माताजी सर्वथा अनपढ़ थीं, शिशुपालन तथा आचार-शास्त्रकी शिक्षा उन्हें पुस्तकोंसे नहीं प्राप्त हुई थी। परन्तु मातृशक्तिके अन्दर जो स्वाभाविक अगाध प्रेम परमात्माने उत्पन्न किया है उसने उन्हें अपनी सन्तानकी रक्षाका ज्ञान दे रक्खा था। आज उस समयका स्मरण करके मनही मनमें पश्चात्ताप करता हूं कि माताकी विद्युत्‌रूपी स्वाभाविक शिक्षाको, दो अक्षर पढ़लेनेके अभिमानमें फंस कर, मैंने अपने आगेके जीवनमें क्यों उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा।

बरेलीसे एक दर्जा उन्नति पाकर मेरे पिता बदायूं बदल गये। वहां भी मुझे तीन वर्ष रहना पड़ा। स्वच्छन्द घूमनेकी यहां भी स्वतंत्रता थी। मुझे याद है कि पिताजीके साथ अकेलाही होनेके कारण जब दिन को वह कचहरीमें कोर्ट इंस्पेक्टरीके कामपर चले जाते तो मैं भी कचहरीकी ही गश्त लगाता था। फौजी सलाम मैंने बरेलीमें ही सीखी थी। सब रिश्तेदार तथा मुहर्रिर उसी सलामकी फ़रमाइश करते और पुरस्कारमें मुझे कागज़ और क़लम देते। क़लम मुझे बनी बनाई मिलती थी और मसीपात्र (दावात) घरसे लेकर कागज़ पर लिखते

रहना मेरी आदत हो गई थी। एक दिन पिताजीने मुझे संजीदगीसे एक पुस्तकका जिल्दपर कागज़ रख कर लिखते देख मेरा कागज़का सारा कोष छान मारा उन्हें आश्चर्य हुआ जब उन्होंने फ़ारसी हरूफ़ बने हुए पाये। "अरे! यह कहांसे सीखा?" जब पासही "करीमा" और "खालिक बारी" के पन्ने पन्ने अलग देखे तो मालूम हुआ कि मक्खीकी मक्खी मारते हुए मैं डारविनके सिद्धान्त (Darwinian theory) का क्रियात्मक प्रमाण दे रहा हूं, और मनुष्यकी नकल करने वाले बन्दर की औलाद सिद्ध कर रहा हूं।

बदायूंमें कोर्ट-पुलिस-इंस्पेक्टर को बहुत काम करना पड़ता था। यह लोकोक्ति उस समय प्रसिद्ध थी—"पाव बदौआं लीजे साथ, तब करिये झगड़ेकी आस।" बदायूंके ज़ात शरीफ़ दूर दूरके मुकद्दमें लड़ाते थे, फिर अपने ज़िलेमें तो उन्होंने ऊधम मचा रक्खा होगा। बृटिश राज्यके पहले रुहेलखण्डनिवासी रुहिल्ले युद्धमें निपुण थे और उनका असर कायस्थ और बनियों तक पर पड़ चुका था। सरकार अंग्रेजीने उनका ध्यान मुक़द्दमेंबाज़ीकी ओर खींच दिया। तब हाकिम उनसे निश्चिन्त हो गये। लाहौर ज़िलेकी प्रथम बन्दोबस्तकी रिपोर्टमें भी मैंने यही लिखा देखा था। मोहतमिम बन्दोबस्तने परमेश्वरका धन्यवाद किया था कि लड़ाकी सिक्ख जाटोंकी कौम मुकद्दमेंबाजीमें मग्न हो रही है, इस लिये उनसे कोई भय नहीं रहा।

बदायूंसे शायद सम्वत् १६२२ के अन्तमें मेरे पिताकी तब्दीली, एक दर्जा उन्नतिके साथ, काशी (बनारस) के ज़िलेमें हो गई।

काशीमें प्रथम एक वर्षका निरङ्कुश जीवन।

काशीमें पहुँचकर पहला अनुभव छूत छातके भूतका हुआ। मेरे पिताजी Visiting Police Inspector थे। उनका काम काशी नगरसे बाहरके थानोंका निरीक्षण और उधरके ही बड़े फ़ौजदारी मुक़द्दमोंकी तहक़ीक़ात करना था। कर्त्तव्यपालनके लिये उन्हें प्रायः शहरसे बाहर रहना पड़ता था। मकान बड़ा था इसलिए माताजीने एक पंजाबी परिवारको उसमें बिना किराएके बसा लिया। उस परिवारकी गृह-पत्नीका नाम निहालदेवी था। उसने काशीसे छूत छातकी नई शिक्षा ली थी। मेरा और मेरे बड़े भाईका उसने नाकमें दम कर दिया। पूस माघ का जाड़ा और हमें हुकुम था कि सर्वथा नग्न होकर शौच जायं, और फिर नहाकर धोती पहिरें। यदि पैर मोरीपर पड़ गया तो फट नहानेकी आज्ञा, यदि चलते फिरते कहीं छींटा पड़ गया तो कपड़े धो डालनेका नादिरशाही हुकुम। एक दिन सायंकाल खेलते कूदते मेरा पैर एक भट्ठीके चिरागकी ठीकरीसे छू गया। निहालदेवीने शोर मचा दिया "छूगया, छूगया! नहलाओ, नहलाओ!" माताजी कोई बड़ी आपत्ति समझकर दौड़ी आईं। पूछने पर निहालदेवीने कहा कि "चिराग़ कउआ लेकर उड़ा होगा। उससे छूटकर

गिरने परही तो ठीकरी ठीकरी अलग होगई। इसलिए नहाना आवश्यक।" गरम पानी करके मुझे नहला तो दिया परन्तु माताजीने दूसरे दिनही निहालदेवीको दूसरे घरमें चले जानेके लिए बाधित किया।

वह बड़ा मकान छोड़ माताजी लाहौरीटोलेके एक मकानमें जा रहीं। यह मकान बड़ा हवादार, चारों ओरसे खुला था। काशीमें शेष २½ बरस उसी मकानमें व्यतीत हुए। मैं अभी तक नियमपूर्वक पढ़ाईमें नहीं लगा था। सुना सुनाया कंठ करनेसे ही काम था। एक दिन पिताजी एक मामलेकी रिपोर्ट लिख रहे थे। मैंने शोर मचाया। पिताजीने झिड़क दिया। मुझे बहुत बुरा लगा। सीढ़ीमें चढ़ने वालोंके सहारेके लिए रस्सी लग रही थी। मैंने गलेमें रस्सी डालकर धमकी दी कि फांसी ले लूंगा। पिताजीने एक थप्पड़ लगाया और रस्सीसे छुड़ा कर घसीट लाये। यह पहला ही अवसर था कि मुझ लाड़लेको किसीने मारा हो। रोते रोते मेरी घिग्घी बंध गई। माताजीने बाहरसे आकर गोदमें ले लिया। जो सुख उस समय मिला उसका वर्णन कोई कविही कर सकता है।

'गुरु बिन ज्ञान न पाये भोला चेला'

पठन-पाठनका आरम्भ।

अब तक जो कुछ भी सीखा निगुरा रहकर ही सीखा था। उस बैरागी की तरह जिसने "सारी गीती रगड़ मारी और गुरु एक न बनाया" मैंने भी जहां पंजाबी स्त्रियोंके मुखसे "काशीमहातम" सुनकर उसे कंठ कर लियो था, वहां पिताजीके नित्य पाठके स्तोत्रोंके कुछ भाग भी कण्ठ कर छोड़े थे। परन्तु सम्वत् १९२३ के आरम्भ में मुझे यज्ञोपवीत पहिरानेका विचार चला। उसमें एक कठिनाई बाधिक प्रतीत हुई। गुरुकुलोंकी प्रथा तो हजारों वर्षोंसे बन्द हो चुकी थी यज्ञोपवीत संस्कारका एक नाटक ही रह गया था। फिर भी जब यज्ञोपीवत पहिराया जाता था, और वेदारम्भ की विधि भी हो चुकती तो ब्रह्मचारी कोपीन, दण्ड धारण करके भिक्षा ले काशी पढ़नेके लिये जानेकी तय्यारी करता। उस समय बहिनकी आवश्यकता पड़ती। नवीन ब्रह्मचारी जब कहता कि मैं काशी पढ़ने ज़ाऊंगा तो बहिन बांह पकड़ कर कहती-"भाई तुझे यहां ही पढ़ा लेंगे" और भाई इतनेपर लौटता और उसी दिन उसका समावर्तन संस्कार भी हो जाता। परन्तु मेरी सगी बहिन काशीमें एक भी न थी। एक धर्मकी बहिन बनाई गई। काशी में तो मैं रहता ही था तब वहांसे विद्योपार्जनके लिये कहां जाना था। मुझसे कहलाया गया कि काश्मीर पढ़ने जाता हूं। काशी और काश्मीर दोनों ही विद्याके केन्द्र समझे आते थे। बहिन लौटा लाई। पिताजीने इतना हौसला दिखाया कि समावर्तनकी विधि न करवाई और एक पण्डितको पढ़ाने के लिये नियत करके देवनागराक्षरोंका अभ्यास और आर्यभाषाकी पढ़ाई

आरम्भ करा दी। इन्हीं दिनों पिताजीको शिवपूजा करते देखकर हम दोनों भाई एक उजड़े मन्दिरसे शिवलिङ्ग उठा लाये और पिताजीके अनुकरणमें स्नान कराके उसपर पुष्प, वेलपत्र चढाने, और धूप, दीप और नैवेद्य देवार्पण करने लग गये। पण्डित महाशयने हमें किसी नियममें न रक्खा। पिताजी कहीं रातकी गश्तमें एक विद्यार्थीको खूंटीमें चोटा बांधकर पढते देख आये। विद्यार्थीने पूछनेपर वतलाया कि जब उसको ऊंघ आजाती है तो चोटीपर झटका लगते ही जाग कर वह फिर पढ़ने लग जाता है। तब पिताजीने हमें हिन्दी पाठशालामें भरती करा दिया। नैत्तिक पाठ तो मैं पाठशालामें ही समाप्त कर आता और घरमें आकर पिताजीकी तुलसीकृत रामायण ले बैठता। सवा डेढ़ वर्ष तक पढ़ाईका यह क्रम चला और फिर मेरे पिताजी की वदली ज़िला वांदा (प्रांत बुंदेलखण्ड) को हो गई।

काशीसे वांदा को प्रस्थान करनेसे पूर्व दो विशेष घटनाओंका वर्णन करना आवश्यक है जिन्होंने मेरे जीवनके भविष्यपर वड़ा प्रभाव डाला था। इनमें से पहला

देशभक्त डाकू संग्रामसिंह

का दर्शन था। संग्रामसिंह बनारस जिलेके एक ग्रामका साधारण कृषिकार था और साधारण जीवन व्यतीत करता था। उसकी अनुपस्थितिमें पुलिसने उसके घरकी तलाशी ली और उसकी धर्मपत्नीका सतीत्व नष्ट करनेकी चेष्टा की। राजपूतने घर लौटकर सब हाल सुना तो पुलिसके वड़े अफ़सरके पास फ़रयादी गया। वहां उसके साथ भी पिशाचत्वका वर्ताव हुआ। राजपूती खून जोशमें आया, पुरानी छिपाई हुई तलवार निकाल पहले निरपराधिनी अर्द्धाङ्गिनीको सदाके लिये वदनामीसे बचाकर संग्रामसिंहने जङ्गलकी राह ली। तलवारका स्वयं धनी था, उसके साथ दूसरा राजपूत हाथीसिंह मिल गया जिसका बन्दूकी निशाना कभी खाली नहीं जाता था। जनरल संग्रामसिंह और कप्तान हाथीसिंहके साथ वीस पचीस सिपाही और हो लिये और संग्रामसिंह एक छोटीसी सेनाका सेनापति हो गया।

संग्रामसिंहके विषयमें उसी प्रकारकी लोकोक्तियां प्रसिद्ध हो गईं जो देशभक्त डाकुओंके विषयमें अंग्रेजी इतिहास तथा उपन्यासकी पुस्तकोंमें मैंने दूसरी बार काशीमें आकर पढ़ी थीं। अमीरोंको लूटने और निर्धनोंको आर्थिक सहायता देनेकी कई कहानियां प्रसिद्ध थीं। वेश्याओंको नाच दिखानेकी आज्ञा हुई तो वहलीपर साज सामान लादकर वह चल दीं और जङ्गलमें मङ्गल हो गया। बनारस, जौनपुर और आजमगढ़के जिलोंमें संग्रामसिंहने ऊधम मचा दिया। तब तो अंग्रेज पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट (Police Superintendent) ने १५० हथियारबन्द सेना लेकर उस स्थान के गिर्द बड़ा घेरा डाल दिया जहां

संग्रामसिंहकी स्थिति सुनी थी और स्वयम् दो अर्दली साथ लिये, घोड़ेपर धीमी चालसे जाने लगे। अकस्मात् दो आदमियोंने दोनों अर्दलियोंको दबा लिया और तीसरेने साहब बहादुरको घोड़ेसे नीचे फेंककर पिस्तौल दिखाई। साहबने डरके मारे सोनेकी घड़ी, जञ्जीर, नोट, रुपये सब कुछ डाकूकी भेंट कर दिये। तब डाकूने ज़ीनके कबूलोंमें धरे पिस्तौलके जोड़ेको सम्भालकर सलाम किया और कहा—"संग्रामसिंहको पकड़ने ऐसी असावधानीसे न आया करो।" स्वतंत्र होकर सुपरिन्टेन्डेन्ट साहबने जो घोड़ेको एड़ी दी तो अपने बङ्गलेपर पहुंचकर ही दम लिया।

अब शहर बनारसपर डाकुओंके आक्रमण होने लगे। शहर कोतवाल एक राजपूत, आलमसिंह नामी, था। उसने डींगमारी कि एक मासके अन्दर ही संग्रामसिंहको पकड़कर साहब मजिस्ट्रेटके हवाले कर देगा। संग्रामसिंहको पता लग ही जाता था। चार पांच दिन पीछे कोतवालीके बोर्डपर संग्रामसिंहका इश्तिहार लग गया। आलमसिंहको सम्बोधन करके लिखा था—"अब हमारे धावे काशी नगरपर ही हो रहे हैं। चन्द्रग्रहणका स्नान करने भी आऊंगा यदि क्षत्रीके वीर्यसे है तो सामने होना।"

कुछ दिन पीछे चन्द्रग्रहणका नहान था। अपनी माताको गङ्गा नहलाने के लिये संग्रामसिंहने दो साथियों समेत मणिकर्णिकाघाटका रास्ता लिया। माताको नहला और दोनों साथियोंकी रक्षामें चलता करके आप उस स्थानकी ओर बढ़ा जहां आलमसिंह कोतवाल, पुलिसरिज़र्व समेत,प्रबन्धके लिये बैठा था आलमसिंहके लगाये पहरे व्यर्थ गये क्योंकि एक देहाती कम्बल ओढे आलम-सिंहकी ओर बढ़ा और चेहरा कम्बलसे बाहर निकाल—बोला—"देख! संग्राम-सिंह स्नान करके जा रहा है।" आलमसिंह चौंक उठा और कुछ बोलनेको ही था कि संग्रामसिंहकी छुरी बिजुलीसी चमक गई। आलमसिंह घबराकर पीछे हटा और संग्रामसिंह भीड़में अन्तर्धान हो गया—"दौड़ियो, पकड़ियो! वह गया वह गया!" अब शोर मचानेसे क्या होता था! बाज़ तो उड़ गया।

अन्तको, जब पुलिसके आने जानेसे साधारण मार्ग भी बन्द होने लगे तो तीन जिलोंमें नई पुलिस भरती करके हज़ारों पुराने जवानों द्वारा सब रास्ते घेर लिये गये। मेरे पिता भी एक स्थानपर, बहुतसी पुलिस समेत, नाका बन्दी किये बैठे थे। पांच दिन नदीके पानीमें घूमनेके पीछे संग्रामसिंह पांच छ साथियों समेत कुछ भोजन लेनेको निकला। उसका एक आदमी पिताजीके हाथ लगा; उससे पता पाकर पुलिस गिरिफ्तारीको बढ़ी। संग्रामसिंह आदि एक चमारकी झोपड़ीमें घुस गये। झोपड़ीको आग लगा दी गई। बहादुर राजपूत बाहर निकला। पानीकी नमीसे बारूद कामका न रहा। बन्दूक रंजक चाट गई। तलवार खींची तो मियानसे बाहर न निकली। इधर पुलिसने गोलियोंकी बाढ़ झोंकनी शुरू कर दीं। पांचो साथी गिर गये। संग्रामसिंहने बन्दूक उलटी पकड़

कर उससे लाठीका काम लिया। तीन चार सिपाही, आनकी आनमें बिछा दिये और पिताजीके घोड़ेकी गर्दनपर ऐसी चोट लगाई कि जानवर बहुत पीछे हट गया, पिताजीने पहले अकेलेपर गोली चलानी बन्द करादी थी; अब अपने क्षत्रित्वके भावको भूलकर फिर बाढ़ फुंकवा दी। संग्रामसिंह २४ वा २५ गोलियां खाकर गिर गया और उसे बांध कर बनारसके अस्पतालमें ले आये। प्रसिद्ध है कि जब अङ्ग्रेज सिविल सर्जन (बड़े डाक्टर) ने उसके २५ घाव देखे और कहा कि अन्तको तू पकड़ा गया तो वीर क्षत्रीने उत्तर दिया—"इस प्रकार पकड़ना बहादुरी नहीं, मेरे हाथमें एक तलवार दे दे और मेरे सन्मुख २० आदमी खड़े करा दे। फिर देखूं मुझे कौन पकड़ता है।" साहब बहादुर उसकी कड़कसे आश्चर्यचकित होगये। फांसी तो मिलनी ही थी, परन्तु उसे यमपुर पहुंचाकर भी हिन्दोस्तानी पुलिस अफ़सरोंको शोकही हुआ। एक तो चारपाई पर लेटे हुये संग्रामसिंहके दर्शन मुझे स्मरण हैं, जिसे दूसरी बार काशी पहुंचकर मैं याद किया करता था और दूसरी घटना

एक नास्तिक जादूगर

से मेरी रक्षा थी। काशी में प्रसिद्ध हुआ कि एक वेद शास्त्र का ज्ञाता बड़ा नास्तिक आया है जिसके दोनों ओर दिनमें मशालें जलती हैं। जो भी पण्डित उससे शास्त्रार्थ करने जाता है उसके तेजसे दबजाता है। मुझे भली प्रकार याद है कि माताजी उन दिनों हमें बाहर नहीं जाने देती थीं—इस भयसे कि कहीं हम दोनों भाई जादूगरके फन्देमें न फंस जायं। पिताजीने पीछे बतलाया था कि वह प्रसिद्ध अवधूत दयानन्दकी थी। माताजीको क्या मालूम था कि उनके देहान्तके पीछे उनका प्यारा बच्चा उसी जादूगरके उपदेशसे प्रभावित होकर उसका अनुयायी बन जायगा!

बांदा में तीन वर्ष और

रामभक्तिका मधुर रस।

बांदामें पहुंचकर हमारी शिक्षाका माध्यम बदल गया। बड़े भाईने मियांजीसे फारसी हरूफ सीखे हुये थे। मैं 'अबजद' से निरा कोराही था, केवल हिन्दी लिखना पढ़ना जानता था। बांदाके स्कूलमें हिन्दीकी प्रतिष्ठा न थी। उर्दू बेगमका ही राज था। उस समय केवल ६ श्रेणियोंमें मिडिल शिक्षा विभक्त थी। भाई तो दूसरी कक्षामें प्रविष्ट हुये और मैं पहिलीके ही विभागके योग्य समझा गया। एक तो लिपि-भेद और दूसरे बांदाकी झोपड़ियां काशीके प्रासादोंकी याद दिलाती थीं। परन्तु तीन महीनोंके पीछेही मिडिलकी ८ कक्षायें बन गईं। तब मेरे भाई तो द्वितीयमें ही रहे और मैं तीसरीके योग्य समझा गया।

पाठशालासे बाहर मैं तुलसीकृत रामायणके अतिरिक्त देशभाषा पद्यमें महाभारतका अनुवाद भी पढ़ा करता और छुट्टीके दिन युद्धके पर्व प्रायः समाप्त कर देता था। 'रामचरितमानस' से बुद्धू भक्त द्वारा अधिक प्रेम उत्पन्न हुआ। मेरे पिता अबतक शिवपूजा ही करते थे परन्तु बांदामें उनका सत्सङ्ग एक ऐसे रामभक्तसे हुआ जिसने उनकी कायाही पलट दी। मैं बीमार हुआ, लोगोंने वैद्य बुद्धू भक्तकी प्रशंसा की। भक्तजी बुलाये गये। मैं रोगसे मुक्त हुआ और भक्तजी हमारे परिवारके प्रामाणिक वैद्य बन गये।

बुद्धू भक्त जातके बनिये थे। उनकी कहानी विचित्र है। पहले वह बड़े चालबाज़ और जालसाज़ोंके पुश्तपनाह थे। बीसियों मुकद्दमे लड़ाये और सैंकड़ों झूठे गवाह बनाये। अन्तको एक बार रामायणके उत्तरकाण्डकी कथा सुनकर हृदयमें अनुतापका भाव उत्पन्न हुआ। गोस्वामी तुलसीदासजीके हृदयवेधक शब्द काट कर गये और 'बुद्धू सेसर' बुद्धू भक्त बन गया। कौड़ी बेचनेकी दुकान खोलकर आजीविका कर ली, चिकित्सा बिना पुरस्कार लिये आरम्भ कर दी और नित्य रातको रामायणकी कथाका प्रारम्भ कर दिया।

भक्तजीकी भव्य मूर्त्ति अबतक आंखोंके सामने फिर रही है। कुछ लम्बा दुबला बदन, चमड़ेपर आबनूसकासा स्याह रोग़न और पगड़ी श्वेत। क्या यह मूर्त्ति आकर्षण करनेवाली है? परन्तु आंखोंका तेज और लबोंपर निरन्तर मुस्किराहट जलेसे जले दिलको भी शान्त कर देते थे। नित्य रात्रिको भक्तजी उच्चासनपर बैठकर रामायण खोल लेते। सङ्गतमें झांझ, मृदंगादि लेकर चमार और द्विज एक ही आसनपर बैठते। चाहे क्षत्री पुलिस इंस्पेक्टर हो चाहे ब्राह्मण डिपुटी कलेक्टर—सबको एक ही चटाईपर बैठना पड़ता था। पहिले मंगलाचरणका एक भजन होता, फिर, दोहा सहित, एक चौपाई गायी जाती और अन्तमें भक्तजी एक एक चौपाईको स्वरसहित कहकर उसके अर्थ करते और अन्य रामायणोंके प्रमाणोंसे उसका समर्थन करते। वीर रसके प्रसंगमें जहां श्रोताओंके हृदय बल्लियों उछले पड़ते वहां करुण रसके आते ही अश्रुधारा बहने लगतीं।

बुद्धू भक्तके सत्सङ्गका पिताजीपर तो यह प्रभाव पड़ा कि दिन भर पुलिस आफिसरका कर्त्तव्य पालन करते हुये अपराधियोंको गिरफ्तार करते और पुलिस डायरी तय्यार करनेके पीछे रातको अपराधी और फ़रियादी, थानेदार और जमादार, सिपाही और ख़लासी सबको एक आसनपर बैठाकर रामायणकी कथा सुनाते थे; और कभी कभी यह कथा मुक़द्दमा साफ़ करनेका साधन भी बन जाती। मुझपर इस सत्सङ्गका प्रभाव अब तक वैसा ही है। अब बांदामें प्रत्येक आदित्यवारको हनुमानचालिसाका एक टाङ्गके भार खड़े होकर सौ बार पाठ करनेके पीछे नमक-शून्य भोजन करता था, वहां सनीचरको स्कूलसे लौट कर जो बालकाण्डका आरम्भ करता तो आदित्यवारकी रात तक लंकाकाण्डकी समाप्ति कर देता।

बांदा का एक सबडिविजन 'करवी' था। उसीके इलाक़ेमें चित्रकूटका पर्वत है जिसका रामजीवनके साथ चौदह बरसके वनवासमें बड़ा सम्बन्ध रहा है। करवीमें पुलिस का एक अंग्रेज असिस्टेन्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट इन्चार्ज रहता था। वह ६ महीने की छुट्टीपर गया। पिताजी उसके स्थानापन्न होकर गये। इस प्रकार मुझे चित्रकूटके सारे दृश्य देखने और करवीके पुराने मरहठा राजाके महलोंमें निवासका सौभाग्य तो प्राप्त हुआ परन्तु पढ़ाईमें फिर विघ्न पड़ गया। छ महीनेमें एक श्रेणी पछड़ जाना पड़ा।

बांदा ज़िलामें पिताजी तीन बरस तक रहे। इस अन्तरमें दो बार वह करवी भेजे गये और दोनों बार जहां मेरा साधारण अनुभव बढ़ा वहां कितनी बार पढ़ाईमें विघ्न पड़ते रहे।

मिर्ज़ापुरमें ५मास और विंदवासिनीके दर्शन।

बांदासे बदल कर मेरे पिता फाल्गुन सम्वत् १९२८वि० में मिर्ज़ापुर पहुँचे। बांदासे मैं अकेला पिताजीके साथ शिक्रमकी सवारीसे फ़तेहपुर (हसवा) की ओर चल पड़ा; फ़तेहपुर पहुँचकर ही रेलगाडीपर चढ़ना था। मार्गमें ही रात हो आई। फ़तहपुर दस मील रह गया था जब घोड़ेने चलनेसे जवाब दे दिया। कोचवान और साईस घोड़े बदलाने ग्राममें चले गये। पिताजी सड़कपर टहलने लगे और मैं शिक्रमके अन्दर ही पड़ा रहा। अकस्मात् पासके खेतसे कुछ लठबन्द निकले पिताजीके हाथमें पिस्तौल थी। फ़ायर कर दिया और मुझे पुकारा कि दोनाली बंदूक उन्हें दे दूं। मैं उठा तो डरता हुआ परन्तु पिताजीको बारूद और छर्रा देते और उनकी बंदूक़ की बाढ़का शब्द सुनते सुनते डर दूर भाग गया। डाकू भाग गये और घोड़े आते ही शिक्रम चल पड़ी। यहांसे ही बंदूक चलानेका शौक हुआ। मिर्ज़ापुरमें पहुंचते ही चैत्रके नवरात्रमें विंदवासिनी देवीका मेला था। पिताजीका खेमा विन्ध्याचलपर जा लगा और मैं उनके साथही मेलेका आनन्द लूटता रहा। पढ़ाईमें यह भी विघ्न था, पर अनुभव वहां भी बढ़ा। उसी स्थानमें पिताजीके अर्दली सार्जन्ट जोखू मिसिरकी लीला देखी। देवीपर जो बकरे चढ़ते उनमेंसे सात की सिरिएं मिसिरजीकी पेटपूजाके लिये भेंटमें आतीं। सात बकरोंके सिर मुफ्त, कण्डों (उपलो) की आग मुफ्त, मिट्टीकी हंडिया मुफ्त, नमक व हल्दी भी मुफ्त—हां, पावभर चून (आटा) मोल लेना पड़ता। जोखू मिसिर जितने लम्बे उतने ही चौडे थे, सातों सिरियोंका सफाया करके शेष थाली पावभर चूनकी लिट्टीसे पोंछ और कुल्ला करके पेटकी तूंबड़ी-पर हाथ फेर दिया करते थे। एक दिन हंडिया पकते पकते पिताजीका नौकर चिमटेसे चिलममें आग धर लाया। मिसिरजी आग बगूला हो गये और जब कारण पूछा गया तो बोले—"अरे सरकार! हम आपन धरम कबहूं नाहीं छोड़ा, अरे! झूठ बुआला, जुवा खेला, गांजाका दम लगावा, दारू चढ़ावा, रिसवत

लिहा, चोरी दगावाजी किहा—कौन फन फरेब बाटै जौन हम नाहीं किहा, मुल सरकार! आपन धरम नाहीं छाड़ा!" सरकार तो मुस्किराके चल दिये और मेरे पेटमें हंसते हंसते बल पड़ गये।

जोखू मिसिरका मामला तो मनोरञ्जक था, परन्तु थानेकी छतसे जो एक राजाको स्त्री नग्न करके देवी की पूजा करते देखा—उस दृश्यने मुझे ऐसे धनाढ्य पुरुषोंसे बड़ी घृणा दिलाई।

मिर्ज़ापुरमें पहिला महाना तो देवी दर्शनकी भेंट हुआ। फिर गवर्नमेण्ट स्कूलकी तीसरी श्रेणीमें प्रविष्ट हुआ। उर्दू और कुछ फारसी तो पढ़ ही रक्खी थी, मिर्ज़ापुरमें 'अरबी' इखतियारी मज़मून लेकर "फ़ायलातुन" की टांग भी तोड़ डाली। परन्तु अभी 'अरबी' के उच्चारणके लिये गला तैय्यार ही कर रहा था कि श्रावण सम्वत् १९२८ के आरम्भमें मेरे पिताजी अव्वल दर्जेके इन्स्पेक्टर बनाये जा कर और १००) मासिक विशेष वेतन म्युनिसिपलिटीसे इसके अतिरिक्त प्राप्त कर, काशी (बनारस) को बदल गये और वहां जा कर उन्होंने पण्डित रघुनाथ प्रसाद कोतवालके स्थानमें शहरकी कोतवालीका चार्ज ले लिया।

काशीमें दूसरी बार और हकूमतकी बहार

अवध रुहेलखण्ड रेलवेका उन दिनों नमूद भी न था। न राजघाटका पुल ही बंधा था। माताजीको, पवित्र काशीनिवासकी उत्कट इच्छा थी। मिर्ज़ापुरसे मुग़लसरायपर गाड़ी बदली; छोटी लाइनपर दूसरी गाड़ीमें बनारस स्टेशनपर पहुंचे। प्रातःकालका सुहावना समय, थोड़ी थोड़ी फुहार पड़ रही, कोतवाल साहबके लिये सुन्दर बजड़ा (छती हुई नाव) तैय्यार। उसकी ओर चलते हुए गङ्गाके दूसरे किनारे पचमंज़िले सतमंज़िले तक मकानपर मकान चढ़े हुये और सबसे आगे माधोदासके धरहरेके मीनार—वह काशीका प्रथम दृश्य कौन भूल सकता है!

दूसरे पार जलसाईं घाटपर बजड़ाने लंगर डाला और हम सब उतर कर मणिकर्णिका घाटपर स्नानके लिये चले गये। सामान डेरेपर पहुंचा और ब्रह्मनाल मुहल्लाके पास रियासत कपुर्थलाकी धर्मशालामें आसन जमा। कुछ काल पीछे ब्रह्मनालमें ही एक खुला चौमंज़िला मकान किरायेपर ले कर पिताजीने परिवार उसमें रख दिया।

काशीके देव मन्दिरों, बाजारों, घाटियों, गङ्गापुत्रों, गुंडों और चाइयों आदिके विशेष गुण वर्णनकी यहां जरूरत नहीं है क्योंकि आज कोई भी पढा लिखा इन बातोंसे अनभिज्ञ नहीं है। मन्दिरोंकी भरमारका अन्दाजा इसीसे लग सकता है कि काशीमें "जेते कङ्कर ते ते शङ्कर" प्रसिद्ध हैं। जिस कपुर्थला धर्मशालामें हम टिके थे उसमें दो शिवलिङ्ग स्थापित थे। एकका नाम रामजसेश्वर और दूसरेका नाम मथुरेश्वर—दोनों कपुर्थलाके, बाप बेटा; दीवानोंके नामसे प्रसिद्ध थे।

काशीके उस समयके आचार व्यवहारका खुलासा एक लोकोक्तिके अन्दर बन्द कर दिया गया था जिसके भाष्यकी आवश्यकता होगी।

रांड, सांड़, सीढ़ी, संन्यासी,
इनसे बचै सो सेवै कासी।

काशीमें हिन्दू प्रायः अपनी आयुका अन्तिम भाग विताकर मोक्ष प्राप्त करनेकी अभिलाषासे जाते थे, क्योंकि "काश्यां मरणान् मुक्ति" उक्ति प्रसिद्ध थी। राजे गद्दीसे निराश होकर और रईस पुत्रोंको सम्पत्ति सौंपकर इसी स्थानमें पहुंच कर कहा करते थे कि—

चना चबना गङ्गजल जो भेजै कर्तार,
काशीपुरी न छोड़िए विश्वनाथ दर्बार।

परन्तु व्यभिचारी लोग रांडोंको भगाकर भी काशीपुरीमें ही डेरा लगाते थे। एक ओर बङ्गाल और दूसरी ओर पंजाब-पूरब और पच्छिम—जहांसे भी कोई व्यभिचारी पुरुष किसी स्त्रीके सतीत्वको दाग लगाता वह उसे लेकर सीधा काशी पहुंचता और काशी पहुंचतेही उनको ऐसी मुक्ति प्राप्त होती कि वे अपनी बिरादरीमें मिलजुल जाते। इनके अतिरिक्त बिगड़ी हुई विधवाओं और अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियोंसे बहुत भय रहता था। इनसे बचकर ही हरि भजन होना सम्भव था।

दूसरे—सांडोंकी भरमारसे बहुत भय रहता था। जिस पुरीके राजा विश्वनाथका वाहन नन्दीगण, उसमें सांड़ छोड़ना बहुत ही पुण्य समझा जाता है। यात्रियोंको इनके सींगोंसे बहुत कष्ट पहुंचता औ इसलिए आंख बन्द करके चलनेवालोंकी अकाल मृत्युका भी भय रहता था।

तीसरे—सीढ़ियोंका तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। दृष्टिको सचेत करके न चला जाय तो पग पगपर गिरकर चोट खानेका भय। प्रत्येक दस कदमके पीछे दो तीन सीढ़ियां उतरने वा चढ़नेको मौजूद। काशी ठहरी शिवके त्रिशूलपर बसी हुई, नीचे सारा पोल और ऊपर पत्थरका फर्श। आंखको ऊंचाई निचाई दिखाई भी तो नहीं देती। एक बार गिरे तो महीनोंतक गङ्गास्नान और विश्वनाथके दर्शनसे वंचित रहना पड़ता। और

चौथे—सबसे बढ़कर काशीसेवामें बाधक उस समयके संन्यासी थे। विस्तारमें यहां जानेकी आवश्यकता नहीं, परन्तु एक और लोकोक्तिसे उनका सारा आचार समझमें आजायगा—

"जगतगुरु ब्राह्मन, ब्राह्मनगुरु संन्यासी, संन्यासीगुरु चपरासी"।

यदि पाठक कल्पना करलें कि चपरासी किस श्रेणीके मनुष्योंके गुरु हो सकते हैं, तो समझमें आ जायगा कि किस प्रकार संन्यासी स्त्रियों और पुरुषोंके भजनमें भङ्ग डाल सकते थे।

काशी पहुंचकर कुछ महीनोंके लिये मेरा पढ़ना लिखना फिर बन्द हो गया। काशीकी कोतवाली एक नव्वाबी समझी जाती है। तहसीलदार आते और जाते हैं, कमिश्नर और कलेक्टर भी बदलते रहते हैं, अहलकारोंके सिवाय कानों कान भी किसीको खबर नहीं होती कि कौन आया और कौन गया। परन्तु कोतवालका बदलना क्या है, एक विप्लव आ जाता है। अमीरसे गरीबतक और महात्मा साधु ब्राह्मणोंसे लेकर लुच्चे बदमाशोंतक–सब नरनारी कोतवालके बदलनेसे प्रभावित होते हैं। नरम दिल, न्यायकारी कोतवाल आया तो उसकी प्रशंसाके गीत बन जाते हैं और यदि कोई अत्याचारी उस 'मसनद' पर बैठ गया तो स्त्रियां भी गाने लगतीं:—

'कैसे खेलौं रे कजरिया आए नये कुतवाल'।

वर्षाऋतुमें काशी पहुंचना हुआ। कजरीका गाना ज़ोरोंपर था, और हम दोनों भाई नवाबजादे। कोतवालके द्वारपर रईसोंकी बग्घियां, फिटनादि हरपल खड़ी रहतीं, फिर क्या था, नित्य नये मेलोंमें जाना ही एक काम था। कहीं लोलारक छठ, कहीं दुर्गादेवी (जिसे अङ्ग्रेज़ monkey temple कहते हैं) के दर्शन, कहीं गौनहारियोंके नाच—विचित्र समां बंधा रहता था। और फिर श्राद्धोंके दिनों पूरी सुहारी, और अनेक व्यंजनोंके साथ फलोंका स्वादिष्ट भोजन ! पितरपक्ष चल बसा तो रामलीलाकी सैरमें २० दिनोंसे अधिक व्यतीत होगये। काशीमें वैसे तो कई स्थानोंमें रामलीला मनाई जाती थी, परन्तु उनमें दो बड़ी शान्दार होती थीं। एक तो गङ्गापार महाराजा रामनगरके यहां और दूसरी अस्सी घाटकी ओर महाराजा 'विजयानगरम्' की ओरसे। यह महाराजा मद्रास प्रान्तसे आकर काशी निवासके लिये ठहरे हुए थे। हमारे लिये अब चांदी सोनाके हौदेवाला हाथी नित्य आने लगा और इस तरह मैंने भी जन्मपत्रीकी विध मिला कर 'हाथी नशीन' की पदवी प्राप्त की।

दसहरा समाप्त हुआ, भरतमिलाप भी हो चुका, नाटीइमलीके मिलापका दृश्य भी हम देख चुके। तब पिताजीका हमारी शिक्षाकी ओर फिर ध्यान खिंचा फ़ारसी पढ़ानेके लिये एक '*लाला भइया*' (कायस्थ मुंशी) नियत किये गये, जिन्होंने 'दस्तूरुलसीबियां' और एक अन्य पुस्तकका पाठ शुरू कराया। मु० साहब गांजेका ज़बरदस्त दम लगा कर तो हमें पढ़ाने आया करते थे। चिरकालसे आजीविका बन्द थी और मुन्शीजीको फिक्र रहती थी कि कहीं रोज़गारका यह दर्वाजा भी बंद न हो जाय, इसलिए अपने शागिर्दोंको अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे। थोड़ा सा पढ़कर जब हम उकता जायं तो हमें नित्य नई फड़कती हुई कहानी सुना देते। उन कहानियोंको सुनकर 'सबक याद करने' की कब सूझ सकती थी, और जब गुरु पाठ सुनना अपना कर्त्तव्य ही न समझें। मुन्शीजीने तो हमें खुली छुट्टी दे रक्खी थी, परन्तु पिताजीको एक दिन हमारा पढ़ा लिखा पड़तालने का ख्याल आगया। तब मुंशीजीकी करतूतों का उन्हें पता लगा और

हमारे 'उस्ताद' घण्टे भरके नोटिसपर विदा कर दिये गये । मुंशी साहबके पीछे मास्टरजी की बारी आई । बाबू देवकी नन्दन 'करण घण्टा स्कूल' के हेडमास्टर थे । कुछ दिनों घर पर पढ़ाकर उन्होंने हमें अपने निजू स्कूलमें भरती करा दिया। सम्वत् १९२९ का आरम्भ हो चुका था और यतः इस स्कूल में चौथी कक्षा तक ही पढ़ाई होती थी अतएव मैंने नीचेकी ओर उन्नति करके तीसरी के स्थान में चौथी 'जमाअत' में ही नाम लिखा लिया । मेरा नाम इस स्कूलमें भाद्रपद सम्वत् १९२९ वि० के अन्त तक रहा जिसके पीछे मेरे पिताजीकी तबदीली 'बलिया' को होगई । इन नौमहीनों में भी मुश्किलसे १२५ दिन स्कूलमें मेरी उपस्थिति लगी होगी । होलीके दिनोंमें रङ्ग और अबीरकी बहार उड़ाते रहे और पुलिसकी धौंस-से प्रत्येक प्रकारकी रङ्गरलियां मनाईं । बुढ़वामङ्गलके मेलेके दिनोंमें तो किश्ती परही चार दिन रात गुज़ारे और कोतवालके 'बजड़े' की बहार उड़ाते रहे। आवारगीकी कुछ हद न रही । फिर एक मुसलमान वकीलके यहां एक लड़की मर गई । मुख़बिरने कोतवालीमें रपट दी कि लड़की मारडाली गई है । नायब कोतवाल, होरीलालने जा कर लाश (मृतक शरीर) डाक्टरी मुलाहिज़ेके लिये रुकवा दी । वकीलसाहब 'सर सय्यद अहमद' के कालिजके हामी थे। कचहरीमें पता लगतेही सर सय्यद अहमदकी मददसे उन्होंने नायब कोतवालकी तहक़ीकात बन्द करा दी और मेरे पिताजी, नायब कोतवाल और मुख़बिरपर फौजदारी नालिश दायर कर दी । मैं फिर उसी मुकद्दमे के सम्बंध में अङ्ग्रेजी पत्र लिखनेके काममें लग गया । इधर मुक़द्दमा सेशनसुपुर्द हुआ और उधर सारा घर "लाल बुखार" (Dengue fever) का शिकार हुआ । परन्तु बनारसमें 'सर सय्यद अहमद' के प्रभावसे न्यायकी आशा न होनेपर पुलिसके इंस्पेक्टर जनरलने 'हाई कोर्ट' इलाहाबाद को हिलाया और जजोंने मुकद्दमा इलाहाबादके सेशनकोर्टमें बदल दिया । परिणाम यह हुआ कि पिताजी अपने साथियों सहित निर्दोष समझे जाकर छूट गये, उनका सब खर्चा सरकारसे मिला और उनकी बदली, जैसा कि लिख चुका हूं, बलिया को हो गई ।

काशीमें रहते हुए मुझे प्रातःकालके गङ्गास्नान और विश्वनाथादिके दर्शनके साथ व्यायाम का भी अभ्यास पड़ गया । उस समय गङ्गाके सब घाटोंके किनारे अखाड़े खुदे रहते थे । प्रत्येक अखाड़ेका एक उस्ताद था जो कुश्ती लड़वाता था । मैंने दसहरेके दिनोंमें मिले मेलेके खर्चमेंसे कुछ धन बचाकर एक टूटीदार बर्तन खरीदा, जिसे झारी कहते हैं । इसमें देवतापर चढ़ानेके लिये जल भर लिया जाता है । दूसरी एक पीतलकी डलिया ख़रीदी । जिसके ऊपर पक-ड़नेका दस्ता और बीचमें दो कटोरियां जड़ी होती हैं । एक कटोरीमें अक्षत, दूसरीमें चन्दन और थालीमें फूल और बेलपत्र रख लिये जाते हैं । मैं नित्य प्रातः बायें हाथमें डलिया, दहिने हाथमें झारी और बगलमें धोती अंगोछा लेकर चल देता । अखाड़ेमें पहुंच कर सब कुछ अलग रख 'लङ्गर' पहिन लिया और

कुछ डंड बैठक करके उस्तादने एक जोड़से ल:ा दिया। फिर पसीना सुखा, गङ्गामें गोता लगा, लङ्गर (कमाली) को धोकर लौटते हुए अखाड़ेमें रख दिया और झारी डलिया लेकर चल दिये। मार्गके सब शिवलिङ्गोंपर झारीसे एक एक बून्द चुआते हुए विश्वनाथ, सनीचर देवता, महावीर, अन्नपूर्णा और गणेश दुण्ढिराजकी प्रेमपूर्वक चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, धूप, दीपसे पूजा करके घर पहुँचकर जलपान करना—यह नित्य नियम हो गया, जिसमें विना किसी विशेष विपत्तिके विघ्न नहीं पड़ता था।

काशीमें सम्वत् १९२६ का दसहरा हाथियोंपर बैठकर फिर देखा। पढ़ना लिखना सब ताक़पर रख दिया और नव्वाबवेमुल्क बने हुए हकूमतका ख़ालिस मज़ा चखते रहे। अन्तको "जुदाईकी घड़ी सरपर आ खड़ी हुई" और एक बजड़ा किरायेपर करके, सारा असबाब उसपर लाद मैं और भाई आत्माराम, पिताजीके साथ बलियाको चल दिये, और माताजी सबसे बड़े भाईके साथ, शेष परिवारको लेकर, स्वदेशको प्रस्थान कर गईं।

बजड़ा तीसरे पहर तक चलता, और यतः गङ्गाके बहावके साथ साथ जा रहा था, अच्छी मंजिल मार लेता। लगभग ४ बजे, रसोई और रात्रि शयनादिका सुभीता देख कर, लङ्गर डाल दिया जाता। सायंकालका भोजन खाकर सब सो जाते। पाचक दूसरे दिनके लिये पराठे बना छोड़ता जो दिनके १० वा ११ बजे अचार मुरब्बेके साथ बड़े स्वादिष्ट लगते। यह स्मरण नहीं कि कितने दिनोंमें बलिया पहुंचा, परन्तु एक रातकी घटना याद है। उस दिन हमने ऐसे स्थानपर डेरा किया था जहां एक आश्रममें पुरानी राख बहुत थी और कहा जाता था कि वहां किसी ऋषिने तप किया है। सबसे पहले सबसे छोटा मैं भोजन किया करता था और ६ बजे शामके घोड़े बेचकर सोता तो दूसरी प्रातः के छः बजे ही हिलनेका नाम लेता। उस दिन पास ही एक पुराना वट वृक्ष देखा, जिसकी शाखाएँ दब दब कर ५० वृक्ष बन गये थे। छाया इतनी घनी और फैली हुई थी कि १०० घुड़सवार, घोड़ों सहित, लश्कर डाल लें तो पता न लगे। मैं सैर करते करते इस प्राकृतिक छतके नीचे दूर चला गया और ठंढी हवाके झोंकोंने मुझे सुला दिया। मेरे साथी दो घंटोंतक लालटेनों द्वारा टक्करें मारनेके पीछे मुझे वृक्षके तलेसे उठा लाये। मुझे छुटपनसे ही नई इमारतें और सजे हुए प्रासाद प्रभावित नहीं करते थे; मैं ईश्वरकृत दृश्यों और प्राचीन मंदिरों और खँडहरोंकी ओर अधिकतः आकर्षित होता था।

शिक्षाका नियमपूर्वक आरम्भ।

सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।
सुखार्थीवा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥ मनु॥

बलिया इस समय ज़िला है, उस समय गाज़ीपुर ज़िलाका सब डिविजन

था। बलिया पहुंचकर भी शायद पढ़ाई लिखाईका अल्ला ही बेली होता परन्तु वहांके स्कूलके मुख्याध्यापक बाबू मुकर्जी पिताजीके पास पहुँच गये और यद्यपि उनके स्कूलमें चौथीसे ऊपरकी कक्षा न थी फिर भी परीक्षा लेनेके पीछे मुझ अकेलेके लिये तीसरी कक्षा बनाई गई। इङ्गलिश भाषामें मेरी योग्यता बढ़ी हुई थी, इसी लिये जहां कुछ दिनों पीछे एक अंग्रेज कमिश्नरने मेरे शुद्ध उच्चारणसे प्रसन्न हो कर विशेष पारितोषिक दिया था, वहां मार्गशीर्ष सम्वत् १९२१ के मध्यमें राजा शिवप्रसाद (C. S. I.) सी० एस० आई० इन्सपेक्टर आव स्कूल्सने परीक्षा लेकर मुझे द्वितीय कक्षामें उन्नति दी।

यद्यपि पढ़ाई लिखाईमें भी कुछ समय लगने लगा, परन्तु सैर और कुश्ती और गतका लाठी सीखनेमें भी बहुत सा समय जाता था।

बलियामें सिक्ख खत्री विशेष मालदार थे। पटना साहबकी सङ्गतके वे शिष्य थे। उन्हींमेंसे एक श्याम सिंह कुश्ती लड़ाता और दूसरा अजित सिंह गतकेके हाथ बतलाता। अजित सिंह सिरपर दस्तार शाहनामेंके रुस्तमके चित्रके सदृश बांधता और हाथमें एक गुर्ज रखता था। तलवार हाथमें लिये विरोधीके सामने केवल रुमाल लेकर खड़ा होता और तीन पैंतरोंमें तलवार छीन लेता।

बलियाकी सभ्यसृष्टि।

बलियामें सभ्य समाजके सभासद केवल तहसीलदार, मुन्सिफ़, पुलिस आफ़िसर और उनके पढ़े लिखे मातहत समझे जाते थे, शेष प्रजामें लखपती तककी भी कोई गिनती न थी। एक ओर राजपुरुष और दूसरी ओर उनके पांव तले रौंदी हुई प्रजा, तीसरी स्वतंत्र समाजका कुछ अस्तित्व ही न था। पिताजी यतः विषयवासनाओंसे मुक्त थे इसलिए उनसे सब दबते थे। कायस्थ तहसील दार और उनके नायब, मुसलमान मुनसिफ़ और उनके कनौजिया सरिश्तेदार, राजपूत पुलिस दारोगा और सिक्ख हेड मुहर्रिर सबके सब वेश्यागामी और प्रजाको लूटने वाले; परन्तु तुलसीकृत रामायणपर जो मेरी श्रद्धा थी उसने इस पतित समाजसे मुझे घृणा दिला दी।

तुलसीकृत रामायणपर, इन दिनों, एक विशेष घटनाने, मेरी श्रद्धा और भी बढ़ा दी। एक रात पिताजी बलियामें ही अपने नित्य नियमके अनुसार रामायणकी कथा कह रहे थे। मेरी उपस्थितिमें पुलिसवालों तथा कुछ मुहल्लेवालोंके अतिरिक्त एक बड़े मुकद्दमेंकी असामियां भी बैठी हुई थीं। प्रसङ्ग भगवान रामचंद्रकी क्षमाका छिड़ गया और पिताजीने सिद्ध किया कि यदि मनुष्य अपने पापको स्वीकार कर ले तो उससे बढ़ कर कोई प्रायश्चित्त नहीं। भगवान् शरणागतको कभी त्यागते नहीं। अकस्मात् पकड़े हुए अपराधियोंमेंसे एक लम्बा हृष्टाङ्ग पुरुष दोनों हाथ बांध पिताजीके सामने यह कहता हुआ, साष्टाङ्ग लेट गया—

स्रवन सुजस सुन आयों प्रभु भंजन भव भीर,
त्राहि त्राहि आरत हरन, सरन सुखद रघुवीर।

पिताजीने खड़े हो कर उसे भूमिपरसे उठा लिया और कहा—'मुझ, मनुष्यके सिर पाप क्यों चढ़ाते हो" उत्तर मिला—"भगवन्! रामते अधिक राम कर दासा, मैं आपकी शरण में आया हूं। सारी कहानी सुन लो।" उसने फिर चोरी और खून दोनोंको मान लिया और जब उसका "इक़बाल" लिखकर उसके हस्ताक्षर करा लिये गये तो उसके मुखकी कांति वर्णन की सीमाका उल्लंघन कर गई थी। मुझपर उस दृश्यका बड़ा प्रभाव पड़ा, और अपने जीवनमें कई बार उसका स्मरण आया।

बलियामें कुछ पढ़ा लिखा तो, परन्तु नियम पूर्वक शिक्षाका आरम्भ अभी कहा नहीं जा सकता था। जिस प्रकार रूखड़ वैरागी बाबाने अट्ठारह अध्याय गीता रगड़ मारी थी और गुरु एक भी नहीं बनाया था, इसी प्रकार अब तक मैं भी "लैभज" बना रहा। इधर उधरकी बातें और हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी सब रगड़ मारी और गुरु किसी एक विद्यालयको भी धारण नहीं किया था। तीसरी बार काशीमें पहुंच कर सचमुच विद्यार्थी जीवनका, जैसा कि उस समय था, आरम्भ हो गया।

कुइन्ज़ (महाराणी वाले) कालिजमें प्रवेश।

विद्याविहीनः पशुः

पौष सम्वत् १९३० में मेरा प्रवेश कुइन्ज कालिजके स्कूल (पाठशाला) विभागमें हो गया। इन्स्पेक्टरके प्रमाणपत्रको देखते ही मुझे द्वितीयकक्षामें ले लिया गया।

कुइन्ज कालिज (जिसे अब बनारस कालिज कह कर पुकारा जाता है) उस समयके संयुक्त प्रान्तमें बड़ी उच्च कोटिका महाविद्यालय था। अवध उस समय सर्वथा अलग सूबा था, परन्तु उधरसे भी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये विद्यार्थी बनारसमें ही आते थे। क्या महाविद्यालय भवनके सौन्दर्य और गम्भीर प्रभावकी दृष्टिसे और क्या विद्यार्थियोंकी योग्यताकी दृष्टिसे, आगरा, इलाहाबाद (प्रयाग) इत्यादि कालिज इसका मुकाबिला नहीं कर सकते थे। एन्जिनियरने इमारत बनवाते हुए व्ययको अनुमानसे इतना बेढ़ब बढ़ा दिया कि उसके लिए हिसाब किताब समझाना कठिन हो गया और उस बखेड़ेसे बचनेके लिए उसे आत्मघातकी शरण लेनी पड़ी। उसकी क़बर कालिजके बड़े आंगनके सामने बड़ी सुन्दर बनी हुई है। कालिजकी दो मंजिलें डेवढ़ीके अन्दर चलकर बड़ी विस्तृत वाटिका है। कालिज सामने है जिसका एक ही बहुत लम्बा हाल है। उसके दोनों ओर नौ नौ कमरे हैं। मध्य स्थानीय एक ओर-

के कमरेमें उस समयका बड़ा भारी दो मंजला पुस्तकालय और दूसरी ओर-के दाहिने कमरेमें संस्कृत प्रोफेसरके बैठनेका स्थान और दूसरी मंजिलमें अद्भुतालय था। दोनों मध्यवर्त्ती कमरोंकी तीसरी मंजिलपर बुर्ज हैं, जिनमेंसे एकमें सम्वत् १६१४ की राजक्रान्ति (अङ्ग्रेजोंकी भाषामें गदर) में प्रिन्सिपल ग्रिफ़िथ जा छिपे थे। इङ्गलिश विभागके सब प्रोफेसर और स्कूलकी दो बड़ी जमातोंके टीचर तो ११ कमरोंमें बैठते थे और शेष ५ कमरोंमें संस्कृतके अध्यापक बैठते थे। पण्डित बालशास्त्री, वैदिक और लौकिक साहित्यके, पं० ढुण्ढिराज शास्त्री, गणितके और प्रसिद्ध ज्योतिषके धुंरधर पण्डित बापुदेव शास्त्री भी उन्हींके अन्तर्गत थे। हाल खुला था और उसके बीचमें मार्ग छोड़कर दोनों ओर पांचवींसे आठवीं कक्षा तक मिडिल विभागके विद्यार्थी बैठते थे। प्राइमरीकी निचली जमातोंके लिए हेडमास्टर साहबने गवर्नमेण्टसे रहनेके लिए मिली हुई अपनी कोठी किराए पर दे रक्खी थी क्योंकि उन्होंने मुहल्ला दशाश्वमेध घाटपर अपना निजू मकान बनवा लिया था। बड़ी वाटिकाकी समाप्तिपर एक कोनेमें प्रिन्सिपल साहबके रहनेका बंगला और दूसरे कोनेमें एक कुंजमें छिपा संगमरमरका मेज और उसी पत्थरका बेंच था जिस पर कागज और पेन्सिल धरे रहते थे। चारों वेदोंका इङ्गलिश गद्यमें अनुवाद करनेवाले प्रिन्सिपल 'राल्फ टी० एच० ग्रिफ़िथ' कवि थे और जब नए विचार हृदयमें उठते तो इसी संगमरमरके बेंचपर बैठकर हृदयके उद्गार पेंसिल द्वारा प्रगट किया करते। मैंने दो बार उनकी छोड़ी हुई कविताको पढ़कर अपने आपको धन्य समझा था। परन्तु यह तो कालिज विभागमें आनेके पीछे संवत् १६३३ ई० की बात है।

बनारस कालिजके प्रिन्सिपल और प्रोफेसर।

बनारसमें विद्यार्थी बनकर मैं सम्वत् १६३० के पौष माससे लेकर सम्वत् १६३४ के ज्येष्ठ मासके अन्त तक बराबर रहा। इस अन्तरमें केवल सम्वत् १६३२ का पूरा वर्ष रेवड़ी तालाबके स्कूल (जयनारायनज़ कालिज) में गुजारा, शेष ३॥ वर्ष बनारस कालिजकी चार दीवारोंमें ही व्यतीत किये। रेवड़ी तालाबके स्कूलमें एक वर्ष मेहमान बनकर ही काटा, असली विद्यागृह मैं क्वीन्ज़ कालिज-को ही समझता रहा।

एक बात यहां बतला देना आवश्यक है। उन दिनों न संयुक्तप्रान्तमें कोई युनिवर्सिटी (University) थी और ना पंजाबमें ही। दोनों प्रान्तोंके विद्यार्थी एंट्रेन्स (Entrance) से लेकर एम० ए० तक की परीक्षा कलकत्ता युनिवर्सिटीके अधीन देते थे। हां संस्कृत विद्यालय विभाग अपने आपमें अवश्य स्वतन्त्र था।

कालिजके प्रिन्सिपल ग्रिफ़िथ साहब थे जो वाल्मीकीय रामायणका अनुवाद इङ्गलिश पद्यमें करनेके अतिरिक्त चारों वेदोंके भी अनुवादक थे। पांच

फीटसे शायद एक आध इंच ही लम्बे हों, परन्तु थे नख सिखसे दुरुस्त। जैसे वासर्न आप थे वैसाही बौना भृत्य आपको मिला हुआ था। उसने भी साहब बहादुरके अनुकरण में गलमुच्छे रक्खे हुए थे। ग्रिफ़िथ साहब एक टांगसे लंगड़े हो चुके थे। इसका कारण भी विचित्र था। कवि ही तो ठहरे, टमटम इतनी ऊंची बनवाई कि जब एक सड़कसे दूसरी सड़ककी ओर घुमाने लगे तो गला तारमें फंस गया और साहब शेष जीवन भरके लिए लंगड़े हो गए। लंगड़ी टांगकी ओर बूटकी एड़ी (Heel) ज़रा ऊंची रखवाते और ऐसी सावधानीसे चलते कि देखनेवाले को टांगका व्यङ्ग प्रतीत न होता। शौकीन ऐसे थे कि नया कोट वा नई पतलून पहिरते समय यदि तनिक भी बेढब मालूम हुई तो बाहरके बरामदेमें फेंक दी गई। जो भी भृत्य उपस्थित हुआ उसके भाग्य उदय हो गए। बङ्गलेकी सजा वट जगत्-प्रसिद्ध थी। ऐसा कोई ही हतभाग्य विद्यार्थी होगा जिसने गल-मुच्छेवाले बौने भृत्यको अठन्नी वा रुपया देकर, प्रिन्सिपल साहबकी अनुप-स्थितिमें उनकी नरम गद्देवाली कौचों और कुर्सियोंका आनन्द न लूटा हो। कविने विवाह तो किया नहीं था, परन्तु बीचके सड़ककी दूसरी ओर एक कोठी किरायेपर लेकर अपनी सदा सोहागिन प्रियाको रखा हुआ था। नाज़ुक मिजाज इतने कि यदि कोई उनकी ओर आगे बढ़े तो पीछे हटते जाते थे। साधारण पुरुषके मुंहसे निकली अपानवायुको सहन नहीं कर सकते थे। प्रायः बोलते बहुत धीरे थे और इसीलिए मिलनेवालेको आगे बढ़ना पड़ता था; परन्तु जब पढ़ाते तो गरज ऐसी होती कि एक एक शब्द स्पष्ट सुनाई देता। शायद गलेकी सारी शक्तिका संचय उसी समयके लिए कर छोड़ते थे। मेरे अंग्रेजी प्रोफेसरकी बीमारीपर एकबार, संवत् १९३४ में उन्होंने मेरी कक्षाको एक सप्ताह तक इङ्गलिश पद्य पढ़ाया था, जिसे मैं कभी नहीं भूला।

संस्कृत विभागके उपाचार्य पहले गफ़ साहब थे जिनका नाम संस्कृतके आन्दोलनमें कुछ कुछ लिया जाता है। ग्रिफ़िथ साहबके स्थानमें, उनके प्रिन्सिपल बननेपर, डाक्टर थीबा जर्मनीसे लाये गये। उनकी विद्या और विशेषतः परिश्रम-की धूम मची हुई थी। गर्मियोंमें, रातको आंधीमें न बुझनेवाला लेम्प जला कर, ग्यारह बजे तक उन्हें पढ़ते देख एक आदमीने आश्चर्य प्रकट किया। उत्तर मिला कि रातको गणितका फिरसे अभ्यास किया करते हैं और इस प्रकार किसी भी पढ़े हुए विषयका ज्ञान बासी नहीं होने देते। आते ही पं० बाल शास्त्री से दर्शनशास्त्रका पढ़ना और संस्कृत संभाषणका अभ्यास आरम्भ कर दिया। थोड़े दिन पीछे ही षाण्मासिक परीक्षामें संस्कृतके परीक्षक हुए। एक भी अनुत्तीर्ण न हुआ। यह पहले युरुपियन थे जिनकी दाढ़ीके साथ मोछोंका भी सफ़ाया मैंने देखा। प्रसिद्ध यह था कि धर्मशास्त्रमें उच्छिष्टकी निन्दा देखकर इन्होंने मोंछ मुड़ा ली है, जिससे बालोंमें उच्छिष्ट न फंस जाय।

गणितके प्रोफ़ेसर मिस्टर राजर्स भी अपने विषयमें निपुण थे और

उन्हींके पढ़ाये हुए, उनके शिष्य, लक्ष्मीनारायण मिश्र सहायक प्रोफेसर थे और पीछेसे गणित और साइंस, दोनोंके प्रोफेसर हो गये।

इङ्गलिशके प्रोफेसर किव्ल प्रिन्सिपल साहबकी अपेक्षा भी नाटे थे, परन्तु हर समय उनकी नस नस फड़कती रहती थी; और हंसमुख इतने थे कि उनसे पढ़ते हुए विद्यार्थीका जी नहीं उकताता था। परन्तु मेरे होते हुए ही किव्ल साहब चले गये और उनके स्थानमें पलटनकी क्लार्की और स्कूल मास्टरीसे बढ़ते बढ़ते चार्ल्स डाड (Charles Dodd) स्थानापन्न प्रोफेसर होकर आये जिनका सारा बल विद्यार्थियोंके उच्चारण शुद्ध करनेकी ओर लगता था।

इतिहासके प्रोफेसर इङ्गलिस्तानसे एक सिफारशी युवक बुलाये गये, जिनको अयोग्यताके कारण कोई डिग्री (Degree) न मिल सकी तो उन्हें बनारस कालिजके गले मढ़ा गया। इनको विद्यार्थी बहुत तङ्ग किया करते थे और इनकी इतिहाससे अनभिज्ञताकी पोल खोला करते थे।

अंगरेजीके सहायक प्रोफेसर दो हिन्दुस्तानी एम० ए० थे। एक बालकृष्ण भट्ट और दूसरे उमाचरण मुकुर्जी, ये दोनों भी अपने विषयमें बहुत योग्य थे, जिनमें भट्ट जी तो सदाचारकी मूर्त्ति थे। दोनों ही कालिजके अतिरिक्त एन्ट्रेन्स की दोनों कक्षाओंको भी पढ़ाया करते थे। रह गये दो प्रोफेसर उन विषयोंके जो गौण समझे जाते हैं। अंगरेजी उस समय मुख्य भाषा समझी जाती थी। ब्रिटिश गवर्नमेंटके स्कूलों और कालिजोंमें अब भी मुख्य भाषा अंगरेजी और संस्कृत तथा फारसी अरबी दूसरी वा गौणभाषा (Second language) समझी जाती हैं। संस्कृतके उपाध्याय पण्डित रामजसन थे जो प्रिन्सिपल ग्रिफिथको संस्कृतसे अंगरेजी उलथामें भी सहायता देते थे। इसके अतिरिक्त किसी विशेष आश्रय पर इनका ग्रिफिथ साहबपर बड़ा अधिकार भी था। यही कारण था कि इनके बड़े लड़के लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए० पास करते ही प्रोफेसर बन गये। दूसरे उमाशंकर, एम० ए० में फेल होकर, बिजनौर जिलाके ताजपुर के राजाके पुत्रोंके अध्यापक नियत होकर भेजे गये और तीसरे रमाशंकर मिश्र एम० ए० परीक्षोत्तीर्ण होते ही पहले बनारस कालिजमें गणितके सहायक प्रोफेसर और फिर नए अलीगढ़में स्थापित ऐङ्गलो महम्मदन कालिजके गणितके मुख्य प्रोफेसर बन कर गये थे। दूसरे गौण विषय अर्थात् फारसी-अरबीके मुख्य उपाध्यायका नाम "मौलवी साहब" के अतिरिक्त मुझे और कुछ याद नहीं और उस समय भी उनके सब शागिर्द उन्हें मौलवी साहब करके ही जानते थे। मौलवी साहबने अपने किसी शिष्यको भी सम्बोधन करते हुए सिवाय "बरखुरदार" (चिरञ्जीव) के और किसी शब्दका प्रयोग नहीं किया। यों तो मौलवीसाहबके क्लासमें बैठे हुए भी लड़के निचल्ले न बैठते थे, परन्तु जब मौलवीसाहब किसी कामके लिए कमरेसे बाहर जायं तो कोलाहलका वारा पार न रहता था। मौलवीसाहबने लौटकर बांह पसारकर घुमाई और कहा "हिश ! श !! श !!!"

शागिर्द अपनी अपनी जगह बैठ गये। फिर भी कोई शरारत करता रहा तो हुकुम हुआ—"कामताप्रसाद! बेंचपर खड़े हो जाओ।" कामता मुसकिराता हुआ खड़ा हुआ। एक पैर बेंचपर और एक अभी भूमिपर ही था कि बोला—"मौलवीसाहब! अज़ खुर्दां ख़ता अज बुजुरगां अता।" अर्थात् छोटोंसे अपराध और बड़ोंसे क्षमा। बुजुर्ग, प्रेमकी मूर्त्ति, मौलवीसाहब बोले—"अच्छा बर्खुरदार बैठ जाओ।" एक बड़े नटखट लड़केने भी, जो कई बार बख्शा जा चुका था, ऐसा ही अमल किया। मौलवीसाहब बोले—"हररोज़ ईद नेस्त किहलवा खुरद कसे।" लड़का था हाज़िर जवाब, हाथ बांधकर बोला—"मेरे बुजुर्गवार मौलवी साहब! करमहाये तो मारा कर्द गुस्ताख़" मौलवीसाहबकी आंखें डबडबा आईं, बोलनेका साहस न हुआ और इशारेसे उसे बैठनेकी आज्ञा दी। पढ़ानेके समय भी शोर मचता रहता था, परन्तु जब कोई आवश्यक नोट देना होता तो मौलवीसाहब कहते—"बरखुर्दारान! अब मतलबकी बात आई। ज़रा गोशहोशसे सुनो।" बस, सन्नाटा हो जाता। उस समय रूमाल गिरनेका शब्द भी सुनाई देता। मौलवीसाहबने नोट लिखा दिया और चहल पहल वैसी ही फिर हो गई। अपने मौलवीसाहबके पैतृक प्रेमका जब स्मरण आता है तो अब भी दिल भर आता है और हिन्दू मुसलमानोंके झगड़ोंको देखकर बड़ा कष्ट होता है। जिस पवित्र भूमिने दोनोंको जन्म दिया, जिसके अन्न जलने उन्हें पाला, जिस गंगाके शीतल जलने शान्ति देनेमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाईमें कोई भेद नहीं किया, उस मातृभूमिके पुत्र आपसमें लड़ झगड़कर माताको सताते हैं यह कैसे कष्टकी बात है। परन्तु जिस समयका मैं ज़िक्र कर रहा हूं उससे पहले भी सम्वत् १६२३ में चन्द्रनगरके फरासीसी चीफ़ जस्टिस 'लुइस जकालियट' ने काशी-पुरीमें पहुंचकर लिखा था—"ज्योंही मैंने मांझीको अपना बजरा शिवजीके घाट-पर बांधनेका हुकुम दिया त्योंही एक घटनाने मुझे आश्चर्यित कर दिया। हिन्दू और मुसलमान......बनारसके घाटोंकी सीढ़ियोंपर विना भेद भावके इकट्ठे नहा रहे थे। यद्यपि पैग़म्बर (मुहम्मदसाहब) के अनुयायी सदा मूर्त्ति पूजाके विरुद्ध ओर तलवारके साथ युद्ध करते रहे हैं परन्तु औरङ्गजेबके शासनकालसे पहले वे अपने पराजित शत्रुके पवित्र तीर्थका मान करते रहे थे।" मेरे सामने काशी में सर सय्यद अहमदकी बदौलत हिन्दू मुसलमानोंमें परस्परके विद्वेषकी बुनि-याद पड़ने लग गई थी, परन्तु मेरे पूज्य मौलवीसाहबके ढरेंके मुसलमान उस विरोधको देखकर दुखी होते थे।

स्कूल (विद्यालय) विभागके अध्यापक भी अन्य स्कूलोंके अध्यापकोंकी अपेक्षा अधिक योग्य थे, परन्तु मेरे शिक्षकोंका वर्णन विना उस समयके हेडमास्टरकी संक्षिप्त जीवनीके अधूरा रहेगा। जहां प्रिन्सिपल असाधारण पुरुष थे वहां हेडमास्टर भी एक विशेष व्यक्तित्वके स्वामी थे।

मथुराप्रसाद मिश्र, जो अंगरेजीमें हस्ताक्षर करते हुए M. P. M. लिखा

करते थे, बनारस कालिजकी विशेषताओंकी जान थे। सर्वसाधारणमें उनका नाम था मथुरा मास्टर। उनकी आकृति विचित्र थी। लम्बाईमें ६ फीटसे भी कुछ सिर निकाले हुए, रङ्ग सांवलेसे भी एक आध पानी चढ़ा हुआ, शरीरके अंजर-पंजर गिन लो, सिरपर पण्डितऊ पगड़ी, पैरमें सफ़ेद पायताबेपर हिन्दोस्तानी जूती चढ़ी हुई, धोती लम्बी छोड़े और अङ्गरखाके ऊपर मान्धाताके समयका लम्बा चोगा फैलाये, उसके भी ऊपर बिना तह खोले दुपट्टा लटकाये डग बढ़ाये जाते देखकर किसे विश्वास आ सकता था कि डाक्टर बैलेन्टाइन (Dr. Ballantyne) से प्रसिद्ध भाषाभाषी अपूर्व विद्वानके अपूर्व शिष्य और बनारस कालीजिएट स्कूलके हेडमास्टर जा रहे हैं। परन्तु जब उनको मिलते ही उनकी आंखों पर दृष्टि पड़ती थी और उनकी धारा प्रवाह वाणीकी लहरें चल पड़ती थीं तब समझमें आ जाता था कि न केवल अंग्रेज़ी और संस्कृत साहित्यका कोष ही उनके अन्दर सुरक्षित है प्रत्युत प्रबन्धकी निपुणता उनके आगे हाथ बांधे खड़ी रहती है। अध्यापकों और विद्यार्थियों-दोनों पर उनका तेज छा जाता था और जब कभी वह अपने कमरेसे हालमें निकलते तो स्कूलक्लासें तो क्या कालिजके कमरोंमें भी सन्नाटा छा जाता था। वे पढ़ानेके समय सदा खड़े रहते, प्रत्येक विद्यार्थी को उनकी आंखें अपने ऊपर ही गड़ी हुई प्रतीत होती थीं। मथुरा मास्टर न बी. ए. थे और न एम. ए. परन्तु जब कभी अंग्रेज़ साहित्य-सेवी तथा बड़े अफ़सर भी आ जाते तो इनका शुद्ध उच्चारण और ललित भाषाका प्रवाह देख कर आश्चर्यमें रह जाते और सारी बातचीतका ठेका मथुरा मास्टर ही ले लेते। इनका बनाया त्रैभाषिककोष (Trilingual Dictionary) देर तक स्कूलोंमें काम देता रहा। मैंने एक वर्ष मथुरा मास्टरसे पढ़ा है। उन्हींके कारण बनारस कालिजके विद्यार्थी शुद्धोच्चारण और शुद्ध आङ्ग्ल-भाषा बोलनेके लिए प्रसिद्ध थे।

यह था विद्वन्मण्डल जिसकी छत्रछायामें मैंने काशीके अन्दर ३॥ वर्षसे अधिक व्यतीत किए, परन्तु शुष्क पुस्तक पाठके अतिरिक्त मुझे, उन छ घन्टोंमें भी जो मैं विद्यालयमें नित्य बिताता था, इन विद्वानोंसे एक भी शिक्षा, जीवन-सुधारके लिए, न मिली। वह शिक्षाकी विधि अबतक भारतसन्तानके जीवन को खोखला कर रही है, और जो कहीं कहीं उसके विषधर प्रभावको दूर करनेका यत्न होता है वह भी पूर्णतया फलदायक नहीं होता।

व्यवहारिक जीवनमें परिवर्तन

मेरे एक स्वभावका ज्ञान मुझे काशीमें "गङ्गा गए गङ्गादास यमुना गए यमुनादास" हुआ। बनारस पहुँचते ही मैंने अपने जीवनकी सारी गति-बदल डाली। बलियामें तीन महीनेके अन्दर ही मैं भोजपुरी बोली और हकूमतके झकोलोंसे मस्त होकर ठाठ बाठसे सिंह-सरदारोंकी पोशाक पहिरने लग गया था। बनारस पहुँच कर एक महीनेके अन्दर बनारस की खड़ा बोली बोलने लग

गया। स्कूलमें प्रवेशके १५ दिनों पीछे ही हकूमतका सारा नशा हरन हो गया और विद्वानोंके विद्यार्थी-जीवनकी कहानियां पढ़ पढ़ कर उनके अनुकरणकी चेष्टा करने लगा। बांके दस्तारेका स्थान बनारसी दुपल्लिया टोपीने लिया, शान्दार लबादेके स्थानमें अनरखा पहिर लिया, दुपट्टा बांकपनका तिर्छापन छोड़कर गलेका हार बना, चुस्त चूड़ीदार पाजामेका स्थान सीधे सादे घुटन्नोंने लिया और चमकते हुए सल्में सितारोंकी जूतीको ठोकर लगाकर लक्कड़तोड़ बूट पैरोंका शृङ्गार बना।

अन्तरीय परिवर्तन

बाह्य परिवर्तनके अतिरिक्त अन्तरीय संकल्पों तथा आशाओंका सारा चित्र ही बदल गया। छः बजेके स्थानमें ब्राह्ममुहूर्तमें ४ बजे उठ कर गङ्गातीर स्नानके लिए जाता। वहांसे डलिया झारी लिए विश्वनाथकी सारी परिक्रमामें देवपूजन कर घर लौट आध घन्टे तक शारीरिक व्यायाम कर भींगे चने खाकर दूध पीता और नैतिकपाठकी आवृत्ति होती। अढ़ाई घन्टे बराबर स्कूलकी तय्यारीमें लगते। फिर भोजन पीछे स्कूल और वहांसे ४½ बजे लौट कर आवश्यकताओंसे निवृत्त हो एक घन्टा अन्य स्वाध्यायमें व्यतीत होता। सांझ होते ही कुर्ता दुपट्टा ओढ़ हाथमें छाता घुमाता हुआ शहरसे बाहर वायुसेवनार्थ भ्रमणके लिये चल देता यह भ्रमणभी एक प्रकार की कसरत ही थी। एक घन्टेमें ४॥ मीलका भ्रमण खासी दौड़के बराबर ही है। उन दिनों और उसके पश्चात चिरकाल तक मैं इतना शीघ्रगामी आंधीकी तरह चलता था कि मार्गमें मिले मित्रोंको देख तक न सकता था। ७½ बजे घर लौट कर विश्वनाथ बाबाके मन्दिरकी ओर चल देता और उनके द्वारपर हाथ पैर धो फिर सब देवमूर्त्तियोंके दर्शन मात्र करके लौटता; इस क्रियाको पूरी किए बिना भोजन नहीं करता था। फिर कुछ टहलते गप्पशप्प उड़ती और नौ बजेसे पहिले ही सो जाता। मुझे भली प्रकार स्मरण है कि सं० १८७३ ई० भर, एक दिन भी रात को दियेके सामने पढ़नेके लिए मैं नहीं बैठा। यदि शिक्षा प्राप्तिके सारे समयमें मैं इस नियमका पालन कर सकता तो आज मैं ऐनकोंका गुलाम न बन जाता। गुरुकुल खोल कर कुछ काल मैंने इस नियमको चलाया, परन्तु जब शिक्षाके कार्यमें अंग्रेज़ी कालिज़ोंके ग्रेजुएटोंसे काम लेना पड़ा तो न केवल रातकी पढ़ाई पर ही उन्होंने बल दिया, प्रत्युत अंग्रेज़ोंकी विलायतसे पास हुए डाक्टरोंकी सहायतासे देशी सरसोंके तेलके स्थानमें बदबूदार मट्टीका तेल जलवाना आरम्भ कर दिया। मेरी पहली अनुपस्थितिमें यह रिवाज बदला गया और जब लौट कर मैंने अपना नियम चलाना चाहा तो इन नई रोशनीवालोंने लोटेमें नमक डाल कर कह दिया कि बिना रातकी पढ़ाईके पाठ तय्यार नहीं हो सकते। यदि मैंने स्वयम् अपनी आंखों मिट्टीके तेल और अन्धी टाइप वाले अंग्रेज़ी उपन्यासों (Novels) के अर्पण न कर दी होतीं तो शायद अपने ब्रह्मचारी पुत्रोंको इस आपत्तिसे बचा सकता।

पहले वर्षके नियमपूर्वक जीवनका वर्णन करनेसे मेरा यह मतलब नहीं है कि इन बारह महीनोंके अन्दर कोई भी नई लहर मेरे अन्दर नहीं उठी। पहिला काम मैंने यह किया कि बनारसी गुण्डोंका अनुकरण करते हुए शामको अपनी कमरमें छुरी लगाकर बाहर जाता। माता पितासे शरीर मुझे सुडौल, और हाथ पैर खुले प्राप्त हुए थे। इसके साथ व्यायामने शरीरको गठित कर दिया था। परन्तु यह सब होते हुए भी मैं ऐंठने और बिनाकारण किसीसे उलझनेका अभ्यासी न था, बल्कि लज्जाका नमूना बना हुआ था। इस लज्जाका परिणाम ही मेरी दो निर्बलताएं थीं जिनका परिचय मेरी आगेकी कहानीमें मिलेगा।

प्रथम तो यह कि दूसरेके अत्याचारोंको बराबर सहन करता चला जाता हूँ और जब सहनशीलता पराकाष्ठाको पहुँच जाती है तब निवृत्तिकी ओर ध्यान देता हूं। इससे जहां पापीको पापमें बह जानेका अवसर मिलता है (क्योंकि वह मेरी क्षमताको निर्बलता समझता है) वहां मेरे व्यवहारमें अचानक परिवर्तन देख कर मेरे शत्रुओंकी संख्या बढ़ जाती है।

दूसरी निर्बलता यह थी (जो बहुत कुछ दूर हो चुकी है) कि जहां पहिलेसे जानी हुई आपत्तिका सामना मैं बड़े कठिन समयोंमें भी शान्ति और बलसे कर सकता वहां अकस्मात् किसी आपत्तिके सामने आनेपर मुझे उसका हल न सूझता था।

आँखें खुलने लगीं

अबतक आवारगीका जीवन तो अधिक रहा किन्तु उसमें पापका प्रत्यक्ष प्रवेश कभी नहीं हुआ। संसारको शुद्ध पवित्र ही मैं समझता रहा। परन्तु अब कुछ घटनाएं ऐसी हुईं जिन्होंने हृदयके उस शुद्ध भावपर ठेस लगानी शुरू कर दीं।

पिताजीका मुझ, सबसे छोटे पुत्रके साथ जितना प्रेम था उतना ही विश्वास भी था। जिस कोठीमें उनका रुपया जमा था उसके मालिकको आज्ञा देदी कि मेरे हस्ताक्षरपर जितना धन मैं मांगूं दे दिया जाय। खर्चकी कमी थी नहीं, इसलिये बसन्तपञ्चमीकी छुट्टी होते ही मैं बलिया चला गया। वहां श्यामसिंह और अजितसिंह तो थे ही, मुहल्लेके सिक्ख, क्षत्रियोंने हमारे मकानके पासही एक बैठकमें मुजरा करानेकी ठानी। मुजरेमें वेश्या बैठकर गाती है, नाचती नहीं। इन सबने मुझे निमन्त्रण दिया। मैंने उत्तरमें कहा कि पिताजी सदा नाच तमाशोंसे जुदा रहते हैं, मैं उनसे आज्ञा नहीं ले सकता। मुझे उन लोगोंने मुजरेमें शामिल होनेकी विधि बतलाई और मैं पिताजीके सो-जानेपर चुपकेसे उठकर बाहर बैठकमें आया और केसरी बाना पहिनकर मुजरेमें शरीक हो गया। पहिले तो शंका और लज्जाने आघेरा, परन्तु लौंग समेत पानपर पान खाते हुए शंका दूर हो गई। चार घंटेमें मैंने ५० से कम न पान

खाये होंगे। ३ बजे चुपकेसे फिर चारपाईपर लेट रहा। यह पहिला अवि-श्वासका पर्दा था जो मेरे और पिताजीके बीचमें पड़ गया। प्रातःकाल गला सूख कर कांटा हो गया, अपने कियेपर पश्चाताप भी हुआ, परन्तु प्रायश्चित करके पिताजीसे क्षमा मांगनेका साहस न हुआ।

बनारस लौटनेपर एक और अनुभव हुआ। मेरे एक मामूने पिताजीके साथ काशीमें आकर दूकान खोल ली थी। मैं आदित्यवारकी छुट्टीके दिन उनसे मिलने जाया करता था। मार्ग ठठेरी बाजारमेंसे था जहां एक गुण्डोंका गोल बैठता था। वह कुछ आवाजें कसते थे जिनकी ओर मैं ध्यान न देता और नीची आंखें किये चला जाता। एकबार एक गुण्डा मेरे पीछे कुछ दूर तक बोलता गया, तब मेरे कान खड़े हुए। लौटते हुए उसने मेरे मोढ़ेपर हाथ रखा ही था कि मैंने पैर घुमा कर उसके मुंहपर बड़े जोरसे थप्पड़ मारा। उसका सिर भिन्ना गया। वह कुछ टिर्रानेको तय्यार हुआ और मैंने उसे बलपूर्वक धक्का दिया तो वह पत्थरके फर्सपर चित्त गिर पड़ा। मैंने तो समझा था कि बदमाश दल मुझपर टूट पड़ेगा, परन्तु उसी दुष्टपर सब हंस दिये। भले मनुष्योंका तब हौसला हुआ कि उसे फटकारें और फिर उस मार्गमें किसीने भी मेरी ओर आंख उठाकर नहीं देखा।

बनारसके गिरे हुए आचारका एक दूसरी घटनासे, मुझे प्रत्यक्ष होने लगा। संवत् १६३० की गर्मियां आ पहुंचीं। मईका महीना था। मेरे घरसे कालिज-भवन डेढ़ दो मील दूर था। अन्य स्कूलोंका समय बदलकर प्रातःकाल हो गया, परन्तु क्विन्स कालेज और स्कूल दस बजेसे चार बजे तक ही लगते रहे। कारण यह कि प्रत्येक कमरे तथा हालके दोनों ओर खसकी टट्टियोंपर पानी छिड़कवाया जाता था। प्रोफेसर और अध्यापक तो बग्घियों और पालकियोंमें आते परन्तु विद्यार्थी स्कूल पहुंचते हुए पसीना पसीना हो जाते। तिसपर भी अध्यापक पढ़ाते समय ऊंघते ही रहते। मैंने गर्मियोंके लिये इक्का किरायेपर कर लिया जो मुझे दस बजे पहुँचा देता और चार बजे स्कूलसे लौटा लाता। एक दिन मैं स्कूलकी ओर जा रहा था कि मैंने एक विद्यार्थीके पीछे लगे बदमाश देखे। विद्यार्थीके साथ एक नौकर भी उसका बस्ता उठाये जा रहा था, परन्तु उसका हौसला कहां कि पांच छः गुण्डोंका सामना कर सके। मैंने लड़केको इक्केपर बैठा लिया और गुण्डे मुंहताकते रह गये। शामको भी उसे इक्केमें लाकर उसके घर पहुंचा दिया। तब मालूम हुआ कि उसकी माताके साथ गङ्गामें संकल्प पढ़कर मेरी माताने उसे धर्मकी बहिन बनाया हुआ है। भाई मेरे पास पढ़ने आने लगा। मैंने उसे कसरत करना सिखाया, तब उसका शरीर दृढ़ होना शुरू हुआ और उसकी अनुचित लज्जा भी दूर होने लगी। स्कूल भी वह मेरे साथ जाने लगा। मेरी मौसीने समझा कि बच्चेका बदमाशोंसे छुटकारा हो गया, परन्तु फिर मेरे घरपर ऐसे आदमियोंका आना

आरम्भ हुआ जिनके आनेकी आशा न थी। उसमें एक वेदपाठी पण्डित थे जिनकी लम्बी कहानी देकर पुस्तकको वढ़ाना अभीष्ट नहीं। सारांश यह कि जब उस भाईके विषयमें उस पतित पण्डितके घृणित भावका पता लगा तो मैंने उसे अपने घर आनेसे रोक दिया, और मैं गर्मीकी छुट्टीमें वलिया चला गया, तब वेदपाठीने लड़केको उसके सगे भाईके साथ इक्केपर जाते हुए गुण्डों द्वारा उठवा मंगाना चाहा। गुण्डोंने उसे उठा भी लिया, परन्तु पासही एक सदाचारी थानेदार कुछ आन्दोलन कर रहे थे। उन्होंने लड़केको उन दुष्टोंके पंजेसे छुड़ाकर घर पहुँचवाया और उसकी माताने सदाके लिये उसकी पढ़ाई बन्द कर दी। इस पिशाच वेदपाठीने अपनी मनोरथसिद्धिमें मुझे वाधक देखकर मुझपर ही मेरे धर्मभाईके सम्बन्धमें लांछन लगाना चाहा, जिसपर उसे उचित दण्ड भी मिला, परन्तु मुझे इस घटनासे वड़ा सदमा पहुंचा।

तीसरी घटना एक इंट्रेंसके विद्यार्थीके सम्बन्धमें थी। इसका नाम रामलगन मिश्र था। मथुरामास्टरकी तरह यह भी लम्बा दुबला और काला था और उन्हींके अनुकरणमें वैसेही कपड़े पहिरता था। आयु २२ वर्षकी थी, तीन बार इंट्रेंसमें अनुत्तीर्ण हुआ और दो वार परीक्षामें न वैठा। परन्तु स्कूलमें बराबर भरती रहा। इसके मारे भी विद्यार्थियोंका नाकमें दम था। इसने मेरे स्थानमें पहुंचकर कुछ कुचेष्टाका यत्न करना चाहा। मैंने उसे फटकार कर वरामदेके नीचे ढकेल दिया। उसने गिड़गिड़ाकर मिन्नत की कि मैं उसका पोल स्कूलमें न खोलूं। मैंने उसे फिर फटकार दिया और दूसरे दिन उसकी दुर्गति की सारी कहानी विद्यार्थियोंको सुना दी। मिश्रजी तीसरे दिन ही नाम कटाकर घरको चल दिये। इन घटनाओंने मेरी आंखें खोल दीं और तब मुझे मालूम हुआ कि काशीपुरी सब प्रकारके व्यभिचारका नरककुण्ड बना हुआ है। साथही वेदपाठी पण्डितके जीवनको देखकर संस्कृत-भाषा तथा विद्यासे ही घृणा हो गई। छमाही परीक्षाकी तय्यारीमें सब कुछ भूलकर मैं फिर नियमपूर्वक ही काम करता रहा।

सं० १९७३ का शेष भाग और

परीक्षामें असफलता

वर्षके मध्य भागकी छुट्टियोंमें पिताजीको पत्र द्वारा सूचना देकर मैं वलिया चल दिया। डुमरांव स्टेशनका टिकट लिया जहांसे इक्के वलियाको जाते थे। 'बक्सर' के स्टेशनपर खड़ी होकर जब ट्रेन चल दी तो मेरे कानमें शब्द पड़े। कोई पुकार रहा था—"बबुआ मुन्शीराम! बबुआ मुन्शीराम!!" यह आदमी पिताजीने भेजा था। उस प्रान्तमें वर्षा बहुत हुई थी और वलियासे डुमरांव १८ वा २० मील तक पानी ही पानी फैला हुआ था। आदमी इसलिये भेजा था कि बक्सरसे मुझे नावपर बैठा कर ले आवे। परन्तु रेल चल दी।

डुमरांव पहुंचकर मालूम हुआ कि इक्का डेढ़ मील जाकर रुक जायगा और शेष मार्गमें घुटनोंसे लेकर कमर तक पानीमें चलना पड़ेगा। मैंने एक मजदूरको अपना बेग दिया और छोटी दरी भी उसीमें डाल दी। फिर पैदल चल दिया। छ बजे प्रातःकाल डुमरांवसे प्रस्थान करके एक बजे दिनके गंगाके किनारे पहुंचा जहां एक वा डेढ़ मीलका पाट था और सामनेके किनारेपर बलिया। मजदूर नाटा था इसलिये जहां जल अधिक आता वहां उसके सिरपर थैला रखकर मैं, आश्रय दे, उसे चलाता आया। मजदूरको आठ आनेपर ठीक किया था। मजदूरको मजदूरी देने के लिये जब जेबमें हाथ डाला तो जेब कटा हुआ पाया। जेब कतरनेवालेने छ पैसे ही छोड़े थे। बलिया प्रान्तके दो कृषिक दिखाई दिये। इन्सपेक्टर साहबका पुत्र जानते ही उन्होंने मुझे चार रुपये उधार दिये। मजदूरने काम बहुत किया था, उसे बारह आने देकर बिदा किया और स्नान करके मानसिक पूजा की। फिर पेट-पूजाका फिक्र हुआ। मार्गमें एक भड़भूंजेकी ही दूकान थी। जिसमें केवल आठ लड्डू मिले। रुपया दिखाया दूकानदार ने उत्तर दिया कि बाकी देनेको उसके पास नहीं है। लड्डू पैसेका एक देता था। छ पैसे देकर उतने ही लड्डू खरीद लिये। लड्डू ऐसे दृढ़ थे कि दांत उन्हें काट न सके। पत्थरपर तोड़कर मुंहमें रक्खे तो गलेके नीचे नहीं उतरते थे। अस्तु केवल पानी ही थोड़ा पी लिया। फिर बकरियां चरती दिखाई दीं। चरवाहेसे दुहाया तो मुश्किलसे आध सेर दूध निकला। कुछ गुड़ भी मिल गया। गुड़ खाकर दूध पीया। उस समय जो आनन्द आया वह कभी बड़े महलों और बनारसके गोपालमन्दिरवाले छप्पन प्रकारके भोजनोंमें भी नहीं आया था।

कुछ देर पुस्तक पढ़नेमें व्यतीत की क्योंकि कृषक अपने सत्तू डाटकर सो गये थे। उनके जागनेपर पार जानेकी चिन्ता हुई। घाटपर तीन बड़ी किश्तियां लंगर डाले पड़ी थीं, परन्तु एकके साथही छोटी डोंगी थी। मैं दस रुपया तक किराया देनेको राजी हुआ परन्तु किसी मल्लाहने भी हां न की। मैं निराश होकर उस रेतीले मैदानमें ही रात काटनेकी तय्यारी कर रहा था कि छनछन करता हुआ डाकवाला आपहुँचा। उसकी छोटीसी डोंगी और खेनेवाला वह अकेला रह गया क्योंकि चलानेवाले मल्लाहको पीछे छोड़ मैंने अपने साथ दोनों जमीन्दार भी बैठा लिये और उनमेंसे एकको चप्पेपर लगा दिया। मैं ऊपरके तख्तेपर डाकके थैलेके साथ बैठ गया और शेष कृषकों को नीचे बैठा लिया। जबतक डोंगी उथले खड़े पानीपर चलती रही तबतक सबको आनन्द आता रहा, परन्तु तेज धारामें जाते ही डोंगी डगमगाने लगी तो जमींन्दारोंके होश उड़ गये। चप्पेवाला चक्कर खाकर गिरा मैंने चप्पा सम्भालकर डोंगी ठीक की और डाकियेको कहा कि पतवार मेरे हवाले कर दे क्योंकि चप्पापर शायद मैं थक जाऊं। उसको कुछ सन्देह था परन्तु मैंने उससे जबदस्ती चप्पेकी ओर ढकेलकर पतवार अपने हाथमें ली तब मांझीने समझ लिया

था कि डोंगी डूबी, परन्तु उसे बड़ा आश्चय हुआ जब मैं ३० वा ४० फीट ऊंची लहरोंमेंसे भी उस छोटी डोंगीको साफ़ निकाल ले गया। परन्तु मैं छोटी नावोंमें सैर करते हुए बनारसके निपुण मांझियोंसे पतवारका सम्भालना सीखे हुए था। आठ बजे रातको हम पार किनारेपर लगे। मेरे कृपालु कृपकोंके भी होश ठिकाने हुए और मैंने पिताजीकी सेवामें पहुंचकर प्रणाम किया।

इस बारकी छुट्टियोंमें शामको नित्य घोड़ेकी सवारी होती और हर तीसरे चौथे दिन शिकारकी भेंट होती। इसीमें मैंने क्षत्रियत्व समझ रखा था क्योंकि दसहरेपर पिताजी हथियारोंकी पूजा, श्रद्धासे, किया करते थे। यह नहीं कि मैं सिंह वा बाघ वा जंगली सुअरको मारकर मनुष्योंकी जान और उनकी खेत की रक्षा करता। मैं केवल निरपराध पक्षियोंको धोखेसे गोली छर्रेका शिकार बना बना कर ही तीसमारखांओंमें नाम लिखवाना चाहता था।

छुट्टियोंकी समाप्तिपर मैं काशी लौटा और परीक्षाकी तय्यारीमें लग गया उस समय यह शिक्षा-विभागकी ही परीक्षा थी और इसमें अनुत्तीर्ण होनेवाला इंट्रेन्सकी श्रेणीमें उन्नत नहीं किया जा सकता था।

परीक्षाके लिए मेरी तय्यारी पूरी थी। नवम्बरके अन्तिम सप्ताहमें सोमवारको परीक्षाका आरम्भ होकर वृहस्पतिवारको समाप्त होने वाला था और शुक्रवारको मैं अपनी जन्मभूमि (तलवन ज़िला जालंधर) के लिए प्रस्थान करने वाला था। पिता जीकी ऐसी ही आज्ञा आई। लिखा था कि मेरे नातेका शकुन पल्ले डाला जायगा, इस लिए मुझे माताजीके पास पहुंच जाना चाहिए। मुझसे दो वर्ष बड़े भाईका विवाह, द्विरागमन, त्रिरागमन सब कुछ हो चुका था और मैं अभी कुमार ही था। क्या मेरे पिता ब्रह्मचर्यकी महिमाका अनुभव करने लग गए थे? नहीं; कारण यह था कि जिस देवी कन्याके साथ विना देखे भाले मेरा नाता किया गया था उसका दैवयोगसे देहान्त हो गया। यह समाचार सुनते ही तीन वर्ष पहले जालंधरके प्रसिद्ध साहूकार और तहसीलदार राय शालिग्रामने अपनी लड़कीके लिए मुझें रुकवा लिया था। रुकवानेसे मतलब था कि और कहीं नाता न हो। और तो शायद ब्रह्मचर्य्यके नियमोंका उन्हें पता न था परन्तु राय शालिग्राम वरवधुकी आयुमें पांच सात वर्षका अन्तर आवश्यक समझते थे क्योंकि ऐसा न होनेकी अवस्थाका बुरा परिणाम वह कई परिवारोंमें देख चुके थे। अस्तु मैं न विवाहका असली उद्देश्य जानता और न नातेके अर्थ समझता था, मुझे यदि उत्सुकता थी तो माताजीसे मिलने की।

सोमवारको अंग्रेज़ी, मङ्गलको गणित, बुधवारको इतिहास भूगोलके प्रश्नपत्रोंके उत्तर उत्तम रीतिसे लिख आया था। वृहस्पतिवारको फ़ारसीका पहला पर्चा ही ऐसा किया था कि वही मेरे उत्तीर्ण होनेके लिए पर्याप्त था, परन्तु दूसरा पर्चा हाथमें आते ही सुपरिन्टेन्डेन्टने सुना दिया कि अंग्रेज़ीके प्रश्नपत्र पहले निकल चुके हैं, इस लिए उस विषयकी परीक्षा फिर आगामी सोमवारको

होगी। फ़ारसीका दूसरा पर्चा फिर बहुत अच्छा किया, और घर आकर विचार किया कि देशको तार देकर परीक्षाके लिए ठहर जाऊं। परन्तु तलवनमें तार-घरथा नहीं और माताजीका प्रेम मुझे खींच रहा था, मैं शुक्रवारके शामको ही चल दिया और आदित्यवार को प्रातःफिल्लौर रेलवेस्टेशनसे उतर उसी दिन मध्याह्नोत्तर तलवन पहुँच कर माताजीसे आशीर्वाद प्राप्त किया।

पहली स्वतन्त्र यात्रा

मार्गमें यूं तो बहुत घटनाएं देखीं, परन्तु उनमेंसे दोका वर्णन आवश्यक है। अनुभवशून्य होनेके कारण गाज़ियाबादके स्थानमें मैंने इलहाबाद-का टिकट लिया। न जाने कैसे यह ख़याल दिलमें बैठ गया कि वहां पहुँच कर गाड़ी बदलेगी। इलहाबाद ट्रेनसे उतर कर मुसाफिरखानेमें आया। बहुतेरा यत्न किया परन्तु उस गाड़ीका टिकट न मिला। सिपाहीने अवश्य कहा कि अठन्नी दो तो टिकट ला दूं, परन्तु उन दिनों उच्चकोटिकी अंग्रेज़ी पुस्तकें पढ़कर रिशवत देना अधर्म जंचता था। दो घन्टे पीछे दूसरी गाड़ी आती थी। टिकट बंटने लगा। मुझे समझाया गया था कि यात्रामें किसीका विश्वास न करना। मैंने दरी कंधेपर डाली, थैला बाएं हाथमें लिया और दाहिने हाथमें रुपए लेकर टिकट लेनेको बढ़ा। आध घन्टेकी धक्कम धक्कीके पीछे टिकट मिला और मैं दौड़ कर गाड़ीमें बैठ गया। कमरा खचाखच भरा हुआ था, इस लिए किसी कपड़ेकी जरूरत न पड़ी। कानपुर पहुंचते ही सूर्य-भगवानके दर्शन हुए, कमरा भी खाली हो गया। तब पता लगा कि दरी उड़ गई। मैंने बेग खोल कर नई फर्रुख़ाबादी फर्द निकाली, जिसमें अभी रूई न पड़ी थी, और उसे बिछाकर आरामसे बैठ गया। शामको गाज़ियाबाद पहुँचा वहांसे फिर नया टिकट लेकर एक लम्बे कमरेमें बैठ गया। कुछ दूर तक भीड़ भाड़के कारण जाड़ा न लगा, परन्तु जब सहारनपुर सब सवारियां उतर गई और मेरे सिवा एक ही अन्य यात्री रह गया तो गुलाबी जाड़ा विदा हुआ और ठन्डक जोरसे लगी। अब भला फर्रुख़ाबादी फ़र्दसे क्या काम चलता। जो नया गवर्नटका रूईदार अनरखा शकुनके समय पहिरनेको दिया गया था उसे पहिन कर रात काटी। इससे भविष्यकी यात्राओंके लिए मुझे बड़ा अनुभव मिला।

दूसरी घटनाने मुझे आगेके लिए अधिक सावधान होना सिखलाया। मुझे लिखा गया था कि फिल्लौर पहुंचने पर बावा पंजाबदासके यहां उतरूं क्योंकि सवारी आदमी समेत वहां मौजूद होगी। उनकी धर्मशाला स्टेशनके पासही थी। मुझे पंजाबदासका नाम तो भूल गया, कुलीको कहा कि पंजाबी बाबाके यहां ले चलो। वह मुझे एक दूसरे बुर्ज वाले बाबाके पास ले गया। वह तलवनके किसी और धनाढ्यके लड़केकी प्रतीक्षा कर रहे थे। एक दूसरेने पूछा कुछ नहीं इसलिए भेद न खुला। विवाहोंका जोर

था, इस लिए बैलगाड़ी, टट्टू आदि तो क्या गदहा भी सवारीके लिये न मिला। मज़दूर तो कहीं आस पास थे नहीं। मक्कीकी रोटी और सरसोंके साग-के साथ मक्खनने आनन्दित कर दिया और छाछने उस पर और भी सुहागा फेर दिया। मेरी प्रेरणा पर बाबाजी साथ जानेको तय्यार हो गये, क्योंकि अपने जिस यजमानका लड़का मुझे समझे थे उससे बड़ी भेंट की आशा थी। हम दोनोंने अपनी अपनी बारी ठहरा ली। दस मिनट थैला बाबाजीके कंधे पर रहता और दस मिनट मेरे हाथमें। कुछ दूर जाकर बाबाजी थक गए तब उन्हें दम दिलानेके लिये कुछ दूर अकेला मैं ही ले गया। फिर मेरे डंडेमें थैला लटकाया गया और दोनों ओर हम दोनों लगे। गांव समीप आते ही लड़कोंने "राम राम सत्य है" की फबती सुनानी शुरु की। अन्तको तलवन समीप आयो। मैंने एक कुएं पर अपनी बिगड़ी हुई शान सुधारी और बेग बाबाजीके सुपुर्द करके सीधा अपने घर जा पहुंचा। माताजीने मुह चूम कर बलाएं लीं बाबाजी बेग अपने यजमानके घर ले गए जहां से बेग समेत उनको हमारे यहां लाया गया और दूसरे दिन शकुनके समय जहां बाबा पंजाबदासको चार रुपये और मिठाई मिली वहां इन बाबाजीको भी भेंटमें उतनाही सामान दिया गया। 'अन्त भला सोही भला' यह ठीक है परन्तु यदि भूलभुलइयामें दोनों न फंस जाते तो मुझे उस दिन तलवन पहुचना कठिन हो जाता।

शकुन पल्ले डाला गया। माताजी के पास पन्द्रह दिन रह कर मैं पिताजीके पास चला गया और वहां से बनारस पहुंचा।

बनारस स्कूल म दूसरा वर्ष और

आवारगी की दूसरी चढ़ाई।

अंग्रेज़ीकी संशोधित परीक्षामें मैं शामिल ही नहीं हुआ। उस विषय-में शून्य मिलना ही था, इसलिए उन्नति न मिली और मुझे दूसरी श्रेणीमें ही रहना पड़ा। मेरे बड़े भाई कहीं अब चौथी जमात से निकले थे। उन्हें भी पिताजीने बनारस ही भेज दिया। मुझसे दो बरस बड़े होते हुए वह मुझसे निचले दर्जेमें कैसे प्रविष्ट होते। पांच छ दिन तो उन्होंने सैरमें व्यतीत किए। एक दिन आकर उन्होंने बतलाया कि वह लण्डन मिशन स्कूलमें दाखिल हो गए हैं। वह स्कूल प्रातःकाल लगता था। जब मेरे स्कूल जानेका समय होता उस समय भाई साहेब लौट आते। दस बारह दिन तो नियम पूर्वक स्कूल गया, फिर पुराने लगभग सब सहपाठियोंके ऊंचे दर्जेमें चले जानेके कारण उदासी छा गई। जिन पुस्तकोंको पढ़ चुका था उनकी घर में तय्यारीकी आवश्यकता न थी। नये नीचे दर्जेसे आये लड़कोंके साथ

बैठनेमें भी कुछ लज्जा प्रतीत होने लगी। तब मैंने कबाड़ियोंकी दुकानों पर चक्कर काटने शुरू किये। वहां पुराने अंग्रेजी उपन्यासों (Novels) की भरमार थी। उपन्यास पढ़कर और भी मन डांवाडोल हुआ। भाई साहबने मुझे गपशपमें फंसाना शुरू किया। एक दिन स्कूल जानेमें देर हो गई। जुर्माना लिखा गया। दूसरे और तीसरे दिन सर्वथा अनुपस्थित रहा। चौथे दिन गया तो सारा पिछला जुर्माना दाखिल करनेका हुकुम हुआ। मैंने स्कूल जानाही बन्द कर दिया और मेरा नाम कट गया, परन्तु न तो इस घटनाकी पिताजीको सूचना दी और न फिर स्कूलमें दाखिल होनेका यत्न किया। मई मासमें पिताजीको मालूम हुआ कि भाई साहब किसी स्कूलमें दाखिल नहीं हुए, केवल सैर सपाटेमें ही समय और धनका व्यर्थ व्यय कर रहे हैं। उनकी भविष्यकी पढ़ाईसे निराश होकर पिताजीने उन्हें आज्ञा भेजी कि अपनी धर्मपत्नीको विदा करा लावें। भला जिनका दुरागमन क्या तिरागमनको भी ३ वर्षसे अधिक हो चुके हों उनसे स्कूली पढाईमें लगनेकी आशा कैसे सार्थक हो सकती है। मैंने बहुतसे उपन्यास, जीवनचरित्र और यात्राके इतिहास खरीदे और छुट्टीके दिन समीप आनेपर पिताजीके पास चला गया। वहां मैं तो अपने आपको उपन्यासोंका नायक कल्पना करके हवाई किले बनाता रहा, परन्तु पिताजीने यह समझा कि बरखुरदार परीक्षाकी तय्यारीमें दृढ़तासे लगा हुआ है। अपनी असाधारण आंखोंकी ज्योति पर अभिमान करके मैंने पूर्णिमाके दो तीन दिन पहले और दो दिन पीछे चन्द्रमाके शीतल प्रकाशमें अन्धी टाइप (type) के उपन्यास पढ़नेका लग्गा लगाया। गर्मियोंके दिनोंमें रातको दियेके प्रकाशपर पतंग बलि चढ़ते हैं और गर्मी भी सताती है। दोनोंसे बचनेका यह इलाज था। यह अभ्यास १० वर्ष तक जारी रहा जिससे दर्शन-शक्तिको हानि पहुँची।

स्कूल खुलनेके दिनों मैं फिर बनारस पहुंचा। लौटते ही विचार किया कि किसी दूसरे स्कूलमें प्रविष्ट होकर द्वितीय कक्षाकी परीक्षा दे दूं। इसी उधेड़बुनमें अक्तूबर व्यतीत हुआ और दशहरा दिवाली भी मनाई गई। इतनेमें पिताजी कमिश्नरको मिलने आये और मेरे पास उतरे। दूसरे दिन एक बजे कमिश्नरकी कोठी पर मिलने जाने वाले थे। भोजनके पश्चात् पिताजीने पूछा कि स्कूल कब जाओगे। आज तक झूठे अमल करते हुए भी पिताजीसे असत्य भाषण नहीं किया था। उस समय भी सारी सच्ची कहानी सुनानेका विचार हुआ, परन्तु लज्जाने रोक दिया और मैंने कह दिया कि स्कूलमें छुट्टी है। पिताजी एक बजे चले गये। लौटते हुए उनको मेरी कक्षाके लड़के मिले, जिन्होंने मेरे नाम कट जानेका समाचार उन्हें सुना दिया। पिताजीको कितना शोक हुआ होगा, उसका समझना मेरे लिये मुश्किल न रहा, जब उन्होंने ठण्डी सांस भरके कहा—"बेटा! मैं तुमपर इतना विश्वास करूं और तुम ऐसा अविश्वास करो। यदि दिल नहीं लगता था तो मुझे क्यों न लिख दिया?" यदि

मुझे कोई दण्ड मिलता तो शायद मेरा दिल पत्थर हो जाता। परन्तु पिताजीका प्रेम एक तरफ और मेरी अयोग्यता और विश्वासघात दूसरी ओर। दोनोंकी तुलनाने मुझे आठ आठ आंसू रुलाया। पिताजीने मुझे दिलासा देकर अलग तो कर दिया परन्तु मुझे शान्ति कहां थी मुझे संसार अंधकारमय दीखने लगे। आंसू तो बन्द हो गये परन्तु आंखें पथरा गईं: न भूख थी और न प्यास। पिताजीने बड़ी बुद्धिमत्तासे काम लिया और मुझे बिलकुल न छेड़ा। मेरे मनमें विचित्र उतराव चढ़ाव हो रहे थे—"क्या मुझ पापीके लिये अब परमेश्वरकी ठण्ढी पवन चलेगी? क्या जल मुझे शीतलता प्रदान करेगा? क्या प्रकाश मुझे मार्ग दिखायेगा?" इसी उधेड़बुनमें था कि परमात्माकी अपार दया रूपी नियमने मुझे सुला दिया। प्रातःकाल जब नींद खुली तो चिड़ियोंको उसी तरह चहचहाते सुना, गङ्गामें गोता लगानेपर मन शान्त हुआ और तब झारी डलिया लेकर देवपूजाके लिये चला तो शीतल वायुके झकोलोंने हृदय फिर प्रफुल्लित कर दिया। विश्वनाथकी परिक्रमासे लौट पिताजीको प्रणाम किया। वह मुझे मथुरा मास्टरके पास ले गये। उन्होंने नाममात्र परीक्षा लेकर फिर मुझे दूसरे दर्जे में दाखिल कर लिया।

परीक्षामें केवल एक महीना बाकी था। मैंने गणित, भूगोल, इतिहास भुला दिया था। मेरे कृपालु मौलवी साहबने गले पड़कर फारसीकी तय्यारी तो कर करा दी। परन्तु चित्त जो चञ्चल हो चुका था, उसने शेष विषयोंकी तय्यारी न करने दी। केवल अंग्रेजी और फारसीकी तय्यारीसे कुछ हो भी न सकता था। ऐसी अवस्थामें अनुत्तीर्ण होना निश्चित ही था, इसलिये परीक्षामें बैठा ही नहीं और बनारस कालीजिएट स्कूलसे नाम कटवाकर अलग होगया।

रेवड़ीतालावके स्कूलमें

एक वर्षका स्वतन्त्र जीवन (१९३२ संवत्)

अब भरती होनेके लिये नये स्कूलकी तलाश हुई। मेरी ही कोटिके तीन और विद्यार्थी—वा यों कहो कि सुखार्थी—भी इसी ढूंढ़में लगे हुए थे। लण्डन मिशन [ईसाई] स्कूल तो, न जाने क्यों, हमारी नज़रोंमें जंचाही नहीं। जैनारायण कालिज पहुंचकर हमारी मनोकामना सिद्ध होती प्रतीत हुई। इन चारों बिगड़े दिलोंका मैं ही नेता था और मुझ—उपन्यासोंके कल्पित नायक—को आकर्षण करनेके लिये वहां सब सामान मौजूद थे। इस कालिजकी बेतरतीब खुली इमारत, इसके पास ही जङ्गलका रास्ता और सड़ककी दूसरी ओर पुरानी इमारतें मुझे स्वभावतः अपनी ओर खींच रही थीं। सबसे बढ़कर यह कि कालिजी कहलाते हुए भी हम सबसे उच्च श्रेणीके विद्यार्थी समझे जा सकते थे। इस संस्थाका नाम तो कालिज था, परन्तु कालिजकी सब श्रेणियां टूट चुकी थीं और सबसे ऊंची कक्षा एन्ट्रेंसकी थी। पादरी हबर्ड [Rev. Hubbord] इसके प्रिंसिपल थे जो केवल

इन्ट्रेन्सको ही इङ्गलिश साहित्य पढ़ाया करते थे। यह संस्था तो ईसाइयोंके अधिकारमें थी, परन्तु कालिजकी कोठी अहाते सहित बङ्गाली राजा जयनारायण घोशालने दानमें दी थी, इसलिये कालिजके साथ उनका नाम लगा चला आता था। स्कूलके चालक तो लकीर पीटते हुए इसे कालिज ही कहते चले जा रहे थे, परन्तु सर्वसाधारणने इसका गुणकर्मानुसार नामकरण संस्कार कर छोड़ा था। इमारतके समीप जङ्गलकी ओर एक तालाव था जिसका नाम था "रेवड़ीतलाव"। जनसाधारणने इसलिए इसका नाम रक्खा था—"रेवड़ी तालावका स्कूल" और कोई कोई संक्षेपसे "रेवड़ी स्कूल" कहते थे। न तो स्कूलमें ही रेवड़ी बंटती थी और न तालावसे ही निकलती थी। परन्तु नाम यही था।

अच्छा, तो हम पौष संवत् १९३२ के आरम्भमें ही 'रेवड़ी स्कूल' में प्रविष्ट हो गये। एन्ट्रेन्सकी कक्षामें लगभग तीस विद्यार्थी थे। प्रिंसिपल हवर्डने दो तीन दिन पीछे हम सबकी अंग्रेजी भाषामें परीक्षा ली। हम चारों बिगड़ेदिलोंकी अंग्रेजीमें योग्यता सबसे बढ़कर निकली। यदि गणितादिमें भी परीक्षा होती तो शायद हममें एक भी इस कक्षामें न रहता। परन्तु प्रिंसिपल हवर्डका सम्बन्ध अंग्रेजीके साथ ही था। हमारे लगेके पांच विद्यार्थी ही और निकले। इस लिये एन्ट्रेन्सकी कक्षाके दो विभाग किए गये। "क" विभागमें हवर्ड साहबके चुने हुए नौ [९] और शेष सब "ख" विभागमें।

अब हम चारोंको एक वर्षके लिये 'रेवड़ी स्कूल' की मशीनके पुर्जे समझ लीजिये। इससे बढ़कर विश्रामघाट मुझ आवारागर्दको इन दिनों कहां मिल सकता था। प्रिंसिपल साहब हमें नित्य अंग्रेजी पढ़ाते थे जिसमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता था। एक मास पीछे इनके स्थानापन्न होकर पादरी ल्यूपोल्ट (Rev. S. T. Leupolt). आये, अर्थात् बूढ़े शान्त पादरी हवर्डका स्थान जवान कट्टर पादरी ल्यूपोल्टने लिया। वह अधिकतः अपने सम्प्रदायके प्रचारमें लगे रहते और हमारी कक्षाको सप्ताहमें केवल दो बार पाठ पढ़ाते और शेष दिनोंके लिये उस अन्तरमें स्वतन्त्र छोड़ देते। मुझसे वह अधिक प्रसन्न थे क्योंकि मैं उनके बतलाये प्रमाणोंको अपने विस्तृत स्वाध्यायके कारण शीघ्र समझ लेता था। हमारे गणितके अध्यापक कालीबाबू अपने विषयके योग्य ग्रेजुएट (graduate) थे परन्तु इनकी आंखें लज्जासे नीचे रहतीं। अपने शिष्योंसे कभी लज्जाके मारे कुछ न पूछते और इसलिये हमारी उन्नति वा अवनतिका उन्हें कुछ भी पता न लगता। क्लासमेंसे कौन उठ गया, कौन आया और कितने उपस्थित हैं—इसका काली बाबूको ज्ञान न होता। इतिहास और भूगोलकी तय्यारी प्रिंसिपल साहबने हमपर छोड़ दी थी। कुछ परिश्रमकी आवश्यकता तब होती यदि द्वितीय भाषा फारसी लेता। मैंने इसका भी झगड़ा मिटा दिया और उर्दूको द्वितीय भाषा स्थिर किया। उर्दूके उस्ताद एक शौकीन हकीम साहब थे जिनकी वज़ादारीकी एक दुनियामें धूम थी।

इलाज न जाने कोई उनसे कराता था या नहीं और उससे उनको क्या मासिक आय होती थी—इसका किसीको ज्ञान न था। स्कूलसे अलवत्ता उनको ४०) मासिक मिलते थे। आप हंसौड़ तो थे ही कुछ शेर शायरीकी टांग भी तोड़ा करते थे। हकीम साहब थे आदमीको समझने वाले, इस लिये मुझसे पढ़ने पढ़ानेकी बात तो छेड़ते न थे, सारा घण्टा मनोरञ्जक बातचीतमें ही व्यतीत होता। यदि मैं किसी अन्तरमें कभी अनुपस्थित न हुआ तो वह हकीम साहब का घण्टा था।

इतना स्वतन्त्र समय जो हमारे पास था उसका व्यय हम कैसे करते थे? प्रथम तो सारी इमारतका दो तीन बार चक्कर काट कर किसी न किसी अध्यापकको तंग करते और अधिक समय मिलता तो पासके जंगलका पत्ता २ छान मारते। जब हम जंगलकी सैरको जाते तो मास्टरोंको बड़ी प्रसन्नता होती, क्योंकि हम लोगोंकी अनुपस्थितिके समय उनके पढ़ाईके काममें विघ्न न पड़ता। ऐसी अवस्थामें स्कूलसे अनुपस्थित होनेकी जरूरत ही क्या थी? स्वतन्त्रता सीमाको उल्लंघन कर चुकी थी, परन्तु एक और घटना इस समय हुई जिसने स्वच्छन्दताको पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया।

अन्धविश्वासके जीवनकी समाप्ति।

"अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानो स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमाना।
जघन्यमाना परियन्ति मूढ़ाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

जहां प्रातःकाल गङ्गास्नानसे पहिले कुश्तीका फिर प्रारम्भ हो गया था और डलिया झारी लेकर विश्वनाथादिकी पूजा अर्चन करके जलपान करना नित्यकर्मविधिका एक अङ्ग बनाया गया था, वहां सायंकाल भ्रमणके पीछे ७ बजे विश्वनाथादिके दर्शन नित्य करनेके पीछे मैं रात्रिका व्यालू करता था। पौष १९३२ के अन्तमें एक दिन भ्रमण करने ऐसी ओर गया जहांसे मेरा निवासस्थान समीप न था। दूर चले जानेसे लौटना ७॥ बजे हुआ। कुछ आराम करके आठ बजे दर्शनोंके लिये चला। विश्वनाथादिके मन्दिर एक ही गलीमें हैं जिसके दोनों ओर पुलिसका पहरा रहता था। मैं विश्वनाथकी ओरके फाटकपर पहुँचा तो पहरेवालेने मुझे रोक दिया। पूछनेपर पता लगा कि रीवांकी रानी दर्शन कर रही हैं, उनके चले जानेपर द्वार खुलेगा। मुझे कुछ खिसियानासा देख पुलिसमैनने, जो मेरे पिताकी अर्दलीमें रह चुका था, मोढ़ा बैठनेको रख दिया। मैं एक पलके लिये बैठ तो गया परन्तु विचार कुछ उलट गये। इस रुकावटसे मेरे दिलपर ऐसी ठेस लगी जिसका वर्णन लेखनी नहीं कर सकती। जी घबड़ा उठा और मैं उलटा चल दिया। पहरेवालेने बहुत पुकारा परन्तु मैंने घर आकर ही दम लिया। आहट पाकर भृत्य भोजन लाया तो क्या देखता है कि मैं, कपड़े

पहिरे ही विस्तरेपर लेट रहा हूँ। कह दिया कि भोजन नहीं करूंगा। नौकर मेरे आग्रह करनेपर स्वयं खाना खाकर सो गया।

मुझे वह रात जागते बीती। मन की विचित्र व्याकुल दशा थी। प्रश्नपर प्रश्न उठते थे—"क्या सचमुच यह जगत् स्वामीका दरबार है जिससे एक रानी उसके भक्तोंको रोक सकती है? क्या यह मूर्ति विश्वनाथ हो सकती है और या वे देवता कहला सकते हैं जिनके अन्दर ऐसा पक्षपात हो? परन्तु मूर्तियोंको देवता किसने बनाया? नित्य मेरे सामने संगतराश ही तो मूर्तियां बनाते हैं... .... " कभी व्याकुल होकर दस बीस मिनट टहलता, फिर बैठ जाता। कभी लेट जाता। फिर दूसरी ओर प्रश्नावली को लहरपर लहर उठी—"जब सांसारिक व्यवहारोंमें पक्षपात है तो देवताओं-के दरबारमें उसका दखल क्यों न हो? क्या मनुष्योंने भी पक्षपात देवताओंसे ही सीखा? क्या मेरे स्वच्छन्द जीवनने तो मुझे अविश्वासी नहीं बना दिया?" गोस्वामी तुलसीदासके दोहे और चौपाइयां याद आने लगीं। जब नीचे लिखे दोहेका स्मरण हुआ तो अश्रुधारा बह निकली—

बार बार वर मांगहूँ, हर्ष देहु सिय रंग।
पद सरोज अनुपायनी, भक्ति सदा सतसंग॥

एक घण्टे तक आंसुओंका तार बंधा रहा, अपने इष्टदेव महावीरसे प्रकाशके लिये प्रार्थना की। परन्तु उस समय बालयतिके ध्यानसे भी कुछ लाभ न हुआ। अन्तको रोना धोना बन्द हुआ और प्राचीन, यूनान (Greece) और रोम (Rome) की मूर्तिपूजाके इतिहासपर मानसिक दृष्टि दौड़ गई। पहिले जो लेख मूर्तिपूजामें रुचि दिलाते थे, उसपर नया प्रकाश पड़ने लगा। हिन्दू मूर्तिपूजाके विरुद्ध ईसाइयोंकी जो दलीलें पढ़ी थीं उन्होंने मुझे हिन्दू देवमालासे बेगाना बना दिया और आधी रात पीछे यह निश्चय करके सो गया कि अपने प्रिन्सिपल पादरी ल्यूपोल्टसे संशय निवृत्त करूंगा।

दूसरे दिन पादरी ल्यूपोल्टको मैंने जा घेरा। वह बहुत प्रसन्न हुए और मुझे अपनी कलीसियामें लानेके लिये बहुत मग़ज़पची की। मेरे तीन दिनोंके प्रश्नोंसे ही पादरी साहब घबरा गये और मुझे Hopeless case (निराशाजनक मामला) समझ कर उन्होंने छोड़ दिया। नास्तिकपनसे मेरा चित्त अभीतक घबराता था। मुझसे अंगरेजी पढ़ने, बनारस संस्कृत कालेजके एक विद्यार्थी आया करते थे। वह दर्शनों का अभ्यास करते और योग्य विद्वान थे। अंगरेजी इस लिए पढ़ते थे कि उसके कारण उनकी छात्र-वृत्ति तिगुनी हो सकती थी। इन्होंने मुझे लघुकौमुदी पढ़ानी आरम्भ कर दी थी। व्याकरणमें भी इनकी अच्छी गति थी। उनसे भी एक दिन स्वभावतः बातचीत हुई। उनकी युक्तियोंने मुझे शांत तो न किया, उलटी संस्कृतसे ही मुझे घृणा हो गई। मैंने पण्डित विद्याधरसे कह दिया कि

संस्कृतमें कोई अकलकी बात ही नहीं और इसलिये मैं अब कौमुदी न पढ़ूंगा। परन्तु पण्डितजी मुझसे सरेसकी तरह चिपट गये और थोड़ा बहुत व्याकरण-का बोध कराके ही मुझे छोड़ा। अस्तु !

यह तो आगे की बात है। सारांश यह कि हिन्दू मूर्तिपूजासे मुझे घृणा हो गई, प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयोंकी दलीलें पोच मालूम हुईं, हिन्दू शास्त्रज्ञ मेरी शांति न कर सके, इसलिये कुश्ती और गङ्गास्नानका नियम स्थिर रहते हुए भी दर्श स्पर्श से मुक्ति मिल गई। परन्तु अश्रद्धाकी ओर सर्वथा जाने-में अभी झिझक बाकी थी।

एक दिन सिकरौर छावनीकी ओर घूमने जाते हुए एक रोमन कैथो-लिक पादरी (Roman Catholic priest) मिल गये। बातचीत करते हुए उन्हें प्रोटेस्टेन्ट पादरी (Protestant missionary) ल्यूपोल्टकी अपेक्षा अधिक विनयशील, शांत और सहिष्णु पाया। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि यदि खृष्टीयमत (Christian religion) का तत्व जानना हो तो कैथोलिक कलीसिया (Catholic church) के सिद्धांतोंको समझना चाहिए। उनके चर्च में मेरा आना जाना शुरू हुआ। उनकी धार्मिक संस्थाओं तथा प्रार्थना सभाओंका मुझपर विशेष प्रभाव पड़ा। मेरे श्रद्धासम्पन्न चित्तपर फादर लीफ़ूं (Father Lefoung) के आचार-व्यवहारका भी असर हुआ। मैं यहां तक उनपर मोहित हुआ कि रोमन कैथोलिक विधिसे बप्तिस्मा (Baptism) लेनेको तैय्यार हो गया। मेरे एक ही मित्रको मेरे निश्चय का पता था परन्तु उन्होंने मुझे रोकनेकी कोशिश ही न की। फाल्गुन १९३७ संवत्में यहां तक नौबत पहुँची कि बप्तिस्मा लेनेकी तिथि नियत करनेके लिए मैं एक शामको फादर लीफ़ूं की ओर गया। स्वाध्यायके कमरेमें वह थे नहीं, मैंने अन्दरके कमरेका पर्दा उठाया। पादरी साहब तो वहां थे नहीं परन्तु एक दूसरे पादरी और एक ब्रह्मचर्य्य व्रतधारिणी (Nun) को ऐसी घृणित दशामें पाया कि मैं उलटे पांव लौट पड़ा और फिर उधर जानेका नाम न लिया।

मुसलमानी मतकी ओरसे पहिले ही उदासीन था क्योंकि पिताजीसे जो उन लोगोंके मुकदमे हुए उनमें उनके आचार व्यवहार कुछ उच्च न देखे गये। मुझे माला और तसबी दोनोंसे ही और Rosary (इसाई तसबी) तीनोंसे ही घृणा हो गई और कबीरभक्तका गीत कण्ठ हो गया जिसे मैं स्वर सहित गाया करता—

> आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा, गुरु के सबद प्याला हरि-रस पिऊँगा।
> कोई जावे मक्के लै कोई जावे कासी, देखो रे लोको दोहूं गल-फांसी॥
> कोई फेरे माला लै कोई फेरे तसबी, देखो रे लोगो ये दोनों ही कसबी।
> यह पूजें मढ़ियां लै वह पूजें गोरां, देखोरे लोगो ये लुट लई चोरां॥
> कहत कबीर सुनोरी लोई, हम नाहिं किसी के हमरा न कोई॥

मज़हब, सम्प्रदाय तथा Religion परसे मेरा विश्वास उठ गया। मेरा मत यह हुआ कि मज़हब एक ढकोसला है जो चालाक बुद्धिमानोंने आंखके अन्धों और गांठके पूरोंको फांसनेके लिये गढ़ छोड़ा है। मैं अपने आपको पक्का नास्तिक समझकर अपने स्वभावके अनुसार उस पर भी वेगसे वह निकला।

पूजा दर्शनका अंकुश दूर हो ही चुका था, अब श्रद्धाहीन होनेके कारण गङ्गास्नानोंपर क्यों निष्ठा रहनी चाहिए थी। परन्तु नहीं, जो स्वभाव बन चुका था उसका प्रभाव कैसे दूर होता? प्रातःकालका उठना, कसरत कुश्ती और गङ्गास्नान बराबर जारी रहे।

माताजीकी प्रेमभरी गोदसे सदाका विछोड़ा।

शायद वैशाख मासमें माताजी तलवनसे बलिया जाती हुई मेरे पास ठहरी थीं। उस समय उनके सिरमें एक भयंकर फोड़ा था। ज्येष्ठके मध्यमें छुट्टी होते ही मैं बलिया पहुँचा और माता जीके दर्शन किये। बलिया उपनगर को गङ्गा काट रही थीं। हमारा पुराना मकान गङ्गाजीकी भेंट हो चुका था और नया मकान नगरके अन्तिम सिरेपर किरायेपर लिया था, उसके साथ टकरा कर गंगा वह रही थीं। इन दिनों माताजीने मेरे साथ अत्यन्त प्रेमका परिचय दिया। अधिक समय मुझे उन्हींके पास रहना पड़ता था। फोड़ेमें फिरसे पीप भर आई थी और उन्हें अपने बचनेकी आशा नहीं रही थी। चलते समय मुझे, उस निर्बल अवस्थामें ही, गोदमें बैठाकर चूम लिया और आशीर्वाद पूर्वक सकुन पल्लेमें डाल मुझे विदा किया। मेरे आंसू निकल पड़े और मैं बड़ा उदास बनारस लौटा।

परन्तु युवकोंको उदासी देर तक नहीं सताती। मैं माताजीकी बीमारी को भूल गया और 'रेवड़ी स्कूल'के कमरे और आंगन फिर हमारी खिलखिलाहटसे गूञ्जने लगे। मास्टरोंका फिर नाकमें दम होने लगा। अब तुलसीकृत रामायण तो तह करके रख दी गई और उर्दू साहित्यमें प्रवेश होने लगा। उर्दू शाहनामा कईवार समाप्त किया, फ़िसाना-ए-अजायबकी भी सैर की, हातिमताईकी कहानी और उर्दू शायरोंके कलामोंमें गोते लगने लगे। कविता सम्मेलनों (मशायरों) में भी जाने लगा।

श्रावण मासके अन्तिम सप्ताहमें प्रसिद्ध भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रके यहां एक दक्षिणी मार्तण्ड नामी पंडित आये। वह शतावधानी थे। एक ओर दस बारह लम्बे चौड़े हिसाब, दूसरी ओर बीजगणित और त्रिकोणमितिके कठिन प्रश्न, तीसरी ओर विविध प्रश्न और साथ साथ बातचीत। यह सब कुछ करते हुए क्रमानुसार सबके ठीक उत्तर देना। बाबू हरिश्चन्द्र कवि भी अद्वितीय समझे जाते थे। सारस्वत ब्राह्मण कक्कूजीके पुत्रने मेरा उनसे परिचय कराया और उनके यहां मेरा जाना आना आरम्भ हुआ। उर्दू शायरीसे प्रेम हो चुका था, हिन्दी कविताका भी रस मिलने लगा। परन्तु इन दोनोंका मेरे

जीवनपर अच्छा असर नहीं पड़ा। रामचरितमानसके स्वाध्यायने मेरे आचार-व्यवहारकी, आवारगीके दिनोंमें भी रक्षा की थी। परन्तु उर्दू कवियों और भारतेन्दुकी संगतमें मानसिक पवित्रताका भाव ढीला पड़ने लगा। सामनेसे कोई सुन्दरी आ रही है। उसको देखतेही उसके शरीर, वस्त्र, चाल, ढालपर भारतेन्दुजीने कवित्त कहना आरम्भ किया और उसके सामने पहुंचने तक पूरा होगा। कविताका तो यह आदर्श समझा जाता था, परन्तु ब्रह्मचर्य, सदाचार और मानसिक पवित्रतापर कुल्हाड़ेकी चोट लगाई जाती थी। आश्विनके आरम्भमें मेरी अवस्था कुछ डांवाडोल हो चुकी थी, हां, स्काट [Sir Walter Scott] के उपन्यासोंका पढ़ना मैंने आरम्भ कर दिया था। रातको न पढ़नेके नियमको मैं तोड़ चुका था और सचमुच इन उपन्यासोंको आधी राततक चिराग जला कर पढ़ता रहता। स्काटके आचार सम्बन्धी विचारोंने, उस अपेक्षया अन्धकारके समयमें भी, मेरी रक्षा की। ऐसी अवस्थामें एक और घटना हुई जिसने मुझे गिरनेसे बचाया।

आश्विनका दूसरा सप्ताह आ पहुंचा और मैं एन्ट्रेन्सपरीक्षाकी तय्यारीके लिये हिला तक नहीं। ऐसी अवस्थामें मेरे भाई मूलराज, जो मिर्जापुरमें नायब कोतवाल थे, माता जी की बीमारीका तार लेकर मेरे पास आये। उसी दिन ४बजे मेरे नाम तार आया जिससे ज्ञात हुआ कि माताजीका देहान्त हो गया है। मैं ऐसा ज्ञानविमूढ़ हो गया कि न मुंह से आह निकली और न कुछ बोला। आंखें पथरा सी गईं। आँसुओंने भी मस्तिष्क हल्का न किया। इष्टमित्र गङ्गास्नानके लिये ले गये, मेरे मित्र सिंहजीने १५ दिनोंकी छुट्टीके लिये प्रार्थनापत्र लिखकर मेरे हस्ताक्षर करा लिये। मुझे गङ्गा पार रेलवे-स्टेशनपर ले गये, भ्राताजीने हाथ पकड़ कर गाड़ीमें बैठा लिया, मुझे कुछ भी बुध सुध न थी। भाई साहब रो धो चुके थे, इस लिये सो गये। मैं बराबर जागता बैठा रहा। प्रातः डुमरांव उतरे। इक्के पर बैठाया गया, चुपचाप बैठ गया। भाई साहबने मेरी समाधि को हिलानेका यत्न किया परन्तु उनको सफलता न हुई। मार्गमें इक्केका कुछ बिगड़ा और डेढ़ घण्टा अधिक लग गया। दो बजे, भाई मूलराज समेत भूख प्याससे बेसुध बलिया उपनगरसे बाहर छप्परोंमें पहुंचा जहां अन्तिम घर गङ्गामय्याकी भेंट होनेपर पिता जी जा बसे थे। इन्हीं छप्परोंमें माताजीका देहान्त हुआ था। पिताजीको अन्य दो भाइयों और मित्रों सहित शोकगृहमें बैठे देखकर एक आह निकली और रोता हुआ मैं उनके चरणोंमें गिर पड़ा। आंसुओंका समुद्र उमड़ आया। दो घण्टों पीछे होश आया और शरीरकी असाधारण खैंच दूर होकर हलका हो गया।

माताजीकी अन्तिम इच्छाका ज्ञान होते ही मुझमें गम्भीरता आ गई। अन्तिम श्वाससे दो घण्टे पहिले पिताजीका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—" एक ही इच्छा मनमें रह गई। अपने मुन्शीका विवाह मैं अपने हाथों से करती। आप भूलना मत, मेरे प्यारे बच्चेका विवाह उसी हौसलेसे करना

जैसे मैं करना चाहती थी। मैं तो उस दिनकी प्रतीक्षा श्वर रही थी जब मेरा बच्चा वकील बनेगा और मैं अपनी पुत्रवधु सहित उसका ऐश्वर्य देखूंगी। अच्छा भगवानकी यही इच्छा है तो यही सही।" इसके पश्चात् पिताजी गीताका पाठ करते रहे और माताजीने, बिना कोई और बात किये, प्राण त्याग दिये।

जब क्रियाकर्मसे निवृत्त होकर माताजीकी इच्छानुसार ब्रह्मभोज और कङ्गालोंको अन्नदान भी दिया जा चुका तो मैं काशी लौटनेको तय्यार हुआ। पिताजी प्रेमवश मुझे अधिक रोकना चाहते थे, परन्तु जब यह मालूम हुआ कि १० अक्टूबरके पीछे परीक्षाकी फीस न ली जायगी तो दुघड़िया मुहूर्त्त शोध कर मुझे आशीर्वादपूर्वक विदा किया।

परीक्षाकी सरतोड़ तय्यारी।

बनारस लौटते ही मैं स्कूलमें गया, और प्रिंसिपल साहबके कमरेके साथ लगता जो पुस्तकालयका कमरा था वह हम चार कालीजिएट स्कूलसे आये हुओंने परीक्षाकी तय्यारीके लिये मांग लिया। जिन मास्टर साहबके पास पुस्तकालयकी ताली थी, वह खिसियाने होकर बोले—"साल भर तो नाकमें दम कर दिया अब भी नहीं मानते। फेल होकर मुंह काला होगा तो हम तमाशा देखेंगे।" हम चारोंने यह सुनतेही दृढ़ निश्चय कर लिया कि परीक्षामें उत्तीर्ण अवश्य होना चाहिये।

हमारी तय्यारी कुछ भी न थी और घरुपरीक्षाकी आज्ञा होगई। हमें भय हुआ, परन्तु प्रिंसिपल महोदयको हमारी योग्यतापर इतना विश्वास था कि परीक्षा ही न ली और हमारी फीस रजिस्ट्रार को भेजवा दी। तब तो हम दृढतासे तय्यारीमें लग गए। इस तय्यारीमें मेरे केवल १६ दिन लगे। मेरा उन दिनोंका समय विभाग यह था—सांझ को एक घण्टा घूम कर ब्यालू [शामका भोजन] करना। पूरे सात बजे पढ़नेके लिये बैठकर दो बजे तक बराबर इतिहासके घोटने और रेखागणितके प्रश्न हल करनेमें लगते थे। फिर सोकर ६ बजे उठना, कसरत करके घरमें ही स्नान करना और डेढ़ दो घण्टे तक रातके याद किये इतिहासपर एक दृष्टि घुमा जाना—इतने नित्यनियमके पीछे भोजन करके स्कूल ठीक १० बजे पहुंच जाया करता था। दस बजेसे पुस्तकालयके कमरेमें अङ्क तथा बीजगणितके प्रश्न, चारों मिलकर, हल करते। जहां कहीं कठिनाई होती कृपालु कालीबाबू उसे हल कर देते। अंग्रेजी तो सारा साल ही करते रहे थे; आवश्यकतासे बढ़कर उसकी तय्यारी थी। उर्दूके दोहरानेकी कुछ जरूरत ही न थी। भूगोल तो नक्शेके सामने आधा घण्टा नित्य परिश्रम करनेसे अपना बन गया। पुरानी परीक्षाओंके प्रश्न भी हमने हल किये बिना न छोड़े।

जब परीक्षामें चार दिन शेष रह गये तो हमारे प्रिन्सिपल महोदयने एक व्याख्यान दिया जिसमें परीक्षाके सब नियम बतलाकर कहा कि परीक्षासे

एक दो दिन पहले परिश्रम छोड़कर आराम लेना चाहिये जिससे उत्तर लिखते समय शरीर स्वस्थ रहे। मैंने अपने प्रिन्सिपलकी शुभ सम्मतिका इतना आदर किया कि परीक्षासे तीन दिन पहलेही पढ़ना लिखना छोड़ व्यायाम, मटरगश्त, भोजन और आराममें सारा समय व्यतीत किया। मेरे साथियोंने अन्तिम घण्टे तक पढ़ना न छोड़ा। फल यह हुआ कि जहां मैं सेकन्ड डिविजन [Second Division] में प्रथम रहा, वहां मेरे मित्र सिंहजी तो थर्ड डिविजनमें निकल गये, परन्तु शेष दो साथी अनुत्तीर्ण रहे। जब हम दोनों 'रेवड़ी' स्कूलके अध्यापकोंसे मिलकर बिदा हुए तो दोनों ओरसे बड़े उत्तम भावोंका प्रकाश हुआ था।

कुइन्ज कालिजमें पहिले छः महीने

(माघसे आषाढ़ संवत् १९३२ तक)

कालिजकी प्रथम वर्षीय कक्षा [First year class] में प्रवेशसे पहले ही कुछ परिवर्तन आ चुके थे जिन्होंने मुझे उन दिनोंके खयालके अनुसार कालिज जीवनके योग्य बना दिया था। परीक्षाके पीछे जब बड़े दिनकी छुट्टियों-में बलिया गया तो तलवनके नत्थूमल रोज़गारकी तलाशमें पिताजीके पास आये हुए थे। उन्होंने मुझको हुका पीना सिखलाकर पिताजीकी कृपाका प्रत्युपकार किया। १५ दिनोंमें ही सारी घृणा दूर हो गई जो पहिली कश खींचते हुई थी और कालिजमें दाखिल होनेसे पहिले ही मैंने फर्शपर एक शानदार पेचवान लगवाकर अकेलेही महफिल गरमाना शुरू कर दिया था। मित्रमण्ड-लके लिये भी गौरइए [मट्टीके हुके] अलग अलग नाम लिखे रक्खे रहने लगे और धीरे धीरे मेरी बैठकका कमरा हुकइयोंका अड्डा बन गया और शामको दर्बार होने लगा।

इन्हीं दिनों एक रात किसी मित्रके यहां सहभोज था। भोजन और हा! हू! करते रात अधिक व्यतीत हो गई। दस बजे घरकी ओर लौटा। आध मील तेज चलते हुए भी पाव घण्टा और लग ही जाना था। मैं अपने मकानकी ओर जब अन्तिम गलीकी मोड़से निकला तो आगे एक छती हुई गली थी। उसके नीचे एक गुण्डा छुरी लिये किसीपर वार करनेकी घातमें खड़ा था। मुझपर शायद उसी व्यक्तिका उसे सन्देह हुआ। बढ़कर उसने एक हाथ मेरे सिरके पीछे रखा और दूसरे हाथसे माथेकी बाईं ओर छुरी भूंक दी। गुण्डेका हाथ गर्दनपर जानेकी देर थी कि मेरा हाथ भी अपनी कमरकी छुरीपर पड़ा और अभी उसकी छुरी मेरे माथेपर आधा काम ही कर सकी थी कि मेरी छुरी उसकी छातीपर ज़ोरसे पड़ी। गुण्डा मुझे छोड़कर भाग खड़ा हुआ। मेरे माथेसे लहू बहने लगा। मकान समीप था, पहुंचते ही पण्डितजीने रेशम जलाकर मेरे घावमें ठोंसा और मुझे गरम दूध पिलाकर सुला दिया।

यह पण्डितजी कौन थे ? यह बतलाना आवश्यक है। मेरे मकानकी मालकिन एक धनाढ्य खत्री साहूकारकी विधवा थी। पतिके मरनेपर कोई सन्तान न थी, और अपनी युवा अवस्था ; जायदाद सम्बन्धियोंकी आर्थिक सहायता और गुप्त भोग विलासमें वेचकर समाप्त की। अब भी बुढ़ापेमें अपने रहनेका बड़ा और मेरे पास किरायेपर दिया छोटा—दो मकान शेष थे और बहुमूल्य आभूषण थे जिनको वेच वेचकर गुजारा करती थी। मेरी मरहमपट्टी करनेवाले इसी विधवाके कारिन्दे थे। पण्डित रामाधीन मैथिल ब्राह्मण थे और कुछ चिकित्सक होनेके अतिरिक्त जादूगर भी प्रसिद्ध थे। आगे इनका भी प्रसङ्ग आयगा।

कुछ तो ऊपर लिखित कारणों और कुछ रेवड़ी स्कूलमें एक गुण्डे लड़के Bully से कुछ बङ्गाली विद्यार्थियोंकी रक्षा करनेके कारण, मैं कालिजमें प्रविष्ट होते ही एक विशेष दलका नेता बन गया। इस समय अंग्रेजीना वेलोंके पिछले अध्ययनने मुझे अपने सहपाठियोंमें और भी प्रसिद्ध कर दिया। अंग्रेजीके स्थानापन्न प्रोफेसर डाडने नियमपूर्वक डिग्री न ली थी। वह लैंभज्जही थे। एक समय पाठमें एक ऐतिहासिक घटनाका ज़िक्र आया जो साधारण ऐतिहासिक पुस्तकोंमें न मिलता था। डाड साहेबने उस संकेतकी व्याख्या दूसरे दिन पर छोड़ी। मैंने उसी समय एक ऐतिहासिक उपन्यास लाकर वह घटना दिखला दी। कालिजमें मुझे अंग्रेजीमें कुछ परिश्रम नहीं करना था। शेष इतिहास, न्याय (Logic) और फारसी मेरे लिये कठिन न थे। गणितमें विशेष परिश्रम करने लगा। बीज और रेखागणितका तो ऊपरसे भी पर्याप्त अभ्यास करता रहा परन्तु त्रिकोणमितिसे मेरी आरम्भमें ही अनबन हो गई। मैंने अंक, बीज और रेखागणितके द्वारा ही एफ० ए० पास करनेका निश्चय कर लिया।

मेरे कालिजके मित्र

पहिली छ माहीके अन्दर ही गाढ़ी कम्पनीकी बुनियाद पड़ गई थी। उसके सभासदोंका परिचय यहां ही करा देता हूं। पशुपतिशरणसिंह तो 'रेवड़ी स्कूल'से ही मेरे साथ आये थे। उनके पिता नैपाल रेज़िडेन्सीके हेडक्लार्क थे। वह पीछे स्वयम् पिताके स्थानमें नियत हुए। उन्नति करके अलवरके नायब रेज़िडेन्ट (Assistant Political Officer ; और रायबहादुर तथा सी० आई० ई० (C. I. E.) बनकर उनका देहान्त हुआ। जब संवत् १६५१ में मैं अलवर गया था तो वह मुझे मिले थे और अपने बङ्गलेपर ले जा कर पुरानी मित्रताको ताजा किया था। इनका नाम "सिंहजी" रखा हुआ था। दूसरे पक्के सभासद् दयाशङ्करजी थे। सिंहजी राजपूत और दयाशंकरजी कायस्थ कुलभूषण इनके पितामह तथा पिता महाराजा बनारसके यहां नौकर थे, इस लिये उनको दीवानजीकी उपाधि दे छोड़ी थी। सिंहजी साँवले और लम्बे थे, दीवानजी नाटे और गोरे। सिंहजीकी दाढ़ी लम्बी काली। दीवानजीकी चं-

गिर्द भूरी। सिंहजीका मुख गम्भीर, दीवानजीका शरीर सुडौल, दृढ़ और बड़े हंसमुख और धार्मिक दिल्लगीबाज। उनके मजाकमें कभी अश्लील विचार वा शब्दकी गन्ध नहीं होती थी। बी० ए० पास करके यहां तक बढ़े कि महाराजा बनारसके यहां सचमुचके दीवान हो गए और फिर बनारसके स्पेशल मजिस्ट्रेट। बिछुड़नेके पीछे संवत् १६१२ में भागलपुर जाते हुए मैं उन्हें मिला था। हमारा तीसरा सभासद् हरिपद मुकर्जी था। रेवड़ी स्कूलमें एक अक्खड़ विद्यार्थीके अत्याचारोंसे मैंने कुछ बंगाली लड़कोंको बचाया था, उनमें हरि मुख्य था। वह मेरा मित्र बन गया और एक दिन मकानपर ले गया। उसके पिता कलकत्तामें कारबार करते थे और पितामह काशीनिवासके लिये बंगालीटोलामें टिके हुए थे। उन्हींके कारण हरि काशीमें रहता था। जैसा लाहौरीटोला पंजाबियोंका मुहल्ला था वैसे ही बंगालीटोला बंगालियोंका मुहल्ला था। हरिके वृद्ध पितामहने जब सुना कि उनके पौत्रकी मैंने रक्षा की थी तो मेरे साथ उनका स्नेह हो गया। हरि हमारा कोपाध्यक्ष था क्योंकि घरसे अधिक धन इसीको मिलता था और इसलिये हमारा [गाढ़ी कम्पनी] का कोष कभी खाली नहीं रहता था। पुरानी मित्रताको नवजीवन देकर मेरे पास दो तीन महीनेके लिये वह गुरुकुल आनेको ही थे कि उनका देहान्त हो गया। चौथा एक परचूनके दूकानदार खत्रीका भाई था जो रेवड़ी स्कूलमें सहपाठी होनेके कारण परिचित हुआ। दूकानके दोने बनाते और साथ साथ इतिहास रटते और इसपर भी भाईकी लातें खाते देखकर मेरी दृष्टिमें इसका मान बढ़ा। एन्ट्रेन्स परीक्षाकी फ़ीसके दस रुपये तक भाईने न दिये। तब हम लोगों [मैं, हरि और सिंहजी] ने चन्दा करके उसकी फीस दाखिल कर दी, संस्कृतमें अभीसे इतना योग्य था कि श्लोक बना लिया करता था और गणितके लिये तो मानो उसका मस्तिष्क बना ही था। इस विचित्र व्यक्तिका नाम रामकृष्ण था और हम लोग इसको आपसमें मलवा कह कर पुकारा करते थे, परन्तु गाढी कम्पनीसे बाहर उन्हें मल्लजी की उपाधि दे रक्खी थी। बी०ए० में फेल होकर [क्योंकि अंग्रेजीमें सदा कच्चे ही रहे] इन्होंने अकाउन्टेन्ट बननेके लिये परीक्षा दी और अनुत्तीर्ण रहे गणितमें, जिसके वह उस्ताद थे। चाकरीसे घृणा हुई और तब व्यापार की ओर लगे। आप भी धनी बने और भाईको भी अमीर बना दिया। इन्होंने पहिले ताश और शतरञ्जपर पुस्तकें छपवाई थीं और फिर प्रेस खोलकर "भारतजीवन" अखबार चलाया। इनको अन्तिम बार मैं सं० १६८६ में मिला था। अब वह भी भौतिक शरीरको त्याग चुके हैं।

पांचवें गङ्गाप्रसाद थे जो घर पर बी० ए० की तय्यारी कर रहे थे। उनका परिचय सिंहजी द्वारा ही हुआ था और वह हमारे नित्यके साथी भी न थे। यह ग्रेजुएट होकर मुन्सिफ बन गये थे और फिर कभी मुझे नहीं मिले। सिंहजी छुटकी [छोटी] पियरीमें रहते थे, गङ्गाप्रसाद भी उसी मुहल्लेके सि-

वासी थे। इनके सिवाय पण्डित रामजसनका घर भी उसी पियरीमें था और उनका हमारे सिंहजीके पितासे बहुत गाढ़ा सम्बन्ध था। इसलिये उनके यहां मेरा जाना भी हुआ।

पण्डित रामजसनके तीसरे पुत्र, रमाशङ्कर मिश्र, उन दिनों एम० ए० की तय्यारी कर रहे थे। उनका विषय गणित था। सिंहजीसे गाढ़ी कम्पनी का हाल सुनकर वह भी उत्सुक हुए और उन्हें भी अस्थिर सभासद बनाया गया; अस्थिर सभासद इसलिये कि वह भी नित्य हमारे भ्रमणमें शरीक न होते थे। रमाशङ्कर एम० ए० (M. A.) होते ही बनारस कालिजमें गणितके स्थानापन्न प्रोफेसर बने। वहांसे सर सय्यद अहमदने उन्हें अपने महम्मदन एङ्गलो ओरियन्टल (Muhammadan Anglo-Oriental) कालिजमें पूरा प्रोफेसर नियत करके बुलाया। फिर वह स्कूलोंके बड़े निरीक्षक (Circle Inspector of-Schools) बनाये गये और अन्तको रियायती हिन्दुस्तानी सिविल-सर्विस (Statutory Indian Civil Service) में लिये जाकर डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेटी तक पहुंचे थे। इन्हें मैं सं० १८७६ में अलीगढ़ मिला था। फिर भेंट न हुई और अब उनका भी देहान्त हो चुका है।

यह थी गाढ़ी कम्पनी जिसका निर्माण सं० १६७६ की पहिली छमाही में हुआ। हम लोगोंने अपनी नई सांकेतिक भाषा (Cypher language) गढ़ी थी, जिसमें 'चङ्गत, मंगत और पंगत' आदि शब्दोंके प्रकरणानुकूल बीसियों प्रयोग होते थे। हम सबमें दो उपन्यास लेखक बने, एक दीवान साहब और दूसरा मैं। दीवान साहबने तो अंग्रेजी उपन्यास लेखक डिकेन्ज (Dickens) को अपना पथदर्शक बनाया और मैंने सर वाल्टर स्काट(Walter Scott) को गुरु धारा। आदित्यवार दिनको मेरे घरपर दरबार लगता जहां हुका पीते हुए केवल ताश और शतरञ्जके ही सांमुख्य न होते, हमारी शतरञ्ज क्लब (जिसके प्रधान प्रसिद्ध अम्बिकादत्त व्यास और मंत्री बाबू रामकृष्ण थे) केवल लन्दन के चित्रमयपत्र (The London Illustrated News) में दिये शतरञ्जके प्रश्नोंके हल कर के ही कभी कभी पारितोषिक प्राप्त न करती, प्रत्युत हम दोनों नाविलनवीसीमें कलमघिसानेवालों की करतूतोंकी भी पड़ताल होती। उस दिन चक्कर भी लम्बा लगता। पहिली छमाही समाप्त हुई। अब मैं कालिजमें था इसलिये एकके स्थानमें दो मासका वृहदावकाश मिला और मैं पिताजीके पास बलिया चला गया।

बलियामें अन्तिम दो मास।

बलियामें गया तो था अपने पास पुस्तकोंकी जबरदस्त तय्यारीके मन्सूबे बांधकर और उपन्यासके लेख पूरा करनेका विचार भी था। परन्तु यह सब तो कुछ हुआ नहीं उल्टी आवारगी बढ़ गई। जाते ही दारोगा हाफ़िज अलीके बुलाये पहलवानोंके दङ्गल देखता रहा। फिर गणितको ताकमें रख कर केवल ऐतिहासिक पुस्तकों और उपन्यासोंके देखनेमें ही समय नष्ट होने

लगा। शामको चक्कर काशी की अपेक्षा भी लम्बे लगने लगे। बलियामें हिन्दुस्तानी मुन्सिफ और तहसीलदारके अतिरिक्त एक अंग्रेज जन्ट साहब [Joint Magistrate) की भी कचहरी थी। रिचार्ड इवन्स (Richard Evans) उन दिनों जण्ट साहब थे और उनको भी सायंकालके भ्रमणका व्यसनथा। मेरी उनसे मार्गमें भेट होती। मेरे साथ अंग्रेजी साहित्यकी बातचीत करते उन्हें प्रसन्नता होती क्योंकि वहां उन दिनों अन्य कोई भी उनके विचारोंके साथ सहानुभूति रखनेवाला नहीं मिल सकता था। स्काटके वह भी बड़े भक्त थे और मेरी तरह ही अविवाहित। परस्पर औपन्यासिक भङ्ग गाढ़ी छनती थी और शायरका यह कहना ठीक घटता था—"खूब गुजरेगी जो मिल बैठेंगे दीवाने दो।"

इस बार बलियामें आनन्द तो बहुत रहा और हवाई किले भी आश्चर्यजनक बनाता रहा, परन्तु दो प्रकारकी हानि भी हुई। एक तो मुन्सिफ साहबके साथ घोड़ागाड़ीमें सैरके लिये जानेसे प्रातःकालका व्यायाम बन्द हो गया और दूसरे बलियासे चलते समय मुझपर उदासी छा गई। ज्वर की ऋतु भी आ गई थी और बनारस पहुँच कर कोई मित्र न मिला। सिंहजी बीमारीके भ्रममें फंस कर अपने गांव चले गये थे, हरि कलकत्ते चला गया था और दीवान साहबके साथ अभी बहुत गाढ़ा सम्बन्ध नहीं हुआ था और मलजी तो शुष्क चीनी आटेका भाव बतलाने वाले ही थे। मुझे ज्वरके कारण कुछ निर्बलता हो गई और मैं दसहरेका छुट्टियोंसे एक सप्ताह पहले ही अवकाश लेकर फिर बलिया चला गया।

इस बार आनन्दके स्थानमें कुछ मानसिक कष्ट ही रहा और मैं उकता कर लौटना चाहता था कि पिताजीके नाम लार्ड लिटन वाले दिल्ली दरबारके पुलीस कमान अफसरके पास जाकर काम करनेका हुक्म आया। उन दिनों शिक्षाविभाग की प्रान्तिक परीक्षाएं नवम्बरके अन्तिम सप्ताहमें होती थीं। पिताजीने मुझे आज्ञा दी कि परीक्षासे निवृत्त होकर मैं भी उन्हें दिल्ली मिलूं और यदि मेरी यह इच्छा पूरी हो जाती तो शायद उस जादूगर [ऋषी दयानन्द] के पंजेमें फंस जाता जिससे दस बरस पहिले माताजीने मुझे बचानेका प्रयत्न किया था। परन्तु मुझे तो अभी बहुत ठोकरें खानी थीं, इसलिये डुमरांव पहुँचते ही पिताजीको तार मिला कि वह दिल्ली न जायं क्योंकि एक डाकेके मुकद्दमेमें उनसे सहायता लेनेकी आवश्यकता है। पिताजी बलिया लौट गये और मैं काशी पहुँच गया।

काशीमें अन्तिम बार (सं० १८७६ के दसहरेसे जून १८७७ ई० तक)

पाप सागरमें डूबनेकी कहानी।

निवासस्थानपर पहुँचते ही मित्रोंके यहां चक्कर लगाया। सिंहजी अबतक गांवमें थे। और कोई मिला नहीं क्योंकि दसहरेकी छुट्टियां बाकी थीं।

मैंने अखाड़ेमें जाना और गङ्गा स्नान फिर आरम्भ कर दिया। उसी स्थानमें उस सरल पवित्रभावके नाशके सामान पैदा हुए जिसे माताके स्मरण और पिताके जीवित दृष्टान्तने नास्तिकपन और आवारगीके भयानक समयमें भी सुरक्षित रक्खा था। अभी दो दिन कुश्ती की थी, तीसरे दिन प्रातः नियत समयपर गया तो अखाड़ेमें सुनसान थी। पूछनेपर पता लगा कि बृहस्पतिवार का अनध्याय है। मैंने सोचा कि गङ्गा किनारे ही एक आध मील टहलूं तो स्नान करके घर लौटूंगा। धोती आदि घाटियेके पास रख दी और आप राजघाटकी ओर चल दिया। मनिकर्णिकासे आगे बिन्दासिंह पहरेवाला मिला। उसके पूछनेपर आगे जानेका कारण बतला दिया। कुछ दूरीपर सेंधिया घाट है। वह गङ्गाकी बाढ़से हिल चुका था और उसके नीचे एक गुफा सी बन गई थी। उस में कुछ कालसे एक नङ्गा साधु रहता था जो एक समय ही भोजन करता था और वह भी विचित्र नियमसे जो कोई पहले भोजन लाता उसी को स्वीकार करके फिर शेष किसीकी भेंट स्वीकार न होती। इसलिये सैकड़ों स्त्री पुरुष उत्तमसे उत्तम भोजन तय्यार करके ले जाते। अस्तु! सेंधिया घाटके पास पहुंचा ही था कि एक चीखकी आवाज सुनाई दी। दौड़ कर गुफा के पास गया तो किसी स्त्रीका सिर बाहर धर्तीसे लगा और उसकी दोनों बाहें द्वार के दोनों ओर गड़ी हुई दिखाई दीं। अन्दरसे कोई उसको खींच रहा था और वह बाहर निकलनेका यत्न कर रही थी। मैंने जाकर लातें चट्टानमें मजबूतीसे लगाईं और उसकी दोनों बाहुओंको दोनों हाथोंसे पकड़ कर खैंचने लगा। परन्तु अन्दरका पिशाच बड़ा बलवान् और कामान्ध प्रतीति होता था। बेचारी अबलाका दम घुट रहा था। मैंने बिन्दासिंहको पुकारा उसने आकर मुझे दृढ़तासे पकड़ लिया और मैंने दुष्टको डांट बतलाते हुए उस विवश पीड़ित देवीको बाहर खींच लिया। उसकी आयु १६ वर्षसे अधिक न थी। मैंने उस मूर्छित देवीको अलग किया तो एक और अधेड़ स्त्री पास आ गई। उसे मैंने पहिचाना कि हमारे कुलके परिचित एक खत्री ग्रेजुएटकी भौजाई है। मेरे परिचित ग्रेजुएटका कल्पित नाम देवीप्रसाद समझ लीजिये। पता लगा कि जिस देवीके सतीत्वकी रक्षा की गई है वह देवीप्रसादकी दूसरे विवाह की स्त्री है। यह पीछे-से पता लगा कि पति महाशय तो विकालत परीक्षाकी तय्यारीमें अलग लगे रहते हैं और भौजाईको यह फिक्र है कि उनकी देवरानीके सन्तान होनी चाहिये इसलिये ३ बजे तड़के ही खोएकी मिठाई और पूरी आदिका थाल हाथमें देकर सरल हृदय राजरानीको गुफामें भेजकर बाहर खड़ी हो गई। राजरानीके कपड़ों के चिथड़े उड़ गए थे, शरीरमें रगड़ोंसे लहू बह रहा था, और वह कांप रही थी। मैंने बानातकी चादर ओढ़ी हुई थी। उससे देवीका सारा शरीर ढक दिया और जो भीड़ जमा हो रही थी, उससे बचा, दोनों देवियोंको घर पहुंचा कर देवीप्रसादको चौकसा कर आया।

घाटपर लौटा तो उस नङ्गे पिशाचको जूतोंकी मार पड़ रही थीं, और

पुलिसके जमादारादि आ गए थे। एक भली देवीकी इज्जतका सवाल था। मेरे कहनेपर उस पिशाच से नाक रगड़वा और यह प्रतिज्ञा लेकर कि वह फिर कभी काशी नहीं लौटेगा, पुलीसवाले उसे राजघाटसे पार पहुंचा आये। परन्तु हिन्दू समाजकी विचित्र अन्धी श्रद्धाका मुझे उस समय पता लगा जब सं० १८८१ ई० के अगस्त मासमें गाजीपुर जाते हुए मैंने बनारस ठहर कर उसी दुष्ट पिशाचको घाटके मार्गमें नंगे बैठे और स्त्री पुरुषोंको उसकी उपस्थेन्द्रियपर जल पुष्पादि चढ़ाते देखा। प्रयागदत्त जमादारको जब पूछा तो उत्तर मिला— "अरे बाबू! धरमका मामिला ठहरा। अंग्रेज हाकिमौ कतराजात बाटैं।"

इस घटनाको मैंने अपने सरल पवित्र भावके नाशका सामान क्यों लिखा। घटना तो मेरे मन और आत्माको उच्च बनानेवाली थी, परन्तु नास्तिकपनकी लहर और पुराने अंग्रेजी उपन्यासोंके विचित्र आचार शास्त्रने मन की अवस्था बदल छोडी थी। मैंने अपने आपको एक वीर रक्षक (Knighterrant) समझ लिया जिसने एक पीड़ित देवी (Distressed lady) की रक्षा की। अब उस अबला देवीको अपनी प्रिया (Lady love) की उपाधि मनहीमनमें दे ली और अपने आपको उसका सदाका रक्षक (Champion) कल्पना कर लिया। उन्हीं दिनों मेरे मामू महाशयने मुझे कुछ कुछ मद्य पानका अभ्यास शुरू करा दिया था। अब तो मैंने मद्यपवीर (Drinking knighterrant) का पूरा रूप धारण कर लिया। यदि उस रामायणपरसे श्रद्धा न उठ गई होती जिसमें सीताके आदर्श पातिव्रत पर मैंने वारंवार पवित्र अश्रुधारा बहाई थी तो मुझे निश्चय है कि उस गढ़ेसे बच जाता जिसमें गिरनेके पीछे मुझे घोर प्रायश्चित करनेपर ही शान्ति प्राप्ति हुई थी।

यदि अपने प्राचीन इतिहासपर श्रद्धा होती तो पीड़ित स्त्री जातिका रक्षाबन्ध भाई बनकर उनकी रक्षाका व्रत लेता। परन्तु मैंने तो अपनी सभ्यता को जंगलीपन और अपने साहित्यको मूर्खताका भण्डार समझ रखा था, फिर उनसे मुझे सहायता कब मिल सकती थी।

दो तीन दिन बीत गए। मेरे पासके मकानमें, भोई बीबीके यहां, एक सम्बन्धी अपनी युवा पत्नी सहित ठहरा हुआ था। दसहरेके प्रातः विजयदसमीका नहान था। चार घड़ी रात रहते ही मैं धोती उपरना बगलमें ले गङ्गा जानेके लिये निकला। दो कदम नहीं गया था कि एक युवा स्त्री भीड़से घबड़ा कर दूसरी ओरसे इधर हुई। एक दुष्टने इधर उसपर हाथ डाला। मैंने देखते ही जोरसे उसके मुंहपर थप्पड़ मारा और वह दीवारके आश्रय गिरता गिरता बचा। वह स्त्री घबड़ाई हुई आगे जानेसे डरती थी। मैं उसे अपने मकानमें ले आया और तब पता लगा कि उसके पति आगे निकल गए हैं। मैं उसे छोड़ कर गङ्गा तीरे गया। उसका पति उसे तलाश कर रहा था। मैंने उसे शान्त किया और नहा धो उसको साथ लाकर उसकी पत्नीसे मिला दिया। मेरा नौकर दो दिनसे छुट्टीपर था। मैं पूरी लाकर खाना चाहता

था। दोनों पति पत्नी भोई बीबीके यहांसे मेरे मकान में आ गए। भोजन उसी महिलाने बनाया और हम सबने खाया। मेरे मकानके नीचे बड़ी खुली बैठक थी जहां आदित्यवार का विशेष और नित्य साधारण दरबार लगता था। उसके ऊपरकी मञ्जिलमें उतना ही बड़ा कमरा था जिसमें मैं सोया और पढ़ा करता था। तीसरी छतपर एक ओर रसोईघर और दूसरी ओर चौबारा था। मैं अपनी बैठकमें चला गया और उन्होंने ऊपर आराम किया। दोपहर पीछे मैं बाहर चला गया। तीसरे पहर उस सधवा स्त्रीका पति दसहरा देखने चला गया। मैं सिंहजीको लेकर दसहरा देखने जाना चाहता था; परन्तु उनको अभी बीमारीका भ्रम था और वह फिर गांवको जा रहे थे। उन्हें गांवके लिये बिदा करके, उदासीन हो, ६ बजेके लगभग घर लौट आया। उस समय प्रलोभन में फंस गया। हा! बरसोंकी कमाई एक घण्टेमें डूब गई। उस रात मैंने भोजन न किया। रातको व्याकुल रहा। दूसरे दिन प्रातः रामायणका फिर स्मरण आया। गङ्गास्नानके पीछे कह दिया कि मैं अपने मित्रके ग्रामको जाता हूं।

प्रायश्चित्तका आरम्भ

बड़ीसे बड़ी आवारगी में भी जो मन और शरीर शुद्ध रहे थे वे अशुद्ध हो चुके। धोती कुर्ता पहिने था ही; सिरपर टोपी रक्खी, गलेमें दुपट्टा छोड़ा और हाथमें धोती उपरना समेट बेग लेकर चल दिया। सिंहजीके घरसे मार्ग दिखानेके लिए उनके भृत्यको साथ लिया। वह सीधा मार्ग दिखाकर लौट गया। ग्राम चार कोस था। बारह बजे पीछे, बिना अन्नजल किए, अपने मित्रसे जा मिला और जाते ही अपनी गिरावट, की कहानी सुनाई। मित्रको अपनी बीमारी भूल गई; मुझे शान्त करनेमें लग गये। सब सुनकर मुझे निर्दोष बतलाया। इस प्रकार तसल्ली कठिन थी। सिंहजी स्वयम् विवाहित थे और गम्भीर भावके सदाचारी। उन्होंने विवाह पूर्वकी अपनी व्यवस्था सुना और पापका प्रायश्चित्त बतलाकर मुझे शान्त किया। मेरे आत्मिक रोग की चिकित्सा में धर्म भाईका शारीरिक रोग आपसे आप दूर हो गया। दूसरे दिन इकट्ठे ग्राममें रहे, तीसरे दिन हम दोनों लौट आए। फिर कालिज जाना आरम्भ किया और गाढ़ी कम्पनीके लम्बे भ्रमणोंमें सब कुछ भुला दिया।

काशी लौटनेके दूसरे दिन देवीप्रसाद मिले। मालूम हुआ कि मेरे पीछे दो तीन बार आ चुके हैं। उन्होंने बतलाया कि उनकी धर्मपत्नी मुझे भोजन के लिए निमन्त्रण देती है। मैं झिझका तब उन्होंने कहा कि अपनी भौजाई का कर्तूत देख वह भाईसे जुदे हो गए हैं और अब अपनी माताके साथ रहते हैं। असल मतलब परिवारका यह था कि मेरा धन्यवाद करें। मैं दूसरे दिन उनके यहां गया; परन्तु कुछ फल लेता गया। प्रातः सीताहरण की कहानी फिरसे पढ़, आंसू बहा, हृदय को शुद्ध कर चुका था। जाते ही फल रख कर कहा—"बहिन राजरानी! तुम्हारे लिए फल लाया हूं।" राजरानी पर इसका

क्या असर हुआ, उसका वर्णन पीछे उसके पति ने किया। फिर दिवालीके पीछे भाईदूज आई। मेरी यज्ञोपवीत के समयकी धर्म वहिन उस समय काशीमें न थी। वह प्रत्येक भाईदूज पर मेरे माथे में टीका लगा, हाथमें मौली बांध, पल्लेमें मिठाई डाला करती थी। मुझे धर्म वहिनका कुछ ख़याल आया और काममें लग गया कि इतनेमें अपनी सास सहित राजरानी पहुंच गई—"भइय्या! भाईदूज पर टीका करने आई हूं" यह शब्द सुनते ही मैंने सिर पर टोपी रख, गलेमें दुपट्टा ले लिया। नई धर्म वहिन ने टीका लगाया, रक्षाका व्रत दिया और मिठाई आगे की जो मैंने श्रद्धासे ग्रहण की। फिर दो रुपए भेंट देकर भगिनीको विदा किया। मानसिक प्रायश्चित्त अभीसे शुरू हो गया। इसके पश्चात् मैंने स्त्रियोंको मिलनेसे वचना आरम्भ कर दिया और माताजीके परिचित परिवारोंमें जाना भी त्याग दिया।

मद्य मांसके साथी जुएका आक्रमण

इस वार दिवालीपर मैथिल पण्डितकी प्रेरणासे मैं उसके बैठाए जुए-के फड़पर जा पहुंचा। काशीमें उन दिनों दिवालीके सम्बन्धमें सरकारी ढिंढोरा पिट जाता और चार दिन खुलेवन्दों जुआ खेला जाता। फड़दार प्रत्येक सोलह गण्डेकी जीतपर तो दो पैसे 'नाल' के लेकर वर्तनमें डाल ही लेता परन्तु नालसे तिगुनी चौगुनी ज़मीन वढ़ जाती। ज़मीन कैसे वढ़ जाती? फड़दारने पैसोंका ढेर लगा दिया। उसीमें से पैसे काट कर वाजी लगानी पड़ती। सोरही (सोल्ही) अर्थात् सोलह कौड़ी चारीवालेके हाथमें है। "तीनजी, पांचजी, चारजी, छजी" कहकर वाजी वदी जा रही है। सोरही फैंकी और शोर मच गया—"वह मारे पांच" चार छ वाली, पैसोंकी ढेरियां तो फड़में डाल दी गईं परन्तु तीन पांच वालोंका हिसाव होने लगा। फड़दार-ने शीघ्रतासे पैसे गिने; कई स्थानमें तीन पैसेका आना गिना और एक आध गंडा वैसे हाथकी चालाकीसे वढ़ा दिया। गिनकर ढेरी तो जीते हुए जुआरीके आगे धकेल दी और हारे हुएके नाम उतने गण्डे लिख लिये। पहिले दिन तो मुझे केवल जुआरियोंको फांसनेके लिए वैठाया गया था और मुझे भी गदहेकी योनिसे वचनेके लिए अपने परिवारके साथ कौड़ियों और रेवड़ियोंसे जुआ खेलनेका अभ्यास था; परन्तु दूसरी रात मुझे भी प्रलोभनने आ घेरा और रात-को मैंने डेढ़ डेढ़ दो दो सौ गंडोंके दांव तक खेल डाले। कभी पचास रुपये तक जीत लिए, कभी साठ सत्तर तक हार दिए। तीसरी दिवालीकी रात थी। पिताजीकी शिक्षा थी कि जव हाथ ऊपर अर्थात् जीत हो तो उठ खड़े होना चाहिए। उस रात पहले मैं २००) हार गया फिर पासा वदला। सव उतार कर शायद चार रुपयेसे कुछ ऊपर जीते थे कि मैं उठ खड़ा हुआ। मैथिल जादूगर पण्डितने वहुतेरा समझाया कि हाथ ऊपर है दो तीन सौ लेकर उठो। परन्तु मेरी प्रकृति और स्वभाव विचित्र है। मुझे अपने जुएके गिरे हुए दुरा-

चारी साथियोंकी गंदी बोलचालसे उसी रात घृणा हो गई और मैंने एक दम उनसे किनारा कर लिया।

ऊपरकी घटना पढ़कर भ्रम होगा कि मुझ नास्तिकको गदहेकी योनि मिलनेपर विश्वास कैसे बना रहा। परन्तु मैं भी विचित्र प्रकारका नास्तिक था। उस नास्तिकपनके (संवत् १९३२ से संवत् १९४१ तक) दस वर्षोंमें भी जहां मेरा पुनर्जन्मपर विश्वास बना रहा वहां योगपर भी इतनी श्रद्धा बनी रही कि हठयोगके कुछ प्रयोग मैंने उसी समयमें साधे थे। परन्तु अन्य अंशोंमें भी पतृक तथा बाल्यावस्थाके संस्कार बड़ी कठिनाईसे दूर होते हैं।

मनोरञ्जक सैर।

अस्तु! अपने पाठ्य विषयों और पाठ्य पुस्तकोंमें परिश्रम करते हुए भी अंग्रेजी साहित्यके भण्डारके कण चुनता रहा और अब उपन्यासोंको छोड़ इङ्गलिश पद्य (English poetry) का मैदान नापने लगा। इंग्लिस्तानके कालिदास शेक्सपियर (Shakespeare) के कवितापूर्ण नाटकोंका इन्हीं दिनों स्वतन्त्र अध्ययन किया। जब वर्षके अन्तमें परीक्षा हुई तो अंग्रेजीमें मेरे लब्धाङ्क (marks gained) ६७ प्रतिशतक थे।

छुट्टियोंमें बनारस ही रहा क्योंकि प्रिन्स आव वेल्ज उन दिनों आनेवाले थे और उनके स्वागतकी बड़ी तय्यारियां हो रही थीं। उन सात दिनोंमें गाढ़ी कम्पनीने खूब सैर किये और सर्वसाधारणके बड़े बड़े जमघटे देखे परन्तु उनमेंसे एक ही मनोरञ्जक बात सुनानेके योग्य है। उन्हीं दिनों बनारस में एक बड़े हस्पतालकी बुनियाद पड़नेवाली थी। उसकी आधारशिला प्रिन्ससे रखायी जानी थी। मार्ग सारे शहर मेंसे जाता था, इसलिये जलूस निकलना था। सड़ककी दोनों ओर दर्शकोंकी प्रातःकालसे ही भीड़ थी। प्रिन्स के आनेमें अभी कुछ घण्टे थे। देखादेखी सब आ गये परन्तु अनपढ़ोंको इतना भी पता नहीं कि किसकी सवारी देखने आये हैं। एकने हम लोगोंसे पूछा तो हमने बतला दिया कि शाहजादा आता है। प्रश्न हुआ "कौन शाह जादा?" उत्तर मिला—"महाराणी विक्टोरिया का बेटा" अब तो चौधरी अकड़ कर चलने लगे और एक गोलमें जा धमके। वहां यही अनुमान हो रहे थे कि कौन आता है। चौधरीजी कड़कके बोले—"अरे! तू का जानत हम बतलाइत हैं। अरे! बिस्तुइआ क बेटवा आवत बाटै।" हम सुन रहे थे। हंसते हंसते पेटमें बल पड़ पड़ गये। 'बिस्तुइआ' बनारसी बोलीमें कहते हैं 'छपकली' को। कहां ताज पहिने हाथमें शाही शासनदण्ड लिये मोटी ताज़ी महाराणी विक्टोरिया और कहां छपकली!!

प्रिन्स एडवर्ड (पीछे बादशाह एडवर्ड सप्तम) आये और चले गये। मैं फिर पढ़ाईमें लग गया। जो थोड़ी शराब पीनेकी आदत मामूंजीने अपना मद्य पीनेका व्यसन पूरा करनेको लगा दी थी वह छूट गई और मैं मित्रों सहित

फिर से ऊंचे मानसिक वायुमण्डलमें विचरने लगा। संवत् १९३४ के आरम्भसे ही पदार्थ-विज्ञान (physical science) की पढ़ाई शुरू हो गई। न्याय (Logic) के साथ रसायन शास्त्र (Chemistry) को जोड़ दिया गया और प्रोफेसर लक्ष्मीशंकर मिश्रने विना रसक्रिया के उनके रसायन पढ़ाना आरम्भ कर दिया। पढ़ाई नियमपूर्वक चलती रही।

माघमें समाचार आया कि पिताजी की बदली बलियासे मथुरा को हो गई है। फिर सारा सामान बलियासे किश्तीमें मेरे पास आ गया जो सब नीलाम कर दिया गया। केवल वह सामान रह गया जो सीधा अपने घर तलवन भेजना था। मेरा विवाह जुलाई के अन्तमें होने वाला था। पिताजीने नई बैठक बनवाई थी। उसके लिए एक दस बत्तीका झाड़, चार हाँडियाँ और आठ दीवारगीर खरीद कर रख दिये थे और उनका घर भेजना मेरे सपुर्द कर गए। इधर होली आई और गाढ़ीकम्पनीने उसे बड़े समारोहसे मनाया। धुलहड़ीके दिन शामको यह सूझी कि गुण्डोंका रूप धारण करके चलना चाहिए। हम चार थे। दो पटनिये वांके इक्के किराये किये। जंघातक धोती पहिन, दोनों मोढ़ोंके दोनों ओर दुपट्टा डाल, सिरकी चुंदी (शिखा) खड़ी बांध, नङ्गे सिर कमरमें छुरी लगाए और हाथमें डंडा लिए, एक एक इक्के पर दो दो बैठ कर चल दिए। इक्के छन छन करते पहुंचे। इक्के से उतर एक गौनहारियोंके गिर्दकी भीड़में घुस चले। धक्का लगते ही एक गुण्डोंकी टोली टर्राई और हमें धक्के देने लगी। हममें से दो अच्छे लाठी चलाने वाले थे। मार पीट शुरू हो गई। हम लोगोंने उन्हें अधिक मारा। पुलिसके आते ही हम चारो चम्पत हुए और इक्कों पर पैर रखते ही हवाकी तरह उड़ गए। भाग कर घर पहुंचे और बहुरूप उतार कर फिर सभ्य विद्यार्थी बन गए। हमारा तो किसी को पता भी न लगा परन्तु दस पन्द्रह गुण्डे पकड़े गए जो कि पुलिसकी भेंट पूजा करके छूट गए। प्रण तो किया कि आगेको ऐसा बहुरूप धारण न करेंगे, परन्तु दो दिन पीछे ही कुछ और सूझी।

बनारसमें होलीके पीछे जो मङ्गल आता है उसे बुढ़वा (बुड्ढा) मंगल कहते हैं। उस रातसे शुरू होकर बृहस्पतिवार की सारी रात तक गङ्गामें किश्तियां छूटी रहती हैं। उन्हींमें नाच तमाशे होते हैं। सात सात किश्तियां बांध कर बड़े कमरे सजाये जाते हैं जिनमें रण्डी लौंडोंके नाच और भांड भडेलोंके तमाशे होते हैं—(उस समय होते थे, अब मालूम नहीं क्या हाल है) मङ्गलके सवेरे सूझी कि तमाशा देखने को एक बड़ी किश्ती सजाई जावे। हरि ने और मैंने रुपए दिए किश्ती किराए कर ली गई। सजाने को समय थोड़ा था; सामान खरीदने का काम मलजीके सपुर्द किया गया। लट्ठे लेकर चारो ओर बढईसे गड़वा लिए, ऊपर बल्लिएँ बांधलीं, बल्लियोंके ऊपर नीचे किराये पर लेकर दोहरी दुसूती लगा दी गई, गिर्दा गिर्द कागज़ काट कर झालर लग गई। मेरे यहां पड़े झाड़ादि टांग दिए गए। लट्ठोंको सफैदे-

से रंगकर उसपर कागज़की बेल लपेटी गई जो बाफते की बेल को मात करती थी, दरियां और गलीचे दीवान साहब मांग लाए। २० वा २५ कुर्सियां प्रोफेसर रमाशंकर कालिजसे उठवा लाये और सजावट पूरी हो गई। पियरीके एक कायस्थ मुखतार साहबके साहबज़ादे सितारमें वाजपेयीजीके शागिर्द थे। उन्होंने एकतमोटी लाकर कमरेके पीछे लगा दी और सितार तबलेका भी रङ्ग जम गया। नौ बजे रातको न केवल गाढ़ी कम्पनीका मित्रदल ही पहुंच गया प्रत्युत एक एक दर्शक सब साथ लाए। प्रोफेसर रमाशंकर मिश्र, एम० ए० स्वयम् पंजाबी बंधेजका पग्गड़ बांध कर आये जो उन्होंने कलकत्तेमें राय मूलराज, एम० ए० पंजाबीसे सीखा था। राय मूलराजने उसी साल कलकत्तेमें प्रेमचन्द रायचन्द छात्रवृत्ति (Premchand Roychand Scholarship) की प्राप्तिके लिए परीक्षा दी थी और कृतकार्य हुए थे। रमाशंकर तो जैसे ग्रांडील जवान थे वैसे ही पग्गड़से दुगने रुआबदार बन गए परन्तु अपने साथ एक अंग्रेजको ले आए। किश्तीके ऊपर बड़ा झन्डा फहरा रहा था जिसके एक ओर लिखा था—Knowlege is power (विद्या ही बल है) और दूसरी ओर लिखा था—'गाढ़ी कम्पनी'। फिर क्या था, जिधर हमारा शान्दार दर्बार-हाल पहुंचता सब किश्तियें हट जातीं, यहां तक कि कोतवालकी गश्ती नाव को भी चीरता हुआ हमारा कच्छा अच्छेसे अच्छे तमाशोंके समीप पहुंच जाता। बृहस्पतिवारकी रातभर आवारागर्दीकी गश्त करते हुए शुक्रवारके प्रातःकाल हम सब उतर आए और सब सामान अपनी अपनी जगह चला गया। इस बार मुझे मेलेके पीछे उदासीने घेर लिया क्योंकि मेरे आत्माके अन्दरसे उसके विरुद्ध आवाज उठ रही थी। बुढ़वा मङ्गलकी समाप्ति कर भङ्ग पीनेका अभ्यास सारे मित्रमण्डल को हो गया।

एक सप्ताह पीछे मेरे प्यारे मित्र हरिका भगिनीका कलकत्तेमें विवाह था। वह आग्रह करके मुझे ले गया परन्तु वहां रहना दो दिन ही हुआ। सिवाय विवाहके घर और बङ्गाली धनाढ्योंके सहभोजके और कुछ न देख सका।

इस स्थानमें एक घटनाका सङ्केतमात्र करके उसके विस्तारमें नहीं जाऊंगा। माघ संवत् १ ३४ के आरम्भमें, मैथिल पण्डित द्वारा हसन खां जिन्नीसे भैंट हुई थी उसके विषयमें जो चमत्कार प्रसिद्ध थे उनमें से कुछ मैंने भी देखे थे। उस समय उनका [हल] मुझे नहीं सूझा था परन्तु अब उनकी तथा मैथिल पण्डितकी जादूगरीकी असलियत मेरे लिये स्पष्ट हो गई है।

पिताजीने मुझे ज्येष्ठके अन्तमें ही बुलाया था इस लिए आषाढ़के प्रथम दो सप्ताहकी छुट्टी लेकर चल दिया। विचार यह था कि विवाहसे निवृत्त हो कर काशी लौट आऊंगा और वहां ही एफ. ए. का परीक्षा दूंगा; इस लिए मेरे मित्र मुझे सदाके लिए विदा करने नहीं चले थे। गङ्गापार जाकर मित्र-मण्डलने रेलमें बैठाया। चलते हुए सबके आंसू भर आए। मैं मार्गमें उदास रहा। परन्तु रात बीतने पर जब प्रातः मेंडूके स्टेशनसे ट्रेन बदलकर छोटी ट्रेन

(Mathura Hathras Light Railway Train) में बैठा तो नए दृश्योंको देख मित्रों का बिछोड़ा भूल गया। एन्जन बग्घीकी चाल चल रहा था, ड्राइवर और गार्ड दोनों हिन्दोस्तानी थे—जहां गांव आया ट्रेन खड़ी करके रोटी खाने लग गए। फिर ट्रेन ज़रा तेज चला ली। आमके वृक्ष दिखाई दिये तो कच्ची अम्बियें तोड़ने की सूझी। ट्रेन मथुरा पहुंची और पिताजी की भेजी गाड़ीमें बैठकर मैं डेरे पर पहुंचा।

मथुरामें दस दिन और विवाह की धुन

मथुरामें पिताजी छुट्टी पर गए हुये असिस्टेण्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिसके स्थानापन्न होकर आये थे और असाढ़के पीछे उन्हें बरैलीकी कोतवालीका चार्ज लेना था। इस लिये उन्हें मेरे विवाहके लिये दस दिनकी ही छुट्टी मिल सकती थी। मेरे सब भाई अपने परिवारों सहित तलबनमें इकट्ठे थे। मुझे भी, दस दिन मथुरामें रख और विवाहका सब सामान देकर, तलवन को विदा कर दिया।

मथुरामें नए दृश्य और नए मिलने वाले। नई बोली भी कुछ कुछ बोलने लग गया था। मथुरा वृन्दावनके मन्दिरोंकी खूब सैर की। द्वारिकाधीश की मूर्ति मथुरामें लाने वाले सेठ लखमी चन्दके पुत्र सेठ (पीछे राजा) लछमनदास, सी. एस. आई. (C.S.I.) ने मुझे खूब सैर कराई। दो पहर उन्हींके खसकी टट्टियों और पंखों वाले कमरेमें व्यतीत किया करता—कारण यह कि सेठजी अपने अंग्रेज परिचितोंको पत्र मुझसे लिखाया करते थे। विशेष परिश्रम मैंने भारतके बड़े लाटके नाम ब्रजकी परिक्रमाकी सीमामें गोरोंका शिकार बन्द करानेके लिये प्रार्थनापत्र तय्योर करनेमें किया था। मैं नास्तिक था, परन्तु मन्दिरोंमें जाकर मूर्तिको भी प्रणाम कर लेता था। मेरा अमल अंग्रेजीकी इस लोकोक्तिपर था—When you go to Rome do as the Romans do. "गङ्गा गए गङ्गादास यमुना गए यमुनादास" किसीके दिल दुखाने से क्या लाभ? परन्तु मन्दिरमें ही, और वह भी पुजारियोंके सामने, समालोचना भी पूरी कर डालता।

मथुराकी दो बातें नहीं भूलेंगी। एक तो चौबोंका ब्रह्मभोज (नहीं चौबे भोज) और दूसरी गोकुलिये गुसाईं जी की लीला। चौबे भोजका मेरे जानेपर पिताजीने विचार किया। हमारे चौबेजी बोले—"यजमान मनके दस निमन्त्रित किये जांय वा मनके चार।" ऐं! क्या तौलमें चार चार और दस दस सेरके चौबे भी होते हैं। नहीं, मतलब यह कि मनभर उत्तम भोज्यपदार्थ दस बांटकर खांय या चार ही चट्टमकर जायँ। यही ठहरी कि मनके चार निमन्त्रित हों। चारोंकी जुन्डी थी और उनके नाम थे—(सोटा + मोटा + छोटा + लँगोटा) चौबे। निमन्त्रणके साथ ही एक एक दतवन और छटांक छटांक भर भङ्ग भेज दी गई। भङ्ग इस लिए कि प्रातः विश्राम घाटपर पहुंचते ही चौबेजी

पत्थरपर भङ्गका रगड़ा लगा गोली बांध कंठसे नीचे कर लें। इस भङ्गका नाम था कागावासी। आठ बजे चारों चौबे कृष्णगोपीलीला गाते और नाचते कूदते हुए हमारे डेरे पर पहुँचे। उनके चरण पखारकर आसन दिए गये। आज्ञा हुई—"लाओ यजमान भोगविलासी।" डेढपाव भङ्ग भिगो रक्खी थी। चौबे जी ने धोई। खूब रगड़ा लगाया। फिर उसमें बादाम और इलायची मिलाकर पीस डाला, दूध छोड़ दो लोटे पानीमें गड्डमड्ड करके पहिले द्वारिकाधीश को भोग लगा। एक छोटी कटोरी भर वहां निकाल कर बांटी गई। एक कटोरी भर हमें मिली जो पिताजी, मैं, पाचक, कहार और अरदली बांट कर पी गए। शेष चारों चौबोंने चढ़ाली। ११ बजे भोजन तय्यार हुआ—"चलो चौबेजी! बाल भोग तय्यार है" चौबेजी की आंखें बन्द हैं; बोले—"यजमान! आसनपर ले चल" हाथ पकड़ उठाया, चरण धोए और आसनपर बैठा दिया। पहिले डेढ़ डेढ़ सेर लच्छेदार मलाई अन्दर गई, आंखें खुलीं और मांग शुरू हुई। दो दो सेर पेड़े, उनपर भाजी पकौड़ी आदिके साथ तीस तीस पूरियोंकी तह, फिर खुर्चन, फिर उतनीही पूरियोंकी तह, फिर हलवा और अन्तमें मलाईकी पूर्णाहुति। हाथ धुला कर हथेलियों पर एक एक रुपया दक्षिणा रखी गई और चौबेजीको प्रणाम किया। परन्तु चौबे अभी खड़े हैं—"यजमान! अब सत्यानासी भी मिल जाय।" छटांक छटांक भर भङ्ग और दी गई तब चौबेजी हिले। पिताजीको भ्रम था कि कहीं इन चौबोंके पेट न फट जायं और ब्रह्महत्याका पाप उन्हें लगे, परन्तु जब शामको मैं विश्रान्त पहुंचा तो सत्यानासीके रगड़ेमें सब कुछ भस्म करके चारों चौबे कुश्ती लड़ रहे थे और इस प्रतीक्षामें थे कि कोई 'लडुआ खिलानेवाला यजमान' मिल जाय।

दूसरी गुसाईंजीकी लीला थी। दक्षिणके एक डिप्टीकलेक्टर व्रजयात्राको आये थे। उनकी धर्मपत्नी और एक लड़का और एक लड़की साथ थे। पुत्र ६ वा ७ वर्षका और पुत्री १४-१५ वर्षकी। वह कुमारी देवी अंग्रेजी भी पढ़ी हुई थी। मुझसे उनका परिचय हो चुका था, क्योंकि काशी तीर्थसेवा करके वह मेरे साथ ही मथुरामें पहुंचे थे। एक दिन गोपाल मन्दिरकी झांकी थी। मैं भी गया था। पांच बजे शामका समय था। मेरे साथ एक सफेदपोश पुलीसका हेडकान्स्टेबल था। उससे गुसाईंजी दबते थे, क्योंकि वह था उनके घरका भेदी। मुझसे उसने कहा—"चलो बाबू! गुसाईंके अन्दरके महलकी सैर करा लाऊं।" मैं साथ होलिया। दर्बान ने यह कहकर रोका कि विशेष चेले दर्शन कर रहे हैं, जानेकी आज्ञा नहीं। परन्तु "सन्यासी, गुरु, चपरासी" को कौन रोकनेवाला था। हम दोनों अन्दर गये। बहुत कमरे और उतनी ही भूल भूलइयांवाली गलियां। अभी पांच मिनट ही घूमे थे कि चीखकी आवाज सुनाई दी। पास वाले कमरेका दरवाजा झटकेसे खोल कर अन्दर गये। एक अबला कुमारीको गुसाईंजी अपनी ओर खींच रहे थे और वह छुड़ा कर भागनेकी चेष्टा कर रही थी। पास एक अधेड़ स्त्री खड़ी थी।

गोसाईंने कुमारीको छोड़ खड़ी कृष्णमूर्तिकी ओर इशारा करके कहा—
" भगवानके दर्शनसे यह घबरा गई थी, मैं चुप कराता था " कुमारी बोली—
" Don't believe him sir. He caught hold of me while I was touching his feet. Then I cried O! take me to my father." (इसका विश्वास न कीजिये। मैं इसके चरणस्पर्श कर रही थी तब इसने मुझे पकड़ लिया। तब मैं चिल्लाई। आह! मुझे पिताके पास ले चलो) जमादार साहबको तो गुसाईंजीसे समझौता करते छोड़ा और मैं उस कुमारीको सीधा उसके पिताके पास ले गया जो उसे नीचे न पाकर ऊपर तलाश कर रहे थे। मालूम होता है कि ये सब फैले हुए घूम रहे थे कि वह अधेड़ स्त्री कुमारीको कृष्णपूजाके लिये अन्दर ले गई। स्वयं गुसाईंजीके चरणस्पर्श करके अलग हो गई और कुमारीको चरणस्पर्शके लिये आगे बढ़ा दिया। यह वही दक्षिणी डिप्टीकलेक्टर थे जो मेरे साथ आये थे। उनको बड़ा दुःख और क्रोध हुआ। उसी समय गुसाईंजीके यहांसे उठकर दूसरे मकान में चले गये। मुझसे उन्हीं ने कहा कि इस मूर्त्तिपूजासे ही उनका विश्वास उठ गया है और वह अब अन्य किसी तीर्थपर न ठहर कर सीधे अपने देशको चले जायंगे।

विवाहमें उत्सुकता और निराश लौटना।

मथुरासे चलते ही विवाहकी धुनने सब कुछ भुला दिया। इंग्लिश-कवियों और उपन्यास-लेखकोंका सत्सङ्ग साथ था। मैंने अपनी भविष्य की धर्मपत्नी के विषयमें उत्तम से उत्तम उपन्यास की नायका की कल्पना कर ली। मैंने अपनी धर्मपत्नीके लिये बहुतसे सामान इकट्ठे किये थे और यह समझ लिया कि आगामी प्रेममय जीवन आनन्द का कटेगा। जन्मभूमि में पहुंचकर माता जी का स्मरण आया। मेरे आंसू भर आये। मेरी सबसे बड़ी भौजाई मुझसे ३० वर्ष बड़ी थीं। उन्होंने आंसू पोंछे और माथेको चूम कर मुझे शान्त किया। मैंने उनको माता रूप में स्वीकार किया। पिताजी विवाह से तीन दिन पहले आये। बरात बड़े धूम धामसे चढ़ी। नास्तिक ने बुढ़िया पुराणके आगे सिर झुका कर आंख मूंद सब कुछ किया। वधूकी आयु बारह वर्ष की थी। कहारिनकी संरक्षामें उसे जालन्धरसे तलबन लाया गया। मैं उससे गांठ जोड़े नाई, ब्राह्मण, मुसलमान पीरकी कबर और देव मन्दिरादि में शकुन और आशीर्वाद प्राप्त करनेकी खातिर लिये फिरा। मुझे उसका मुख देखना भी नसीब न हुआ और ससुरालका बूढ़ा सिर्त उसे विदा कराके ले गया। पिताजी तो चले गये थे और मुझे डेढ़ मास पीछे बरेली पहुंचनेको कह गये।

मैं विवाहके धूमधड़क्केसे निवृत्त होकर बहुत ही निराश हुआ। मैंने समझा था कि वधु युवा मिलेगी परन्तु वह अभी बाल्यावस्था में ही थी। फिर यह निश्चय किया कि मैं उसे स्वयम् पढ़ाऊंगा और इस विचार ने मुझे बहुत सन्तोष दिया। परन्तु उसे मुझसे मिले विना ही विदा होना पड़ा। फिर

कुछ धैर्य बन्धा जब सुना कि महीने पीछे मुकलावा (द्विरागमन) होगा। उस बार भी दो दिन घर रखकर, बिना मुझसे परिचय कराये ही, बड़े भाई साहबने बिदा कर दिया।

मैंने उसी समय बालविवाहकी कुप्रथाके भयङ्कर परिणाम अनुभव किये थे और इसी लिए आर्यसमाजमें प्रवेश करते ही मैंने इसके संशोधनमें बड़ा भाग लिया। मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाह का ख़याल ही मेरे अन्दर न डाला जाता तो काशीसे ग्रेजुएट बनकर मैं किसी अन्य ऊंची दशामें चला जाता। कमसे कम यदि धर्मपत्नीकी आयु १६ वर्षकी होती और परस्परकी प्रसन्नतासे आंखें खोल कर विवाह होता तो मैं उस अंधकूपमें गिरनेसे बच जाता जिसमें आगामी दो अढ़ाई वर्ष गिरा रहा।

बरेलीमें अढ़ाई सालका

अन्धकारमय जीवन

बरेलीमें संवत् १९३४ के आश्विनमें मैं पहुँचा और चैत्र संवत् १९३७ में पिताजीके साथ खुर्जे चला गया। इस अढ़ाई सालके जीवन पर पर्दा ही पड़ा रहता तो मैं सन्तुष्ट होता। परन्तु मुझे अपने जीवनकी घटनाओंको स्पष्ट खोल-कर इसलिए रख देना है कि मेरे देशके युवक उससे शिक्षा पाकर संसारयात्राके अन्दर गढ़ों और ठोकरोंसे बच सकें। पहले तीन महीनोंमें ही बरेलीकी हवाने मुझे चारों ओरसे घेर लिया। मैंने चाहा था कि देशसे सीधा बनारसका रास्ता पकड़ूं, परन्तु पिताजीने बरेली बुला लिया। वहां पहुँच कर उन्होंने कहा कि दस दिन और ठहर कर जाना। इस अन्तर में मेरे कई नये मित्र उत्पन्न हो गये। बरेलीके रईसोंका उस समय विशेषण यह था कि चाहे कितना ही धनाढ्य क्यों न हो जब तक उसके यहां कमसे कम दो घोड़ों वाली एक चौपहिया गाड़ी (Chariot), घरमें डाली हुई एक वेश्या नहीं और कुछ हज़ार रुपया ऋण न उठा चुका हो तबतक वह, सेठ साहुकार, ज़मीन्दार भले ही कहलावे, रईस पदवी का अधिकारी नहीं बनता था। मेरे पहिले मित्र राय लछमीलाल साहब कायस्थ बने जिनके यहां चार पांच फिटनगाड़ियां थीं, दो हाथी बन्धे रहते थे और जिन्होंने घरमें एकके स्थान में दो वेश्याएं डाल रक्खी थीं। उस समय अभी ऋणी नहीं हुए थे परन्तु पीछे लाखोंका ऋण उठाकर मरनेसे पहले बहुत सी जायदाद (ग्राम और महल) ठिकाने लगा गये। और भी साधारण रईस मित्र बने, परन्तु सबसे अधिक गाढ़े मित्र हकीम लल्लाजी थे जिनका मकान और बगिया (वाटिका) हमारे दर्जी- चौकवाले घरके साथ ही लगे हुए थे। रईसोंके यहां तो रुपया ख़र्च कर नाच मुजरे होते और शराब के दौर उड़ते परन्तु लल्लाजी सब रामजनी (हिन्दुनी) वेश्याओंका विना पैसा कौड़ी लिए इलाज करते थे, इस लिए वह जब आज्ञा देते तो उनके यहां मुफ़्त

मुजरा ही न होता प्रत्युत मिठाई आदि की भेंट भी पहुंचती। एक और भी बात थी। लल्लाजीकी बगियामें अनारका पेड़ था जिसके साथ नई वेश्याका विवाह करानेको लाते थे। साठ वरसकी उमर, ठिंगना कद, बदन सुर्ख और सफेद, डंड चढ़े हुए कसरती बदन और उमंगें सब जवानोंकी सी। नाम तो नन्दकिशोर था, परन्तु छुटपनसे लल्लाजी ही प्रसिद्ध थे। मैं बहुत बीमार हो गया था, वैद्य और डाक्टरने अपनी दवाइयोंसे और बिगाड़ दिया। काढ़ों और अंग्रेज़ी दवाइयोंसे मुझे पहले ही घृणा थी। मैंने जुएखानेमें आदमी भेज हकीम लल्लाजीको बुलाया। आये और नाड़ी देखी, दो तीन खरी खोटी वैद्य और डाक्टर को सुनाई; गुलाबजलमें बिही का शर्बत मिला और एक आधमाशे की पुड़िया उसमें घोल, पिला दी। दूसरे दिन मैं साफ़ हो गया। निर्बलता रह गयी थी, उसके लिए एक स्वादिष्ट चटनी बना दी जो एक दिन छः सात बार चाटनेसे दूसरे दिन उठकर स्नान किया और चटनी चाटकर बाहर घूमने चला गया और तीन मीलका चक्कर लगाकर लौटा।

हकीम लल्लाजीके जुएको फड़को संवत् १६१६ में पिताजीने पकड़ कर सज़ा कराई थी। अब तक जुएकी लत ऐसी लगी रही कि जुएखानोंका दर्वाजा नहीं छोड़ते थे। प्रातःकालके पीछे लोग बीमारोंको लेकर जुएखानेमें पहुंचा करते थे। हकीम साहब के एक हाथमें "कापतैन" और दूसरे हाथमें बीमारकी नब्ज़। उधर पौबारहकी गूंज उठी और इधर नुसख़ा लिखा गया। हकीम मार्के का था, दिल्लीके प्रसिद्ध हकीम महमूदखांका सहपाठी था; परन्तु था पक्का लठैत, बदमाश और जुएबाज़। और बदमाशी तो दूर हो गई, जुएकी लत ने अभी तक पीछा न छोड़ा। मैंने कहा कि यदि मेरे साथ सम्बन्ध रखना है तो जुएको अन्तिम प्रमाण कर दो। बहादुर लल्लाने मुझसे प्रतिज्ञा की और उसको निभाया। फल यह हुआ कि उससे सैकड़ों उन बीमारोंको लाभ पहुँचा जो उसके इलाज से वंचित रहते थे और उसकी स्थिर आय भी बहुत बढ़ गई।

इलाहाबाद कालिजमें एक वर्ष (सं० १६३५ वि०)

ऊपर लिखी अवस्था हो चुकी थी। पहिले पिताजीने मोहवश जाने न दिया और अब मैं हिलना नहीं चाहता। रायसाहबकी एक फिटन नित्य सवारीके लिए हाजिर, नाच रङ्ग बिना कोई सप्ताह खाली न जाता, और फिर पिताजीके मातहत पाँचों थानोंपर हुकूमत; ऐसा चढ़ा हुआ नशा मुश्किलसे उतरता है। गुसाईंजीने सच कहा है—

अस नर को उपज्यो जगमाहीं। प्रभुता पाय जाहि मद नाहीं॥

दिसम्बर ऐसे बीता। संवत् १६३५ वि० का पौष मास आ पहुँचा। मैंने काशीमें निचली श्रेणीके साथ पढ़नेमें संकोच किया। इलाहाबाद (प्रयाग) को प्रस्थान कर दिया। पिताजीने वहाँके कोर्ट-इन्सपेक्टर मुंशी भैरोंदयालके नाम

पत्र दिया था। वह कटरामें रहते थे। मुझे भी उसी, शहरसे अलग, मुहल्लेमें स्थान किरायेपर ले दिया और मैं इलाहाबाद कालिज (Muir Central College Allahabad) में दाखिल हो गया। उस समय कालिज का अपना भवन न था, एक कोठीमें कालिज लगता था जिसे लाउदर कासल (Lowther castle) कहते थे। अब वह कोठी, अहाते सहित, महाराजा दर्भङ्गाने खरीदी हुई है।

मैं म्योर कालिजमें दाखिल हो गया। फिर जीवनमें परिवर्तन आ गया। मद्यपानसे एकदम मुक्त हो गया। नियमपूर्वक पढ़ाई शुरू हो गई। मैं कालिजकी द्वितीय वर्षीय कक्षा (Second year class) में फिर सम्मिलित हुआ। अंग्रेजी प्रिंसिपल हैरिसन पढ़ाते थे। गणितके अध्यापक प्रोफेसर बूफ्लावर (Boutflower) थे जिनकी निज़ाकतकी धूम थी। उनका रेशमी रूमाल लेवेण्डरकी सुगंधसे पूरित रहता था। प्रोफेसर हिल रसायन (Chemistry) पढ़ाते थे। उन्होंने संयुक्त प्रांतमें पहला रस-क्रिया-भवन खोला था। फारसीके प्रोफेसर मौलवी ज़काउल्ला देहलीवाले थे; और संस्कृतके पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य, जो पीछे हिन्दू युनिवर्सिटीके Pro Vice-chancellor हो गए थे। उपाध्याय मण्डल बड़ा उत्तम था। छः महीनों तक जीवन समावस्थामें चला। वाग्वर्धिनी सभामें भी विशेष भाग लिया। प्रत्येक सप्ताह किसी विषयपर एक भाई निबंध पढ़ता और शेष विद्यार्थी विवाद में भाग लेते। मिस्टर सय्यद महमूद और पण्डित अयोध्यानाथके बड़े विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान भी अपनी सभामें कराए। प्रोफेसर हिल मुझसे विशेषतः प्रसन्न थे क्योंकि मैं न केवल रसायनकी क्रिया-प्रयोग (experiments) में ही कालिजके समयसे पीछे उनका सेवक रहता, प्रत्युत कङ्कड़ालोजीमें भी उनका साथ देता।

मेरे पाठक पूछेंगे कि और आलोजिएं (ologies) तो बहुत सुनी हैं, यह कङ्कड़ालोजी क्या बला है? मैं बतलाए देता हूँ। प्रोफेसर हिल छुट्टियोंमें चुनार आदिक पहाड़ोंमें जाते और विविध प्रकारके पत्थर कङ्कर जमा करते और सबके जुदे जुदे गुण लिखकर एक आलमारीमें रखते जाते। मैंने भी अपने भाई मूलराजजी थानेदार 'कौन' (जिला मिर्जापुर) को लिखकर कई प्रकारके पत्थर मँगाए थे। उन्हें प्राप्त करके मेरे विद्याप्रिय प्रोफेसर मुझपर बड़े प्रसन्न थे और रस-क्रियाभवनका एक सहायक मैं भी समझा जाता था। अपने अधिकार का लाभ अपने मित्रोंको भी पहुँचाया करता। सोडावाटर भरनेकी छोटी मशीन तजरुबे दिखानेको मँगाई गई थी। हिल साहब के आनेसे पहिले कई बार सोडावाटर खींचकर मित्रोंको पिलाया। इस प्रकार सारा समय विद्याका चर्चामें ही व्यतीत होता था। प्रतापचन्द्र मोज़ुमदार आये, अन्य व्याख्याता आये, कोई भी व्याख्यान सुने बिना न छोड़ा। पढ़ाई भली प्रकार चली।

गर्मियोंकी छुट्टी होते ही बरेली को चल दिया। मार्ग में कानपुर उतर कर, ऊंट गाड़ीमें बैठ हमीरपुर पहुंचा। उस ज़िलेके एक थानेमें भाई आत्माराम थानेदार थे। घोड़ेकी सवारी ले वहां पहुंचा और पांच छ दिन उनके

पास काटकर फिर कानपूर लौट आया। कानपूरसे लखनऊ और फिर वहां से बरैली पहुंचकर १॥ महीना पिताजीके पास काटा। इस बार अंग्रेज़ीके मनोविज्ञान शास्त्र(Mental Philosophy)का स्वाध्याय शुरू किया था और कुछ आरम्भक पुस्तकें साथ ले गया था।कालिजमें रसायन (Chemistry) के साथ न्याय (Logic) का विचित्र मेल था, इसलिए Logic को सार्थक करनेके लिए मनोविज्ञानका उसके साथ मेल कर दिया।

बरैलीमें इस बार मद्यप तथा नाच रङ्गके प्रेमी मित्रोंसे अधिकतर किनारा ही था। प्रातः भ्रमणार्थ पैदल जाकर छ वा सात मीलका चक्कर लगा आता, और सायंकालको अपनी वेगनट गाड़ी (wagonette) में छावनी की ओर हवाखाने जाता। पिताजीने अपने लिये बरैली-कार्ट और परिवारके लिये वेगनट बनवा ली थीं। वेगनटमें जो मुश्कन घोड़ी जुतती थी वह बड़ी ज़बरदस्त थी। नौ सवारियां बैठा और एक साईस पीछे खड़ा करके मैं अपनी गाड़ी कई बार तेज़ जोडियोंसे भी आगे निकाल ले जाता। एकबार बग्गियों-की दौड़में भी मुश्कन ने इनाम लिया था। वेगनटका नाम मैंने कुलवसीटल रख छोड़ा था क्योंकि कईबार जब परिवारके सात वा आठ प्राणी विद्यमान थे, उन सबको चढ़ाकर हवा खिलाई थी। छुट्टियां समाप्त करके मैं प्रयाग लौटा। फिर पढ़ाई चल पड़ी। परन्तु मैं मनोविज्ञानकी पुस्तकोंमें ऐसा निमग्न हुआ कि परीक्षाकी तय्यारीकी सुध भी भुला दी। परीक्षा दिसम्बरके प्रथम सप्ताहमें होनेवाली थी; नवम्बर आ पहुंचा और मैं अभी अन्य उधेड़बुनमें लिप्त था। उससे कैसे छुटकारा पाकर मैं परीक्षाका तय्यारीमें लगा—इसकी कहानी शिक्षादायिनी है।

अहिंसाका प्रबल विजय

मैं बतला चुका हूं कि मैं विचित्रनास्तिक था जो योगाभ्यास और उसको विभूतियोंपर विश्वास रखनेवाला था और साथ ही हठ प्रक्रियाओंका प्रयोग भी करता था। बरैलीमें और वहांसे लौटकर प्रयागमें कुछ विशेष परिश्रम किया, परन्तु कुपथके कारण बीमार हो गया। मैंने सुना कि त्रिवेणी पार झूंसीके जङ्गलमें एक महात्मा रहते हैं जिनके वशमें एक शेर है। दिनको अन्तर्धान रहते हैं; केवल रातको उनके दर्शन हो सक्ते हैं। मैं, अपने मित्र बुद्धसेन तिवारी सहित जिनको मेरी संगतने ही योगकी ओर झुकाया था, सिदौसी भोजनसे निवृत्त होकर शामको पार उतर गया। इधर उधर घूमते हुए दस बजे आश्रमके समीप पहुंचे। एक वृद्ध, केवल कोपीनधारी महात्मा-को समाधिस्थ मैदानमें बैठे देखा। तीन बजे तक न उनकी समाधि खुली और न हमारी आंख झपकी। तीन बजेके लगभग शेर की गरज सुनाई दी। फिर वह सीधा महात्मा की ओर आता दिखाई दिया। समीप पहुंचने पर उनके पैर चाटने लगा। महात्मा ने आंखें खोलीं, शेरके सिरपर प्यारका हाथ फेरा

और कहा—"बच्चा! आ गया, अच्छा अब चला जा" शेरने शिर चरणोंमें रख दिया, और उठकर जङ्गलकी राह ली। उसी समय हम दोनोंने पैर छू कर महात्माको प्रणाम किया और इस अद्वितीय विभूतिपर आश्चर्य प्रकट किया। महात्माका उत्तर कभी नहीं भूलता—'यह कोई विभूति नहीं है बच्चा! इस शेर के किसी शिकारी ने गोली मारी थी। इसके पैर में ऐसा घाव लगा कि यह चल नहीं सक्ता था और व्याकुलता से हृदयवेधक शब्द कर रहा था। शायद प्यासा था। मैंने लाकर पानी पिलाया और जङ्गलसे अपनी जानी हुई एक बूटी लाया और रगड़ कर इसके पैर में लगाई। घाव अच्छा होने लगा। जबतक मैं दवाई लगाता रहता यह नित्य मेरे पैरको चाटता रहता। जब सर्वथा निरोग हो गया तब भी इसका व्यसन नहीं छूटा। नित्य मेरी उपासना की समाप्ति पर आजाता है। सुनो बच्चा? अहिंसाका अभ्यास और सेवा व्यर्थ नहीं जाते।" हमपर जो प्रभाव पड़ा वर्णन नहीं किया जा सक्ता। मैंने अपने साधनों और बीमारीकी कहानी सुनाई। महात्माने बतलाया कि हठयोग की क्रियायें शरीरके लिये हानिकारक सिद्ध होती हैं और कैवल्यके मार्गसे विमुख कर देती हैं। तुम राजयोगका अभ्यास करो और इनको छोड़ दो। बीमारीके दूर करने को उन्होंने ब्राह्मी बूटीका एक विशेष सेवन बतलाया। उन्हें मालूम हो गया कि मेरी परीक्षा समीप है और इसलिये आज्ञा दी कि जब मैं परीक्षासे निवृत होकर उनकी सेवामें उपस्थित हूंगा तब वह मुझे राजयोग का उपदेश करेंगे।

परीक्षाका परिणाम

परीक्षा आरम्भ होनेमें पूरा एक महीना बाकी था। फिर इन्ट्रेन्सवाला प्रयोग दोहराया गया। इस बार एक घण्टे पहिले भी पढ़ना न छोड़ा। व्यायाम बन्द हो गया था। रातको तीन घण्टोंसे अधिक नींद नहीं लेता था। तबीयत गिरी हुई सी रहने लगी। पहले तीन दिनोंके पर्चे बहुत अच्छे किये। अङ्ग्रेजी, फारसी, गणितमें उत्तम परिणाम निकलने की आशा हुई। तीसरी रात प्रत्यक्ष ज्वर हो आया। प्रातः उसे दवा और स्नान भोजन करके फिर परीक्षा भवनको चल दिया। प्रातः (Logic) न्याय का प्रश्नपत्र मिला। ६ में से ५ प्रश्नोंके ही उत्तर लिखे थे कि ज्वर ज़ोर कर आया! आंखें बन्द हो चलीं। मैं उठकर रसक्रिया भवनके बरामदेमें बेंचपर जा लोटा। प्रोफेसर हिल ने देखा तो लेजा कर पुस्तकालयके मेजपर डाल दिया। डाकृरको बुलाकर यत्न कराया कि मैं किसी प्रकार रसायनका पर्चा कर सकूं। परन्तु—

'मरज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की'

मुझे सरसाम हो गया। चार बजे हिलसाहबकी बग्घीमें मैं डेरे पर लाया गया। मुंशी भैरो दयालजी से इलाज कराया। तीसरे दिन ज्वर उतरा

और मैं निर्बल अवस्थामें ही बरेलीको चल दिया। महात्मासे राजयोगकी शिक्षा प्राप्त करनेका मामला बीचमें ही रह गया। परिणाम जब निकला तो प्रथम तीन विषयोंमें ७० प्रतिशतक लब्धाङ्क निकले। न्यायके ५० मेंसे २५ और रसायनमें शून्य। इन दोनोंमें इकट्ठे उत्तीर्ण होना चाहिए था। यदि रसायनके ५० मेंसे ८ भी मिल जाते तो एफ. ए. में पास हो जाता। हिल साहबने युनिवर्सिटीके साथ पत्र व्यवहार भी किया, परन्तु हो कुछ नहीं सक्ता था।

बरेलीमें घोर अन्धारका जीवन

प्रयागका एक वर्ष मेरे लिए कलियुगमें त्रेताकी लड़ीके समान बीत गया। जनवरी १८७९ में फिर अच्छा स्वास्थ्य लेकर प्रवेश किया परन्तु परीक्षा की अकृतकार्य्यताका "ग़म ग़लत" करनेके लिये शराबके प्याले में उसे बहाने की कोशिश की। पहले पहल नाचादि से तो किनारा ही रक्खा परन्तु रातको "एकशा नम्बर वन" ब्रांडीकी बोतल और गिलास मेज पर रखकर बारह बजे तक Locke on Human Understanding और Bacon's Advancement of Learning and Essays ऐसी मस्तिष्कको हिलाने वाली पुस्तकोंके पाठमें बिताया। इधर सिद्धान्तपर सिद्धान्तमें योजना और उधर गिलासपर गिलासको गलेसे नीचे उतारना! एक सप्ताहके पश्चात् ही शयन समय तक पूरी बोतल समाप्त हो जाने लगी। उधर छावनीके पारसीका बिल बढ़ने लगा और इधर फिरसे रईसोंकी महफिलोंमें शरीक होने लगा। पिताजी प्रातः पूजापाठ करके ५ बजे कोतवाली चले जाते। दिनका भोजन वहीं जाता। रातको आठ बजे लौटकर भोजनसे निवृत हो ९ बजे सो जाते। पीछे सारी रात मेरे अधिकारमें ही होती। मेज़पर किताबें पड़ी देख पिताजी यही समझते रहे कि मैं दूसरे वर्षकी परीक्षाके लिये पुस्तकें देखता रहता हूं। इस प्रकारका जीवन पूरे सात मास तक चला। तब मालूम हुआ कि यदि एफ० ए० की पुनः परीक्षा देनी हो तो किसी कालिजके द्वारा ही दी जा सकती है। गाढ़ी कम्पनीके सभासद रमाशंकर मिश्र एम० ए० सर सय्यद अहमदके नये महम्मदन कालिज अलीगढ़के गणितोपाध्याय थे। उन्हें पत्र लिखा। वह बड़े प्रसन्न हुए और मुझे बुला लिया। प्रोफेसर साहबका ही मैं अतिथि बना। वह भी खूब पीने लग गये थे। छूतछातको भी प्यालेकी चूलीमें बहा चुके थे। उस समय अभी कालिजके अमीर विद्यार्थियोंका शासन कठिन हो रहा था।

मेरे अलीगढ़ पहुँचनेसे तीन दिन पीछे कालिज खुला। इतने दिन भाई रमा की सितारका आनन्द लिया और एक बार उनके बंगलेमें मुजरा भी हो गया। कालिज तो खुला, परन्तु अलीगढ़में हैजा (विशूचिका रोग) फूट निकला था। एक मास की फिर छुट्टी हो गई और मैं बरैली लौट आया। बरैली लौट कर दो तीन दिन पीछे एक विवाह की दावतमें लाला भाइयों (कायस्थों) ने निमन्त्रण दिया। हमारा मकान मुहल्ला दर्ज़ी चौकमें था और उस

में कायस्थोंके सिवाय शायद एक दो हमसे ही किरायेदार रहते थे। विवाहवाला घर हमारे साथ लगता ही था। महफ़िलमें जाते ही कुल्हड़ मिला। औरोंके यहां जाम (प्याला) चलता है, लाला भाइयोंके यहां बढ़ियासे बढ़िया शराब भी कुल्हड़ोंमें ही परोसी जाती है। शायरने उदार लाला भाइयोंकी प्रशंसा में क्या ही अच्छे शेर कहे हैं—

ददाके लला हैं बड़े आली हिम्मत, कि थर्रात है जिनसे रुस्तुमको दादा।
वे अपना पियत नाईं निसफौ कुचरिया, रफीकनके बखशत हैं मटकनके मटका॥

लगा ठर्रेका दौर चलने। पहिला कुल्हड़ आधा खाली करके मैंने शेष शराब चुपकेसे गिरा दी। विचित्र दशा देखी। दोनों समधी दावतमें शरीक थे। लड़कीके पिताकी जांघपर १० बरसका दुलहा बैठा, और लड़केके पिताकी गोदमें नौ बरसकी लड़की बैठी। उन दोनोंको भी साथके साथ पिलाते गये। ऊपर ललाइनोंमें दौर चल रहा था। इधर नीचे नाच हो रहा था। वेश्याको भी शराब पीनेके लिये मजबूर किया गया। उसने मुंह लगा कर सरङ्गीवालेकी सहायतासे पीछे उंडेल दिया। रण्डी भडुवे घबरा गये और छुटकारेकी सोचने लगे। इतनेमें एक बुढ़ऊ उठे और पतुरिया (वेश्या) का हाथ पकड़ नाचने लगे। ऊपर छतसे ढोलक बजने और ताली पिटने लगी। मुझ अकेलेको होशमें देखकर रण्डी भडुवोंने हाथ बांध कर रिहाईकी दर्ख़ास्त की। मैंने बुढ़ऊका दूसरी ओर ध्यान खींचा। हाथ छुटते ही रण्डी, भडुवे सब बिगटट भागे। तब तो एक को वमन हुआ और मुझे घृणा हुई। मैं मार्गवालों को डांट कर बाहर निकल गया और चलते हुए बाहर की कुण्डी लगा दी। यह दृश्य बड़ा घृणित था, परन्तु घरमें उस रात पिताजी न थे। एक विशेष डाकेकी खबर सुनकर कोतवाली सोये थे। मैंने लौट कर एक नई शराबका जाम पिया जो उसी दिन खरीद कर लाया था। उसने अन्धा कर दिया और मैं अपने जीवनमें दूसरी बार ऐसा पतित हुआ कि पुरानी गिरावटका संस्कार फिर जाग खड़ा हुआ। छः घण्टे बेहोश सा पड़ा रहा, परन्तु आत्मा में कोलाहल मचा हुआ था। अभी अन्धेरा ही था जब उठकर विवाहवाले घर का कुण्डा खोल दिया। प्रातःकाल भ्रमणार्थ दूर निकल गया और एकान्त में बैठकर अनुताप करता रहा। उस दिन शामको लौट कर ही भोजन किया।

दूसरे दिनसे ही काया फिर पलट गई। नाच, तमाशे, दावतोंमें जाना बन्द हुआ और रातको फिलासोफीका स्वाध्याय शुरू हो गया। बोतल और गिलास भी कुछ कालके लिये विदा हो गये।

ऋषि दयानन्दका सत्सङ्ग।

"नायमात्माप्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन।"

१४ श्रावण संवत् १९३६ के दिन स्वामी दयानन्द बांसबरेली पधारे। ३ भाद्रपदको चले गये। स्वामी महाराजके पहुंचते ही कोतवाल साहबको और

हुकुम मिला कि पण्डित दयानन्द सरस्वतीके व्याख्यानोंके अन्दर फिसादको रोकनेका बन्दोबस्त कर दें। पिताजी स्वयं सभामें गये और स्वामी जी महाराज के व्याख्यानोंसे ऐसे प्रभावित हुए कि उनके सत्सङ्गसे मुझ नास्तिककी संशय निवृत्तिका उन्हें विश्वास हो गया। रातको घर आते ही मुझे कहा— "बेटा मुंशीराम! एक दण्डी संन्यासी आए हैं, बड़े विद्वान और योगिराज हैं। उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे संशय दूर हो जायंगे। कल मेरे साथ चलना।" उत्तरमें कह तो दिया कि चलूँगा परन्तु मनमें वही भाव रहा कि केवल संस्कृत जानने वाला साधु बुद्धिकी बात क्या करेगा। दूसरे दिन बेगम बाग की कोठीमें, पिताजीके साथ पहुँचा जहां व्याख्यान हो रहा था। उस दिव्य आदित्य मूर्तिको देख कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई; परन्तु जब पादरी टी. जे. स्काट और दो तीन अन्य युरोपियनोंको उत्सुकतासे बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट वक्तृता नहीं सुनी थी कि मनमें विचार किया— "यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान दङ्ग हो जायं।" व्याख्यान परमात्माके निज नाम ओ३म् पर था। वह पहले दिनका आत्मिक आह्लाद कभी भूल नहीं सका। नास्तिक रहते हुये भी आत्मिक आह्लादमें निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।

उसी दिन दण्डी स्वामीसे निवेदन किया गया कि टाउनहाल मिल गया है इसलिए कलसे व्याख्यान वहां शुरू होंगे। स्वामीजीने उच्च स्वरसे कह दिया कि सवारी समय पर पहुंच जाया करेगी तो वह तय्यार मिलेंगे।

टाउनहालमें जबतक "नमस्ते" "पोप" "पुरानी, जैनी, किरानी, कुरानी" इत्यादिक परिभाषाओंका अर्थ बतलाते रहे तबतक तो पिता श्रद्धासे सुनते रहे, परन्तु जब मूर्तिपूजा और ईश्वरावतार का खण्डन होने लगा तो जहां एक ओर मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी वहां पिताजीने आना बन्द कर दिया और एक अपने मातहत थानेदारकी ड्यूटी लगा दी। २४ अगस्तकी शामतक मेरा समय विभाग यह रहा कि दिनका भोजन करके दोपहरको ही बेगम बाग की कोठी पहुँच ड्योढ़ी पर बैठ जाता। २॥ और ४ बजेके बीचमें जब ऋषीका दर्बार लगता तो आज्ञा होते ही जो पहला मनुष्य आचार्य्य ऋषिको प्रणाम करता वह मैं था। प्रश्नोत्तर होते रहते और मैं उनका आनन्द लेता रहता। व्याख्यानके लिए २० मिनिट से पहले सब दर्बारी विदा हो जाते और आचार्य्य चलनेकी तय्यारी कर लेते। मैं अपनी 'बेगनट' पर सीधा टाउनहाल पहुँचता। व्याख्यानका आनन्द उठाकर उस समय तक घर न लौटता जबतक कि आचार्य्य दयानन्दकी बग्घी उनके डेरेकी ओर न चल देती। २५, २६, २७ अगस्त को ऋषि दयानन्दके पादरी स्काटके साथ तीन शास्त्रार्थ हुए। विषय प्रथम दिवस, पुनर्जन्म, द्वितीय दिन ईश्वरावतार, और तीसरे दिन यह था कि 'मनुष्यके पाप बिना फल भुग्ते क्षमा किए जाते हैं वा नहीं'। पहले दो दिन लेखकों में मैं भी था। परन्तु दूसरी रातको मुझे सन्निपातज्वर हो गया और फिर

आचार्य दयानन्दके दर्शन मैं न कर सका। ३० श्रावणसे ६ भाद्रपद (१५ से २५ अगस्त) तक ऋषि-जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाएं मैंने देखीं, जिनमेंसे उन्हीं कुछ एकको यहां लिखूंगा जिनका प्रभाव मुझपर ऐसा पड़ा कि अबतक वे मेरी आंखोंके सामने घूम रही हैं।

मुझे आचार्य दयानन्दके सेवकोंसे मालूम हुआ कि वह नित्य प्रातः शौचसे निवृत्त होकर, केवल कौपीन पहिरे लट्ठ हाथमें लिये, ३॥ बजे बाहर निकल जाते हैं और ६ बजे लौटकर आते हैं। मैंने निश्चय किया कि उनका पीछा करके देखना चाहिये कि बाहर जाकर वह क्या करते हैं। दबदब-ए-कैसरी अखबारके एडिटर भी मेरे साथ हो लिये। ठीक ३॥ बजे बाहर निकलकर आचार्य चल दिये। हम पीछे हो लिये। पाव मील धीरे धीरे चलकर वह इस तेज़ीसे चले कि मुझसा शीघ्रगामी जवान भी उन्हें निगाहमें न रख सका। आगे तीन मार्ग फटते थे। हमें कुछ पता न लगा कि किधर गये। दूसरे प्रातःकाल हम अढ़ाई बजेसे ही घातमें उस जगह छिपकर जा बैठे जहांसे तीन मार्ग फटते थे। उस विशाल रुद्रमूर्त्तिको आते देखकर हम भागनेको तय्यार हो गये। वह तेज़ चलते थे और मैं पीछे भाग रहा था। मेरे पीछे बनिये एडिटर भी लुढ़कते पुढ़कते आ रहे थे। बीचमें एक आध मीलकी दौड़ भी रुद्र स्वामीने लगायी। परन्तु वहां मैदान था, मैंने भी उनको आंखसे ओझल न होने दिया। अन्तको पाव मील धीरे धीरे चल कर एक पीपलके वृक्ष तले बैठ गये। घड़ीसे मिलाया तो पूरे डेढ़ घण्टे आसन जमाये समाधिमें स्थित रहे। प्राणायाम करते नहीं प्रतीत हुए, आसन जमाते ही समाधि लग गयी। उठकर दो अंगड़ाइयां लीं और टहलते हुए अपने तत्कालीन आश्रमकी ओर चल दिये।

एक सनीचरके व्याख्यान पीछे श्रोतागणको बतलाया गया कि दूसरे दिन (आदित्यवारको) नियत समयसे एक घण्टा पहले व्याख्यान शुरू होगा। आचार्यने उसी समय कह दिया कि यदि सवारी एक घण्टा पहले पहुँचेगी तो मैं उसी समय चलनेको तय्यार रहूंगा। आदित्यवारको लोग पिछले समयसे डेढ़ घण्टे पहले ही जमा होने लगे। हाल (व्याख्यान-भवन) खचाखच भर गया परन्तु आचार्य न पहुंचे। पाव घण्टा, आध घण्टा भी बीत गया परन्तु बग्घीकी घड़घड़ाहट न सुनायी दी। पौन घण्टा पीछे ऋषि दयानन्दकी विशाल मूर्ति, उन्हीं वस्त्रोंसे अलंकृत जो उनके चित्रमें दिखाये जाते हैं, ऊपर चढ़ती दिखायी दी। मध्यकी डाटके नीचेवाली एक ओरकी दीवारमें सोटा टेककर, ईश्वर-प्रार्थनाके लिये बैठनेसे पूर्व उन्होंने कहा—"मैं समयपर तय्यार था परन्तु सवारी न आई। बहुत प्रतीक्षाके पीछे पैदल चल दिया। मार्गमें पिछले नियत समयपर ही सवारी मिली। इस लिये देरी हो गयी। सभ्य पुरुषो! मेरा कुछ दोष नहीं है। दोष बच्चोंके बच्चोंका है जो प्रतिज्ञा करके पालन करना नहीं जानते।" यह संकेत खजाञ्ची लक्ष्मीनारायणकी ओर था जिनके अतिथि होकर उनको

बेगम बागवाली कोठीमें स्वामी दयानन्द रहते थे। बाबू लक्ष्मीनारायण सरकारी पांच खजानोंके खजाञ्ची थे और बरैलीमें उस समय करोड़पति समझे जाते थे।

एक व्याख्यानमें वह पौराणिक असम्भव तथा आचारभ्रष्ट कहानियोंका खण्डन कर रहे थे। उस समय पादरीस्काट, मिस्टर एडवर्ड्स कमिश्नर, मिस्टर रीड कलेक्टर, १५ वा २० अन्य अंग्रेजों सहित, उपस्थित थे। आचार्यने अन्य कहानियोंमें पंचकुंवारियोंकी कल्पनापर कटाक्ष किया और एकसे अधिक पति रखनेवाली द्रौपदी तारा मन्दोदरी आदिके किस्से सुनाकर श्रोतागणके धार्मिक भावोंको अपील की। स्वामीजीके कथनमें हास्यरस अधिक होता था, इसलिये श्रोतागण थकते न थे। साहब लोग हंसते और आनन्द लूटते रहे। फिर आचार्य बोले—"पुरानियोंकी तो यह लीला है, अब किरानियोंकी लीला सुनो! यह ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारीके पुत्र उत्पन्न होना बतलाते, फिर दोष सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप परमात्मापर लगाते और ऐसा घोर पाप करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते।" इतना सुनते ही कमिश्नर और कलेक्टरके मुँह क्रोधके मारे लाल हो गये परन्तु आचार्यका भाषण उसी बलसे चलता रहा और अन्त तक ईसाई मतका ही खण्डन होता रहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही खजाञ्ची लक्ष्मीनारायणको कमिश्नर साहबके यहांसे बुलावा आया। साहबने कहा—"अपने पण्डित स्वामीको समझा दो कि सख़्तीसे काम न लिया करें। हम ईसाई तो सभ्य हैं, वाद-विवादकी सख़्तीसे नहीं घबराते परन्तु यदि जाहिल हिन्दू मुसलमान भड़क उठें तो तुम्हारे पण्डित स्वामीके व्याख्यान बन्द हो जायँगे।" खजाञ्चीजी यह सन्देश आचार्यतक पहुंचानेकी प्रतिज्ञा करके लौटे। खजाञ्चीजी चाहते थे कि बात छेड़नेवाला कोई अन्य मिल जाय जिससे वह आचार्यकी झाड़से कुछ कुछ बच जायँ। जब कोई खड़ा न हुआ तो मुझ नास्तिकको आगे किया गया। परन्तु मैंने यह कहकर अपना पीछा छुड़ाया कि खजाञ्ची साहब कुछ कहना चाहते हैं क्योंकि कमिश्नर साहबने उनको बुलाया था। अब सारी मुसीबत खजाञ्ची-जीपर टूट पड़ी। खजाञ्ची साहब कहीं सिर खुजलाते हैं, कहीं गला साफ करते हैं। पांच मिनट तक आश्चर्यित रह कर आचार्य बोले—"भाई, तुम्हारा तो कोई काम करनेका समय ही नियत नहीं, तुम समयके मूल्यको नहीं समझते। मेरे लिये समय अमूल्य है। जो कुछ कहना हो कह दो।" इसपर खजाञ्चीजी बोले—"महाराज! अगर सख़्ती न की जाय तो क्या हर्ज है? इससे असर भी अच्छा पड़ता है। अंग्रेजोंको नाराज करना भी अच्छा नहीं—इत्यादि इत्यादि।" बड़ी कठिनाईसे अटक अटककर ये वचन गरीबके मुँहसे निकले। महाराज हँसे और कहा—"अरे! बात क्या थी जिसके लिए गिड़गिड़ाता है। मेरा इतना समय भी नष्ट किया। साहबने कहा होगा तुम्हारा पण्डित कड़ा बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जायंगे, यह होगा, वह होगा। अरे भाई! मैं हौवा तो नहीं कि तुझे खा लूंगा। उसने तुझसे कहा, तू सीधा मुझसे कह देता। व्यर्थ इतना

समय क्यों गँवाया ?" एक विश्वासी पौराणिक हिन्दू बैठा था, बोला—"देखा ! यह तो कोई अवतार हैं, मनकी बात जान लेते हैं।"

उस शामके व्याख्यानको कौन सुनने वाला भूल सकता है ? मैंने बड़े बड़े वाग्विशारदोंके व्याख्यान सुने हैं, परन्तु जो तेज आचार्यके उस दिनके सीधे सादे शब्दोंसे निकल कर सारी सभाको उत्तेजित कर गया उसके साथ किसकी उपमा दूं। उस दिन आत्माके स्वरूपपर व्याख्यान था। पूर्व दिवसके सब अंग्रेज़ (पादरी स्काटके अतिरिक्त) उपस्थित थे। व्याख्यानमें सत्यके बलका विषय आया। सत्यकी व्याख्या करते हुए आचार्यने कहा—"लोग कहते हैं कि सत्यको प्रगट न करो, कलक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे ! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।" इसके पीछे एक श्लोक पढ़कर आत्माकी स्तुति की। न शस्त्र उसे काट सकें, न आग उसे जला सके, न पानी उसे गला सके और न हवा उसे सुखा सके। वह नित्य अमर है। फिर गरजते हुए शब्दोंमें बोले—"यह शरीर तो अनित्य है, इसका रक्षामें प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्यका जी चाहे नाश कर दे।" फिर चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि डालकर सिंहनाद करते हुए कहा—"किन्तु वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखलाओ जो मेरे आत्माका नाश करनेका दावा करे। जब तक ऐसा वीर इस संसारमें दिखायी नहीं देता तबतक मैं यह सोचनेके लिये भी तय्यार नहीं कि मैं सत्यको दबाऊंगा या नहीं।" सारे हालमें सन्नाटा छा गया। रूमालका गिरना भी सुनायी देता था।

व्याख्यानमें कुछ देर हो गयी थी। उठते ही ऋषि दयानन्दने पूछा—"भक्त स्काट आज दिखायी नहीं दिये।" पादरी साहब किसी व्याख्यानसे भी अनुपस्थित न होते थे, और अलग भी प्रेमसे वार्तालाप किया करते थे, इस लिये ऋषिको उनसे बड़ा प्रेम हो गया था। किसीने कहा, पासके गिरजे (चेप्ल) में आज उनका व्याख्यान था। सीढ़ियोंके नीचे उतरते ही ऋषिने कहा—"चलो, भक्त स्काटका गिरजा देख आवें।" अभी तीन चार सौ आदमी खड़े थे। वह सारी भीड़ लेकर गिरजा पहुंचे। वहां व्याख्यान समाप्त हो चुका था। श्रोता सौके लगभग थे। पादरी साहब नीचे उतर आये, स्वामीजीको वेदी (पुलपिट) पर ले गये और कहा कि कुछ उपदेश दीजिये। आचार्यने खड़े खड़े ही बीस मिनिट तक मनुष्यपूजाका खण्डन किया।

एक दिन आचार्यको पता लगा कि खजाञ्चीजीका सम्बन्ध किसी वेश्यासे है। उनके आनेपर पूछा—"तुम्हारा वर्ण क्या है ?" उन्होंने कहा—"क्या कहूं, आप तो गुण कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था मानते हैं।" आचार्य बोले—"यों तो सब वर्णसंकर हैं परन्तु तुम जन्मके क्या हो ?" उत्तर मिला कि खत्री। महाराज बोले—"यदि खत्रीके वीर्यसे वेश्यामें पुत्र उत्पन्न हो तो उसे क्या कहोगे ?" खजाञ्चीजीने सिर नीचा कर लिया। इसपर महाराजने कहा—"सुनो भाई ! हम किसीका मुलाहज़ा नहीं करते। हम तो सत्य ही कहेंगे।"

खजाञ्चीजीने उस वेश्याको कहीं अन्यत्र भिजवा दिया। एक अन्तिम घटनाके साथ इस अपूर्व सत्सङ्गकी कथा समाप्त करता हूँ। यद्यपि आचार्य दयानन्दके उपदेशोंने मुझे मोहित कर लिया था तथापि मैं मनमें सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेदके ढकोसलेको पण्डित दयानन्द स्वामी तिलांजलि देदें तो फिर कोई भी विद्वान् उनकी अपूर्व युक्ति और तर्कनाशक्तिका सामना करनेवाला न रहे। मुझे अपने नास्तिकपनका उन दिनों अभिमान था। एक दिन ईश्वरके अस्तित्वपर आक्षेप कर डाले। पाँच मिनटके प्रश्नोत्तरमें ऐसा घिर गया कि जिह्वापर मुहर लग गयी। मैंने कहा—"महाराज! आपकी तर्कना बड़ी तीक्ष्ण है; आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वरकी कोई हस्ती (अस्तित्व) है।" दूसरी बार फिर तय्यारी करके गया, परन्तु परिणाम पूर्ववत् ही निकला। तीसरी बार फिर पूरी तय्यारी करके गया परन्तु मेरे तर्कको फिर पछाड़ मिली। मैंने फिर अन्तिम उत्तर वही दिया—"महाराज! आपकी तर्कनाशक्ति बड़ी प्रबल है; आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वरकी कोई हस्ती है।" महाराज पहले हँसे, फिर गम्भीर स्वरसे कहा—"देखो, तुमने प्रश्न किये, मैंने उत्तर दिये—यह युक्तिकी बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वरपर करा दूंगा। तुम्हारा परमेश्वरपर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देंगे। अब स्मरण आता है कि नीचे लिखा उपनिषद्वाक्य उन्होंने पढ़ा था —

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।" कठ० १।२।२२॥

हिन्दू देवीका मातृभाव और

आर्य सभ्यताकी श्रेष्ठता।

सरस्वती स्वामीका अनन्य भक्त सन्निपात ज्वरसे पीड़ित बीमारीके बिस्तरपर बेहोश पड़ा ही था कि वह बरैलीसे विदा हो गये। जब ज्वरसे मुक्त होकर होश आया तो पहली इच्छा स्वामीके चरणोंमें उपस्थित होनेकी प्रकट की। सुना कि वह शाहजहाँपुरको पधार गये। जिस हकीम लल्लाजीके इलाजसे बरैली पहुँचते ही बीमारीसे मुक्त हुआ था, उसीकी बेमालूम औषधिसे अब ज्वर टूटा। हकीम, वैद्य और डाक्टर ४८ घण्टोंमें कितने ही बदले; जब छः घण्टे हाथ पैर मार और १५०) लेकर अंग्रेज सिविलसर्जन भी विदा हो गये तब पिताजीने विवश होकर आवारागर्द लल्लाको बुलाया। मेरे मित्रको शेष सारी दुनिया भूल गयी और सब चिकित्सकोंको पाँच सात गालियाँ देकर पाँवकी ओर बैठ गया। प्यास बहुत लगी थी; घड़ेका ठंडा पानी मँगाया, उसमें मिसरी घोली और ३ मासेकी ---- पुड़िया मिलाकर पूरा गिलास शतका

पिला दिया। फिर नाभीमें एक रौग़न मला और काँसेके कटोरोंसे हाथों और पैरोंमें मक्खन लगाकर मालिश शुरू हो गयी। फिर तीन तीन घण्टोंके पीछे दो बार पूर्ववत ठण्ढे पानीमें मिसरी घोल और हरी पुड़िया मिलाकर शर्बत पिलाया गया। १२ घण्टोंमें बुखार उतर गया और मुझे नींद आ गयी।

उठनेपर लल्लाजीको बुलाया गया—"क्यों भाई! कैसी तबीयत है?" मैंने उत्तर दिया—"अबके बहुत कमजोर हो गया हूँ। पहली बार तो चटनीने १६ घण्टोंमें ठीक कर दिया था।" लल्लाजी बोले—"चटनीकी चाट है; बात तो असल यह है। यह लो, अबके और भी मजेदार बनायी है। जितनी बार दिल चाहे एक अंगुलीपर लेकर चाटते जाओ।" चटनी क्या थी, नमक, मीठे, खट्टे, चरपरे-सब प्रकारके स्वादोंका मिश्रण था। तीसरे दिन मैं प्रातः भ्रमणार्थ पैदल चला गया।

पिताजीको उन घटनाओंका ज्ञान न था जिन्होंने मुझे नाच तमाशोंसे घृणा दिलायी और मद्यपानकी आदत कुछ कालके लिये छुड़वा दी। उन्हें यह परिवर्तन पण्डित दयानन्द सरस्वती स्वामीके सत्सङ्गका फल दीख पड़ा; इसलिये यद्यपि वे हरिहरके निन्दक संन्यासीकी बात स्वयं सुनना पाप समझते थे, तथापि पुत्रके काया-पलटके लिये उसे धन्यवाद देते थे। मुझे आज्ञा हुई कि स्वदेश जाकर अपनी धर्मपत्नीको विदा करा लाऊँ।

मैं घर पहुँचा, जालन्धर जाकर सम्बन्धियोंसे मिला और तीसरी बार अपनी धर्मपत्नीको, बिना मुँह देखे विदा करा लाया। तलवन पहुँच कर अपनी अर्धाङ्गिनीसे पहली बातचीत हुई। पुराने नावलोंके हवाई किले रुखसत हुए, परन्तु एक नयाभाव उत्पन्न हुआ। वह यह कि जिस अबलाको अपना आश्रय मिला है उसे गुणवती बनानेके लिये शिक्षा दूं। उस समय मेरे मनमें दया और रक्षाका भाव ही प्रबल था।

बरेली आनेपर शिवदेवी (मेरी धर्मपत्नी) का यह नियम हुआ कि दिनका भोजन तो मेरे पीछे करतीं ही, परन्तु रातको जब कभी मुझे देर हो जाती और पिताजी भोजन कर चुकते तो मेरा और अपना भोजन ऊपर मँगा लेतीं और जब मैं लौटता उसी समय अंगीठीपर गरम करके मुझे भोजन करा पीछे स्वयं खातीं। एक रात मैं रातके आठ बजे मकान लौट रहा था। गाड़ी दर्जी चौकके दरवाजेपर छोड़ी। दरवाजेपर ही बरेलीके बुजुर्ग रईस मुन्शी जीवनसहायका मकान था। उनके बड़े पुत्र मुन्शा त्रिवेनीसहायने मुझे रोक लिया। गज़ाक सामने रक्खी और जाम भर कर दिया। मैंने इनकार किया। बोले—"तुम्हारे लिए ही तो दो-आतशा खिंचवायी है। यह जौहर है।" त्रिवेनीसहायजीके छोटे सब मेरे मित्र थे, उनको मैंने बड़े भाईके तुल्य समझता था। न दो-आतशाका मतलब समझा न जौहरका; एक गिलास पी गया। फिर गप्पबाजी शुरू हो गयी और उनके मना करते करते मैं चार गिलास चढ़ा गया। असलमें वह बड़ी नशीली शराब थी। उठते ही

असर मालूम हुआ। दो मित्र साथ हुए। एकने कहा, चलो मुजरा करायें। उस समय तक न तो मैं कभी वेश्याके मकानपर गया था और न कभी किसी वेश्याको अपने यहाँ बुलाकर बातचीत की थी; केवल महफिलोंमें नाच देखकर चला आता था। शराबने इतना ज़ोर किया कि पाँव जमीनपर नहीं पड़ता था। एक खूँड मेरे हाथमें था। एक वेश्याके घरमें जा घुसे। कोतवाल साहबके पुत्रको देखकर सब सलाम करके खड़ी होगयीं। घरकी वड़ी नायिकाको हुकुम हुआ कि मुजरा सजाया जाय। उसकी नौचीके पास कोई रुपए देने वाला बैठा था। उसके आनेमें देर हुई। न जाने मेरे मुँहसे क्या निकला। सारा घर काँपने लगा। नौची घबराई हुई दौड़ी आयी और सलाम किया तब मुझे किसी अन्य विचारने आघेरा। उसने क्षमा माँगनेके लिए हाथ बढ़ाया और मैं "नापाक नापाक" कहते हुए नीचे उतर आया। यह सब पीछे साथियोंने बतलाया। नीचे उतरते ही घरकी ओर लौटा, बैठकमें तकिये पर जा गिरा और बूट आगे कर दिये जो नौकरने उतारे। उठकर ऊपर जाना चाहा परन्तु खड़ा नहीं हो सकता था। पुराने भृत्य बूढ़े पहाड़ी पाचकने सहारा देकर ऊपर चढ़ाया। छतपर पहुँचते ही पुराने अभ्यासके अनुसार किवाड़ बन्द कर लिये और बरामदेके पास पहुँचा ही था कि उलटी होने लगी। उसी समय एक नाजुक छोटी उङ्गलियों वाला हाथ सिरपर पहुँच गया और मैंने उलटी खुलके की। अब शिवदेवीके हाथोंमें मैं बालकवत् था। कुल्ला करा, मेरा मुँह पोंछ ऊपरका अँगरखा, जो खराब हो गया था, बैठे बैठेही फेंक दिया और मुझे आश्रय देकर अन्दर ले गयी। वहाँ पलँगपर लेटाकर मुझपर चादर डाल दी और साथ बैठकर माथा और सिर दबाने लगीं। मुझे उस समयका करुणा और शुद्ध प्रेमसे भरा मुख कभी नहीं भूलेगा। मैंने अनुभव किया मानो मातृशक्तिकी छत्रच्छायाके नीचे निश्चिन्त लेट गया हूँ। पथरायी हुई आँखें बन्द हो गयीं और मैं गहरी नींद सोगया। रातके शायद एक बजा था जब मेरी आँख खुली। वह चौदह पन्द्रह बरसकी बालिका पैर दबा रही थी। मैंने पानी माँगा। आश्रय देकर उठाने लगी, परन्तु मैं उठ खड़ा हुआ। गरम दूध अँगीठीपरसे उतार और उसमें मिश्री डालकर मेरे मुँहको लगा दिया। दूध पीनेपर होश आया। उस समय अंग्रेजी उपन्यास (नाव्हल्स) मगज़में से निकल गये और गुसाईंजीके खींचे दृश्य सामने आखड़े हुए। मैंने उठकर और पास बैठाकर कहा—"देवी! तुम बराबर जागती रहीं और भोजन तक नहीं किया। अब भोजन करो।" उत्तरने मुझे व्याकुल कर दिया। परन्तु उस व्याकुलतामें भी आशाकी झलक थी। शिवदेवीने कहा—"आपके भोजन किये बिना मैं कैसे खाती। अब भोजन करनेमें क्या रुचि है?" उस समयकी दशाका वर्णन लेखनी द्वारा नहीं हो सकता। मैंने अपनी गिरावटकी दोनों कहानियाँ सुनाकर देवीसे क्षमाकी प्रार्थना की परन्तु वहाँ उनकी माताका उपदेश काम कर रहा था—"आप मेरे स्वामी हो, यह सब कुछ सुनाकर मुझपर पाप क्यों चढ़ाते हो?

मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं आपकी नित्य सेवा करूं।" उस रात बिना भोजन किये दोनों सोगये और दूसरे दिनसे मेरे लिए जीवन ही बदल गया।

वैदिक आदर्शसे गिरकर भी जो सतीत्व धर्मका पालन पौराणिक समयमें आर्यमहिलाओंने किया है, उसीके प्रतापसे भारतभूमि रसातलको नहीं पहुँची और उसमें पुनरुत्थानकी शक्ति अबतक विद्यमान है—यह मेरा निजका अनुभव है। भारत माताका ही नहीं, उसके द्वारा तहजीब (सिविलि-जेशन) की ठेकेदार संसारकी सब जातियोंका सच्चा उद्धार भी उसी समय होगा जब आर्यावर्तकी पुरानी संस्कृति जागनेपर देवियोंको उनके उच्चासनपर फिरसे बैठाया जायगा।

स्त्री-औदार्यका एक और दृष्टान्त देकर अपनी संसारयात्राको आगे ले चलूँगा। छावनीके पारसी मद्य-विक्रयीका बिल बढ़ता ही जा रहा था। दूसरे ही दिन उसका लगभग तीन सौका बिल आ पहुँचा। उस दिन उसे तीन चार दिनकी छुट्टी लेकर टाल दिया। मुझे चिन्ता तो थी ही, शिवदेवी जीने भोजन कराते समय मेरी चिन्ताका कारण पूछा। अब तो कोई बात आपसमें गुप्त रह नहीं सकती थी। वेदके उपदेशानुसार मानो मेरा विवाह ही पिछली रात हुआ था। मैंने सब कुछ स्पष्ट कह दिया। देवीने कुल्ला करवाके हाथ मुँह धुलवाये और अपना भोजन पानेसे पहले ही अपने हाथके सोनेके कड़े उतार दिये। मैं चकित रह गया—"देवी! यह कैसे हो सकता है? तुम्हें आभू-षित करनेके स्थानमें तुम्हें आभूषणोंसे रहित करनेका पाप कैसे लूँ?"

इस समय मुझे ठीक संस्कृत कविकी कल्पनाके अनुसार दृश्य जँचा और मैंने जान लिया कि पतिव्रता देवी पतिकी स्वास्थ्यरक्षाके समय माता, विपत्तिके समय भगिनी और उसे सन्तान-सुख पहुँचानेके लिए धर्मपत्नीका रूप धारण करती है। देवीने दूसरी जोड़ी दिखाकर कहा—"एक जोड़ी पिताने और दूसरी श्वसुर महोदयने दी थी। इनमेंसे एक जोड़ी व्यर्थ पड़ी है। यह मेरा माल है और जब तन भी आपका है तो इसके लेनेमें क्यों संकोच है। आपकी चिन्ता दूर करनेका यह महँगा सौदा नहीं।" शब्द पंजाबीके थे और उनके अनुवादमें कुछ मुझसे बढ़ाया भी गया होगा; परन्तु भाव यही था। कड़े बेच कर मैं बिल अदा कर चिन्तारहित हो गया; प्रलोभनसे बचनेके लिए शेष रुपये देवीकी सन्दूकचीमें रख दिये और मनमें पक्का निश्चय कर लिया कि जब कमाने लग जाऊँ तो व्यय किये हुए धनको फिरसे आभूषणोंमें मिला दूँगा।

चाकरीका अनुभव।

'सर्वं परवशन्दुःखम् सर्वमात्मवशं सुखम्।' मनु०।

पिताजीने समझ लिया कि अब मैं कालिजमें पढ़नेके योग्य नहीं रहा। मुझे पुलिसके कामसे घृणा है, यह पिता जी जानते थे। कमिश्नर एडवर्ड स

उनके पुराने मेहरबान थे। उन्होंने मुझसे पूछा कि तहसीलदारीका परीक्षा देकर उस महकमेमें काम करना स्वीकार होगा वा नहीं। मैंने स्वीकार कर लिया।

मेरे सबसे बड़े भाई तलवनमें घरपर भूमि और साहूकारीका प्रबन्ध करते थे। दूसरे और तीसरे पुलिस सब-इन्सपेक्टर (थानेदार) बनकर मिर्जापुर और हमीरपुरके ज़िलोंमें स्थित थे। चौथा मैं रह गया जिसको काममें लगाना पिताजीने अपना अन्तिम कर्त्तव्य समझा। वे कमिश्नर एडवर्ड्सके पास मुझे ले गये। साहब मुझसे अंग्रेज़ीमें बातचीत करके प्रसन्न हुए। न केवल मेरा रौल तहसीलदारीके लिए भेज दिया प्रत्युत बरैलीका नायब तहसीलदार तीन महानोंके लिए कर दिया, क्योंकि पक्का नायब छुट्टीपर जा रहा था। चारों ओरसे इष्ट मित्रोंने बधाई दी और मैंने स्वीकार की।

तहसीलदार मुनीरुद्दीन मेरे पिताजीको अपना बुजुर्ग समझते थे क्योंकि पहले उनके पिता बरैलीमें डिपुटी मजिस्ट्रेट थे और संवत् १९१७-१८ में मेरे पितासे उनका बहुत मेल था। उन्होंने मुझे काम सिखाया और मैं परीक्षाकी तय्यारी भी करने लगा। बरैलीकी तहसील और कोतवाली आमने सामने हैं इसलिए भी मुझे अपनी अवस्थामें कुछ भेद न मालूम हुआ। एक महीना भली प्रकार व्यतीत हुआ। फिर १५ दिनोंका छुट्टीपर तहसीलदार गए। मैं उनका भी स्थानापन्न हुआ। पिता जी प्रसन्न हुए कि मैं शीघ्र उन्नति करूंगा, परन्तु उन १५ दिनोंमें मेरे मनका चित्र ही बदल गया। कलेक्टर और जण्ट मजिस्ट्रेटके वर्तावको मैंने अपमान-सूचक पाया। अन्दर ही अन्दर कुढ़ता रहा और शैख़ मुनीरुद्दीनके लौटते ही अपना भाव उन्हें बतलाया। उनके उत्तरने मुझे निराश कर दिया—"अरे भाई! अंग्रेज़ तो बादशाह हैं। काला कितना ही बढ़ जाय फिर भी महकूम ही है। ऐसी उपजकी लेनेसे काम न चलेगा।" मेरा बोझ फिर तहसीलदार साहबने संभाल लिया और एक मास मैंने और बिता दिया। अभी नायब साहबके लौटनेमें पन्द्रह दिन बाक़ी थे। हमारी तहसीलके एक पड़ाव-पर सेनाको रात काटनी थी। वह स्थान बरैलीसे ८ वा १० मीलपर था। रसद रसानीके लिये मैं चपरासी जमादार लेकर पहुँचा। फ़ौज गोरोंकी थी। उन्होंने अण्डेवालेके अण्डे, विना मूल्य दिये, लूट लिये। मैंने कर्नलके पास शिकायत की और कहा कि यदि अण्डे बेचनेवाले गरीबके दाम उसी समय न चुका दिये गये तो मैं सब दुकानदारोंको लौटा दूंगा। कर्नल साहब आग-बबूला हो कर बोले* "तुम ऐसा करोगे तो नुक्सान उठाओगे। तुम्हारी इस गुस्ताखीका मतलब क्या है?" जब मुझे गुस्ताख कहा गया और धमकी दी गयी तो मुझसे भी न रहा गया। मैंने उत्तर दिया† "मैं अपने आदमियोंको लेजा रहा हूँ। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। आप जो कर सकते हों

---

* "You will do it at your peril. What do you mean by being impertinent?" † "I am taking away my men. I cannot bear this insult. You may do your worst."

करलें" कर्नल आगे बढ़ा। वह निहत्था था मेरे हाथमें हण्टर था। मैंने हण्टर संभाला। कर्नल जरा रुका और मैंने भाग कर रिकाबपर पैर रक्खा और जमादार चपरासियोंको लौट आनेकी आज्ञा देकर घोड़ेको एड़ दी। अन्य दुकानदार अण्डे लुटते ही भाग गये थे। मैंने लौटतेही तहसीलदारको सारी कहानी सुनायी। उनके चेहरेपर हवाइयाँ उड़ने लग गयीं। मैंने रातको सारी रिपोर्ट लिखी। उर्दूमें तो तहसीलदार साहबके सपुर्द कर दी और अंग्रेजीकी रिपोर्ट लेकर मैं कलेक्टर साहबके बङ्गलेपर पहुँचा। रिपोर्ट होतेही बुलोया गया। कर्नल साहब पहलेही बैठे हुए थे। शिकायत कर चुके थे। कलेक्टर साहबने मुझे देखतेही क्रोधातुर हो कहा—"कर्नल साहबकी क्यों हतक की। तुम्हें कर्त्तव्य न पालन करनेका दण्ड मिलेगा।" मैंने अपनी रिपोर्ट कलेक्टरके हाथमें देकर कहा—"इसे पढ़ लीजिये और फिर न्याय कीजिये।" मुझे बैठनेको न कहा गया। मैं खड़ा खड़ा अन्दर ही अन्दर विष घोलता रहा। मेरी रिपोर्ट पढ़, कर्नलको लेकर अलग कमरेमें चले गये। दस मिनट पीछे दोनों लौटे और कलेक्टर साहबने कहा कि यदि मैं कर्नल बहादुरसे क्षमा माँगलूँ तो मेरे विरुद्ध कोई भी महकमेकी कार्यवाही न होगी। मेरे मनकी दशा तो बहुत टेढ़ी थी परन्तु रुककर मैंने साहबको सलाम किया और एकदम बाहर निकलकर तहसीलकी राह ली। वहाँ कमिश्नर साहबका सवार मुझे बुलाने आया था। उल्टे पैरों फिर छावनीको लौटा। कमिश्नर साहब मुझे स्थिर करनेकी फ़िकरमें थे। बाहरकी तहसीलमें स्थान खाली था वह देना चाहते थे। मैंने कर्नलवाली सारी कहानी सुनाकर निवेदन किया कि सरकारी नौकरीसे पेट भर गया, अब मुझे क्षमा कीजिए। मैं उसी दिन विदा चाहता था परन्तु कृपालु कमिश्नर एडवर्ड्सने १५ दिन और रोक, कलेक्टरके हुकुमको रद्द करके मुझे बिना किसी दागके विदा किया। छुट्टीसे लौटे नायब साहबको नियमपूर्वक चार्ज देकर मैं सदाके लिए अंग्रेजोंकी चाकरीसे मुक्त हो गया और जन्म-पत्रीकी यह विध भी मिलाकर मैंने तहसीलसे घरकी राह ली।

मेरे भविष्यका आंशिक निर्णय।

शायद संवत् १९३७ के प्रारम्भमें ही पिताजीकी बदली खुर्जा (ज़िला बुलन्दशहर) को हो गयी। खुर्जा सब डिवीज़न है। पिताजी वहाँके सब-डिवीजनल पुलिस अफिसर नियत हुए। मैं भी, शिव देवीजी सहित, उनके साथ ही चला गया। वेतन और भत्तोंके २००) रुपए मैंने बचाये थे। उन्हें उस रक़ममें मिलाया जो कड़ोंको बेचकर बच रही थी और पिताजीके आगे रखकर केवल कड़े बेचने और बिल अदा करनेकी कहानी उन्हें सुना दी। पिताजी मेरे स्पष्ट बर्तावसे प्रसन्न होकर बोले—"तुझे नास्तिक कैसे कहते हैं, नास्तिक तो ऐसा सच्चा नहीं होता।" पिताजीकी सहानुभूतिसे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। बरैलीके अन्तिम डेढ़मासमें कोई विशेष घटना नहीं हुई। खुर्जामें आकर पिताजीने पेन्शन

लेनेका विचार कर लिया। उनकी आयु ५४ वर्षकी हो चुकी थी। ५५ वर्षकी समाप्तिपर संवत् १९३९ (१८८२ ईसवी) में पेन्शन मिल सकती थी। जूनमें पिताजीके पुराने हितैषी मिस्टर सी० पी० कार्माइकेल* बुलन्द शहर आये थे। पुलिसके इंस्पेक्टर जनरल होते हुए उन्होंने पिताजीको बनारसके मिर्जा रहमतुल्ला बेगवाले मुकद्दमेंसे मुक्त कराया था। कमिश्नर होते हुए उन्होंने डाकों आदिके मुकद्दमोंके पता लगानेपर पिताजीकी बड़ी प्रशंसा की थी और अब मालके उच्च अफसर (सीनियर मेम्बर आफ दि बोर्ड आफ रेव्हेन्यू) के अधिकारसे निरीक्षणके लिए आये थे। पिताजी शिकम पर उनसे मिलने गये। उस समय बुलन्दशहर जानेके लिए चोलास्टेशन पर उतरना पड़ता था। मैं पिताजीके साथ गया। ग्राउस साहब कलेक्टर थे। यह मथुरा बहुत वर्षों तक रहे और तुलसीकृत रामायणके प्रसिद्ध अनुवादक थे। पिताजी मुझे उनसे मिलाकर कार माइकेल साहबके पास मिलने, उसीके ठीक दूसरे कमरेमें, चले गए। मिस्टर ग्राउस भी तुलसीदासके प्रशंसक और मैं, नास्तिक होते हुए भी, गुसाईंजीका भक्त – बड़ी मनोरञ्जक बातचीत हुई। इतनेमें कारमाइकेल साहबका चपरासी मुझे बुलाने आया। साहबने मेरे पहुँचते ही कहा–"मैंने तुम्हारे पितासे तुम्हें माँग लिया है। तुम्हें १५०) से ३५०) तकके ग्रेडमें लेलूँगा और तुम चार बरसमें डिपुटी कलेक्टर बनके निकल जाओगे। मेरे साथ चले चलो।" मैंने दो महीनोंका अवकाश माँग लिया और उसके पीछे इलाहाबाद (प्रयाग) पहुँचनेका प्रतिज्ञा की। कारमाइकेल साहब अपने आदमियोंका पूरा पक्ष करने वाले थे और गोरे कालेमें कोई भेद नहीं जानते थे। शायद बङ्गालके प्रसिद्ध गवर्नर. लार्ड कारमाइकेल भी इन्हींके कुलमें से थे।

जुलाईमें एक खूनके मुकद्दमेकी तहकीकात करते हुए पिताजीने रामायणकी कथा सुना घातकसे जुर्मका इकबाल करा लिया। मुकद्दमा सेशन सपुर्द हुआ। सेशनकोर्ट मेरठमें लगता था। वहाँ पैरवीके लिये पिताजी स्वयम् गये। घातकको निश्चय हो गया कि यदि मैं अब दण्ड भुगत लूँगा तो मुझे आगामी योनिमें इस पापका फल भोगना न पड़ेगा। सेशनजजने पिताजी को बाहर भेजकर मुलजिमको बहुतेरा समझाया परन्तु वह यही कहता गया कि अगले जन्ममें दण्ड भोगनेके लिए मैं इस पापको नहीं छिपाना चाहता। परिणाम यह हुआ कि घातकको केवल ५ वर्ष कैदका दण्ड मिला।

मुकद्दमेका जिक्र तो मैंने रामायणकी महिमा दिखानेको किया है— परन्तु पिताजीकी मेरठयात्राका असर मेरे भविष्यपर बड़ा प्रबल पड़ा। मेरठमें वह जालन्धरके लाला डूंगरमल वकीलसे मिले। मेरे विषयमें बातचीत हुई और पिताजीने निश्चय कर लिया कि पेन्शन पानेपर मुझे वकील बन कर उनके साथ रहना चाहिए और इसलिए चाकरीकी गुलामीमें मुझे नहीं पड़ना चाहिए। पिताजी स्वयम् चाकरीसे घबरा चुके थे और अंग्रेजोंके न्यायपर उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं रहा था। इधर मैं सोच रहा था कि किसी प्रकार

---

* C. P. Carmaechal.

मिस्टर कारमाइकेलके साथ की हुई प्रतिज्ञासे मुक्त हो जाऊँ। अस्तु, पिताजी-ने मेरठसे लौटतेही अपना प्रस्ताव मेरे सामने रक्खा। मैंने प्रसन्नतासे स्वीकार किया और मुझे जायदादका प्रवन्धकर्त्ता बनाकर तलवन भेज दिया गया और समझा दिया गया कि पौष १६३७ (जनवरी सन् १८८१ ईसवी) से लाहौरकी कानूनीकक्षामें प्रविष्ट हो जाऊँ। सबसे वड़े भाई पितासे जुदा होकर अपना व्यापार करने लग गये थे, इस लिए मैं, धर्मपत्नी सहित, तलवन पहुँच गया और सारा काम भाई साहवसे संभाल लिया।

तलवन पहुँचकर एक ओर तो तीन वहियोंका हिसाब चलाने लग गया और दूसरी ओर जमीनोंकी पैदावारकी वटाई शुरू कर दी। पिताजीकी आरम्भ करायी हुई वैठक भी ठाकुरद्वारेके साथ वनवा दी और उसमें झाड़ फानूस भी लगवा दिये। पाँच छः महीनोंतक वरावर ग्रामका साहूकार बना हुआ तद्रूप ही हो गया। अन्य सब अवस्था तो ठीक हो गयी, परन्तु मद्यमाँसका सेवन न छूटा। पढ़ना-लिखना सब छूटा: दिनकटी शतरञ्जके खेलसे होती रही। ठाकुरद्वारेकी डेवढ़ी शत-रञ्जियोंका अड्डा वन गयी। मैं नास्तिक भी विचित्र था। मूर्त्तिपूजा और ईश्व रावतार तो कहाँ, ईश्वरके अस्तित्वपर भी विश्वास नहीं परन्तु कृष्ण-जन्मा-ष्टमीपर झाँकी ऐसी वढ़िया वना दी, झाड़ फानूस और लैम्पोंकी रोशनी ऐसी चमका दी और प्रसाद ऐसा स्वादिष्ट बाँट दिया कि तलवनका कोई व्यक्ति—स्त्री, पुरुष, वाल, युवा, वृद्ध —ऐसा न रहा जो झाँकी देखने न आया हो। फिर उसपर तुर्रा यह कि साथ साथ अन्धी श्रद्धाका खण्डन भी करता जाता। असल बात यह थी कि मैं पिताजीका कारिन्दा था और इसलिये उनके नियत किये हुए सब त्यौहार मना कर उनकी आज्ञानुसार व्यय कर देता था।

तीन वरसोंका अस्थिर जीवन

पौष १६३७ से मार्गशीर्ष १६४० तक

(जनवरी सन् १८८१ से दिसम्बर १८८३ तक)

" नायँलोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।"

(संशयग्रस्तके लिये न यह लोक, न परलोक और सुख भी नहीं है)

पौष, संवत् १६३७ (जनवरी सन् १८८१) के द्वितीय सप्ताहमें ही लाहौर पहुंचकर रहनेके लिए मकानकी तलाश की। इसमें दो सप्ताह लग गये। ला क्लासका नियम था कि ७५ प्रतिशतक व्याख्यानोंमें उपस्थिति हुए बिना परीक्षामें सम्मिलित होने नहीं दिया जाता था अनुपस्थित होनेके लिये छुट्टी लेनेकी कोई आवश्यकता न हुआ करती थी। मैं जनवरीके तीसरे सप्ताहमें प्रविष्ट हुआ; उससे पहले आठ नौ कामके दिन हो चुके थे। प्रविष्ट होकर दो तीन दिन कानूनकी पुस्तक देखी, उससे पीछे फिर अन्धे टाइपके अंग्रेजी नावल और काव्य खरीद कर पढ़ना और पुरानी इमारतोंमें सैरगश्त लगाना शुरू कर दिया। उधर घरमें भी कारिन्दागीरी करनी थी; होलियोंकी छुट्टीमें तलवन गया और कुछ दिन अधिक

लगा कर चार पाँच लेक्चर गँवाये। इन्हीं दिनों एक बखशीश सिंह नामी आवारागर्द मिल गया। लाहौरमें एक रईस अताइयोंकी नाटक-सभा बतला कर, उनके अभ्यास (रिहर्सल) के समय मुझे वहाँ ले गया। फिर मुझे सलाह दी कि यदि सौदागरीकी दूकान खोली जाय और साथ शराबका लाइसेंस भी हो तो लाहौरका सारा खर्च निकल कर कुछ बच भी सकता है। मुझे खयाल हो ही रहा था कि अब पिताजीपर बोझ नहीं होना चाहिये। बखशीश सिंहकी सलाह मानकर होलियोंके समय तलवनसे ५००) रुपया ले आया। तलवनका सारा कोष तो मेरे ही अधीन था, सोचा कि सौदागरीमें लाभ उठा कर रुपया फिर कोषमें डाल दूंगा। बखशीशसिंह मैनेजर बने। व्यय ही व्यय हुआ और मुनाफा कुछ नहीं। मेरी शिकायतपर मैनेजरने उत्तर दिया कि अंग्रेजी शराबका लाइसेन्स आते ही बिक्री बहुत बढ़ जायगी। लाइसेन्सके लिये मैंने डिपुटी कमिश्नरके नाम प्रार्थनापत्र लिखना शुरू किया। उस समय शंका और लज्जाने आघेरा और मैंने आधा लिखा हुआ पत्र फाड़ डाला। दूकान अनारकलीमें ली थी। उस शामको पासकी दुकानवालेने मुझे मार्गमें आ घेरा और कहा—"मैं बखशीशकी दूकान समझता था। आपका यहाँ आना वह दोस्ताना बतलाता था। आज मालूम हुआ है कि आप मालिक हैं। यह आवारागर्द है। बापने इसे निकाल दिया है। अपना माल सम्हाल लीजिये" मैं दूकानमें गया तो बहुतसा माल एक आदमी बाँध रहा था और बखशीशसिंह कुर्सीपर बैठा था। माल रखवा लिया। माल बाँधनेवालेने ८०) बखशीशसिंहसे लौटाये। उसकी जेबमें ३५) और मिले; वह भी रखवा लिये और उसे दूकानसे निकाल दिया। शेष सारा माल २५) प्रतिशतक घाटा उठा कर साथ वाले सौदागरके हाथ बेंचा। मेज कुर्सी आलमारी भी सब नीलाम कर दीं। दूकानके मालिकको एक मासका किराया देही चुका था। उसने १५ दिनोंमें ही एक मासका किराया हजम करके आगेके हरजानेपर आग्रह न किया और मैंने केवल २५०) का घाटा उठा कर भी यही समझा कि "बहुत सस्ते छूटे।"

यह सब करते कराते वैशाखका पूर्वार्द्ध समाप्त हुआ। इसके बाद कानूनका अध्ययन भी शुरू हो गया और दो महीनों तक नियमपूर्वक काम हुआ। परन्तु, पिताजीकी आज्ञा आयी कि श्रावणके अन्तमें भाई मूलराजजीकी पुत्रीका विवाह होगा, इसलिए मुझे शीघ्र तलवन पहुँचकर उसकी तय्यारीमें लग जाना चाहिए। मुझे छुट्टियोंसे १५ दिन पहिले ही चल देना पड़ा और फिर कुछ लेक्चरोंमें अनुपस्थिति लिखी गयी।

विवाहका काम जारी कर दिया। पिताजीको २५०) की हानिका पूरा वृत्तान्त लिख दिया था। वह केवल १५ दिनोंकी छुट्टीपर आसके। पिताजीने ऐसा क्षमा किया कि उस २५०) का पता मेरे भाइयोंको भी न लगने पाया। विवाहकी समाप्तिपर पिताजी चले गये। भाई आत्माराम जिला गाजीपुरके किसी पुलिस स्टेशनके थानेदार थे। वह विवाहमें छुट्टी लेकर नहीं आये थे।

पिताजीके पास उनकी शिकायत आयी हुई थी। मुझे आज्ञा हुई कि उनकी धर्म-पत्नीको उनके पास पहुँचा दूँ और उनकी अवस्था ठीक करनेका भी यत्न करूं जिससे व्यर्थ धन उड़ानेसे वह बच जायँ। भाई आत्मारामकी धर्म-पत्नी अपनी एक भतीजीको साथ लेकर चलीं। मार्गमें खुर्जा, बरैली, बनारस और गाजीपुर ठहरते हुए हम सब भाई साहबके थानेपर पहुँच गये। मेरे जाते ही सब अवस्था सुधर गयी और मैं उनके पास तीन चार दिन रहकर और पिताजीके पुराने अर्दली जमादारको उनके विषयमें समझाकर लौट आया। लौटतीवार बनारस और बरैलीमें पुराने मित्रोंके पास कुछ अधिक ठहरा। फिर खुर्जे आया तो पिताजीने ठहरा लिया। पेन्शनकी दर्खास्त वह दे चुके थे, इसलिए बहुतसा सामान उन्होंने मेरे साथ भेजनेके लिए बँधवाया था। अन्तको तलवन सामान छोड़ और वहाँका सारा प्रबन्ध ठीक करके मैं लाहौर पहुँचा। फिर बहुतसे लेक्चरोंमें अनुपस्थिति लिखी गयी।

इस बार मैं अपनी धर्मपत्नीको साथ ले गया। इससे व्यय तो अधिक हुआ परन्तु पढ़ाई खूब हुई। परीक्षा तक मैंने पूरी तय्यारी कर ली। परन्तु अन्तको जोड़नेपर ७५ प्रतिशतकके स्थानमें मेरी उपस्थिति लगभग ७० प्रति शतक निकली। एक और कारण भी मेरे लिए बाधक हुआ। प्रोफेसर महाशय एक मासकी छुट्टी पर गये और उनका स्थानापन्न कोई न मिला। यदि उन दिनों लेक्चर बन्द न रहते तो शायद मेरी कमी पूरी हो जाती। परन्तु अब क्या हो सकता था! मैं निराश घर लौट आया। इस अकृतकार्यताने मुझे निराशावादी बना दिया।

निराशाके भँवरसे मुक्ति।

पोष १६३८ (जनवरी सन् १८८२ के आरम्भ) में फिर ला क्लासके लेक्चरोंमें शामिल हुआ। जब ८० प्रतिशतकसे अधिक उपस्थिति हो गयी तब इस विचारसे लौट आया कि घरसे तय्यारी करके परीक्षा दे दूँगा। तलवनमें पढ़ेलिखोंकी सङ्गत नहीं मिल सकती थी, इस लिये मैं अधिकतः अपने श्वशुरगृह जालन्धरमें रहने लगा। उन दिनों मेरा अधिक सङ्ग, अपनी धर्मपत्नीके सबसे बड़े भाई, लाला बालकरामके साथ रहता था। संवत् १६४१ मार्गशीर्ष तककी सङ्गतोंको सत्सङ्ग नहीं कह सकता, हाँ, कुसङ्गकी उपाधि तो दे सकता हूँ क्योंकि उनकी बदौलत आचरणोंमें कुछ गिरावट ही होती रही। मांसका तो उस कुलमें प्रचार खूब था ही, मद्य-पान भी सभ्यताका चिन्ह समझा जाता था। और फिर जब मुफ्तकी शराब मिले तो विना दृढ़ अभ्यासी सदाचारीके कौन प्रलोभनसे बच सकता है। कभी राय शालिग्रामजीके ग्राम, राजपुरान्तर्गत, भक्त पुरामें और कभी उनकी गढ़रूपीकोट किशनचन्दवाली हवेलीमें, इसी प्रकार काल-यापन होता रहा। फिर श्रावणमें पिताजी पेन्शनपर आरहे थे। खुर्जा पहुँचकर सामान बँधवाने और तलवन लानेका काम किया। फिर जालन्धरमें बैठा तो मुखतारी परीक्षाकी तय्यारी करने, नावल पढ़ने और फिर उनकी कथा रातके समय

लाला बालकरामादिकको सुनानेमें फंस गया। अँग्रेजी उपन्यासोंने मेरे जीवनको बहुत अस्थिर बना दिया था। इसी लिये मुझे पीछे इन से पूरी उपेक्षा हुई और अपने ब्रह्मचारी शिष्योंको भी इनसे बचनेकी प्रेरणा करता रहा—और उनमेंसे जिन्होंने मेरे इस उपदेशका आदर किया, वे बतला सकते हैं कि उन्हें कितना लाभ हुआ।

जालन्धरमें परीक्षाकी तय्यारी असम्भव देखकर मैं लाहौर चला गया। भाटी दर्वाजेके अन्दर मकान किरायेपर लिया। पास ही एक चौबारेपर "सर्वहितकारिणी सभा" खुली हुई थी। उसके अधिवेशनोंमें शामिल होने लगा। वहाँ भाई जवाहिरसिंह और भाई दित्तसिंह ज्ञानीसे भेंट हुई। ये दोनों सज्जन आर्यसमाज लाहौरसे भी सम्बद्ध थे। भाई जवाहिरसिंह लाहौर आर्यसमाजके मन्त्री और भाई दित्तसिंह माननीय उपदेशक थे। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाजके साप्ताहिक जलसोंमें भी जाने लगा। लाहौर पहुँचकर मद्यपानका अभ्यास भी कम हो गया, सभा समाजोंमें भी जाने लगा परन्तु परीक्षाकी तय्यारीमें जी न लगता। १५ वा २० दिन कुछ देख भालके परीक्षा-में बैठा। दो दिन पीछे ही निश्चय होगया कि उत्तीर्ण होना असम्भव है। परीक्षाके दिन पूरे करके जालन्धर लौट आया और वहां ही परिणाम सुन लिया।

पिताजी पहिली छमाहीकी पेन्शन लेने जालन्धर आये तब उन्हें मेरे अनुत्तीर्ण होनेका समाचार मिला। मुझे उदास देखकर उन्होंने तसल्ली दी और अपने साथ तलवन ले गये। मेरी धर्मपत्नी भी अपनी तीन चार मासकी पुत्रीको गोदमें लिये सङ्ग चली आयी। तीन महीने गृहके आनन्दमें व्यतीत हुए। पुत्रीका नाम वेदकुमारी रक्खा और उसके गोद लेनेमें दम्पतिको स्वर्ग-का सुख अनुभव होता था।

परन्तु संसार द्वन्द्वमय है। सुखमें दुःख अवश्य विघ्न डालता है। भाई आत्मारामजी नौकरीसे अलग होकर परिवार सहित घर लौट आये। इस प्रकार पिताजीके साथ दो परिवार हो गये। शिवदेवीजीकी अवस्था कुछ ऐसी हो गयी जिसे देखकर मुझे क्लेश हुआ। परन्तु उस देवीमें ऐसी अपूर्व सहन-शक्ति थी कि मुझे भी शान्त कर दिया। अब मुझे यह विचार सताने लगा कि मुझे कमाने योग्य बनना चाहिए। ग़म ग़लत करनेके लिए शराबकी आदत बढ़ती गयी। मुझमें एक अवगुण था जिसने अधिक हानि पहुँचायी। यदि मुझे नशा शीघ्र हो जाता और अधिक पीनेसे मैं बेहोश हो सकता तो शायद इस बुरी आदतसे घृणा हो जाती। परन्तु मेरी हालत यह थी कि बरांडीकी पूरी बोतल चढ़ाकर भी अक़लकी बातें करता और पैर कभी न लड़खड़ाते। इसकी सनद मुझे अपने छोटे साले (रायजादा हंसराज) के विवाहपर मिली। छिड़कनीका दिन था,जब लड़के और लड़कीवाले दोनों मिलकर होली खेला करते हैं। बरात समधियानेमें जानेको तय्यार हुई। पीते पीते सब बदमस्त हो गये थे। मैं सबसे बढ़कर डेढ़ बोतल चढ़ा चुका था, परन्तु पितातुल्य राय

शालिग्रामजीने मुझे बुलाकर कहा—"मुंशी रामजी ! समधियोंके घर आकर कोई नामुनासिब हर्कत न हो जाय। जिसको तुम इजाजत दो वही जाय। अगर मुझे भी जानेके लायक न समझना तो मुझे भी रोक देना।" इससे बढ़कर सर्टिफिकेट क्या मिल सकता है। परन्तु यह गुण मेरे लिए विषसे भी बढ़कर सिद्ध हुआ। मुझे पीछे देरतक पश्चात्ताप रहा, और चिरकाल तक यही आवाज अन्दरसे उठती रही कि यदि मैं उस समय इस पापसे पनाह पा जाता तो लोकसंग्रहका कितना अधिक काम कर सकता। परन्तु एक समय आया जब मुझे अपने किये हुये सारे पापोंका प्रायश्चित्त करनेका अवसर मिला।

आधे ज्येष्ठसे आधे भाद्रपदतक तीन मास इसी उधेड़ बुनमें गुजरे कि किसी प्रकारअपना गुजारा अपनी कमाईसे करनेके योग्य हो जाऊँ। श्रावणके अन्त तक ऐसे ही विचारोंने मुझे मुखतारी-परीक्षाकी तय्यारीसे रोक रक्खा। पहले कुछ इस खयालने घेरा कि यदि कार्माइकल साहबका कहना मान लेता तो आज इस बेबसीकी हालतमें न होता। फिर प्रत्येक दूसरे तीसरे दिन नौकरीके लिए प्रार्थनापत्र तय्यार करता और फाड़ डालता। अन्तको फिर परीक्षाकी तय्यारीकी सूझी। आधीसे अधिक पाठ्य पुस्तकोंकी तय्यारी कर ली। २० दिनों तक केवल रातके तीन घण्टे सोकर पढ़ते पढ़ते रात दिन एक कर दिया। आँखें पथरा गयीं और तीन घण्टे क्या एक मिनटके लिए भी नींद हराम हो गयी। तब मैं अपनी धर्मपत्नीको लेकर, दशहरेके पीछे, जालन्धर चला गया। वहाँ आज्ञाकारिणी शिवदेवीको मनकी सारी अवस्था सुनाकर मैंने उसे बतलाया कि मैं नौकरीकी तलाशमें चला हूँ; इसपर देवीकी सम्मति माँगी। वहाँ उत्तर एक ही था—"आप जो उचित समझिये कीजिये। मैं सम्मति देनेके योग्य नहीं। मेरा धर्म आपकी आज्ञाका पालन करना है।"

मैंने सब तय्यारी कर ली। अंग्रेजोंकी चाकरीको बहुत गिरा हुआ काम समझता था। हृदयकी तसल्लीके लिए यह निश्चय किया कि किसी राजपुतानेकी रियासतमें जाना चाहिये। मैं नहीं चाहता था कि मेरी ससुराल वालोंको यह हाल मालूम हो। भाई बालकराम मुझे ट्रेनपर चढ़ानेको तय्यार हुए। मैंने लाहौरका टिकट ले लिया और ट्रेनमें बैठकर चल दिया। मार्गमें विचारतरङ्गने फिर आ घेरा—"जिस चाकरीको तू गुलामी कहा करता था, उसीकी शरण लेने चला है। हिन्दोस्तानी रियासतोंमें तो और भी अधिक दासता है। अभी परीक्षामें दो मास बाकी हैं। यदि बिना परीक्षा दिये भाग गया तो सम्बन्धी और इष्टमित्र तुझे क्या समझेंगे। एक बार और हिम्मत कर। इत्यादि इत्यादि........"

मियाँ मीर पहुँचने तक निश्चय कर लिया कि मुखतारीकी परीक्षा अवश्य देनी है लाहौर पहुँचते ही एक मित्र मिल गये जो मुखतारीकी तय्यारी कर रहे थे। उनके साथ पाचक भी था। मैं उनके व्ययमें शरीक हो गया और परीक्षाकी तय्यारी शुरू कर दी। रागरङ्ग और गुलछर्रे सब भूल गये। दिनको

भोजनके पीछे छावनीकी सड़कपर निकल जाता और चिड़ियाघरमें कोई एकान्त स्थान देखकर बैठ जाता। शामतक वहीं पढ़ता और बाहर ही दिसा फरागत हो डेरेपर लौटता; रातको फिर लैम्प होता और मैं; किसी समय स्काटके उपन्यासोंपर आधी राततक तेल जलता था, अब आँखें प्रातः दो बजेसे छः बजेतक कानूनकी किताबोंकी भेंट हो रही थीं। परीक्षा देकर लौटा और सीधा पिताजीके पास चला गया—कारण यह कि इस बार कृतकार्य होनेकी पूरी आशा थी।

परीक्षोत्तीर्ण होनेका तार भाई बालकरामजीने फिल्लौर द्वारा दिया। पिताजीके आनन्दकी सीमा न रही। ठाकुरोंका शृङ्गार कराया गया, ब्रह्मभोज हुआ और यहाँतक कि मेरे मौसा रुलदूरामजीके आग्रहपर, एक विवाहपर आयी हुई, रण्डीके नाचकी आज्ञा भी पिताजीने दे दी। तार द्वारा बालकरामजीने मुझे शीघ्र बुलाया था। मैं जालन्धर होता हुआ लाहौर गया, मुख्तारीका लाइसेन्स लाया और अपना नाम जिला जालंधरके कानून पेशा जमातमें लिखाकर अदालतोंमें जाना आरम्भ कर दिया।

एक विशेष घटनाका वर्णन संवत् १६४० के अन्तर्गत ही करना चाहिये। ऋषि दयानन्दने (चान्द्र) १३ कार्तिक (दीपमालिकाकी शाम)को अन्तिम समाधि लगाकर अपने कामका बोझ आर्यसमाजोंपर छोड़ा। देशके सब प्रान्तोंमें शोक सभाएं हुई और कोई भी समाचारपत्र ऐसा न था जिसमें उनके काम और विद्वत्ताकी प्रशंसा न निकली हो। जब समाचारपत्रोंमें यह शोकसमाचार मुद्रित हुआ उस समय मैं जालन्धरमें था। मेरी प्रेरणापर शोकसभा पण्डित शिवनारायण वकीलके कमरेमें की गयी। लाहौरसे वक्ता माँगे गये। वहांसे पण्डित गुरुदत्त और लाला हंसराज भेजे गये। हम सब उनके स्वागतके लिए रेलवे स्टेशनपर गये। जब एक पिद्दा सा एम॰ ए॰ क्लासका विद्यार्थी और बी॰ ए॰ क्लासका सुकड़ साहड्डियोंका पिंजर दिखाई दिया तो पण्डित शिवनारायणादिने कहा कि लाहौर वालोंने हमारे साथ मख़ौल किया है कि लड़के भेज दिये। परन्तु जब लाला हंसराज उर्दूमें और पण्डित गुरुदत्त अंग्रेजीमें संशोधक दयानन्दके गुण वर्णन कर चुके तो एक दर्जनसे अधिक वकीलोंमेंसे किसीका हौसला नहीं पड़ता था कि उनके धन्यवादके लिए चार शब्द बोल दे। अन्तको सब शेख़ीबाज़ोंको मौन देखकर पण्डित देवीचन्द्र वकीलने चार पंक्तियाँ बोल दीं।

इतरावस्था की पराकाष्ठा और

उसकी समाप्तिकी तय्यारी

जिला जालन्धरके प्राड़ विवाकों (कानून पेशा आदमियों)की सूचीमें नाम लिखाकर वकीलोंके कमरे (बार-रूम) में बैठने और गपशप लगानेका

अधिकार हो गया। कुछ सम्बन्धियोंके मुकद्दमोंमें, बिना उजरत लिए, मुख्तार-नामोंपर "स्वीकार है" (एक्सेप्टेड) लिखकर अपने नये पदका प्रमाण भी दे दिया; परन्तु अभीतक मँगनीकी गाड़ीपर ही कचहरी जाता रहा और श्वशुर-गृहमें ही भोजन करता रहा। इस प्रकार दस दिन बीतनेपर दुण्डे मौलाबख्श बीस बरसके चलतेपुर्जे युवकको भाई बालकरामजीने मुंशी रखवा दिया। शर्त यह ठहरी कि यदि काम लाने अर्थात् मुक़द्दमें वालोंको मेरे पञ्जेमें फँसवानेमें कृतकार्य हुआ तो, एक महीने पीछे, वह स्थिर कर दिया जावेगा। मौलाबख्श उसी साँझ एक फौजदारीवाले मुलज़िम (अपराधी) को फाँस लाया जिसकी पेशी फिल्लौरके तहसीलदारकी अदालतमें थी। दूसरे दिन प्रातः २५) जेबमें डालकर मैं फिल्लौर चल दिया। वहाँ पहुँचनेपर पता चला कि तहसीलदार साहब रातको कचहरी करते हैं। सय्यद आबिदहुसैन तहसीलदार थे। वह मेरे पिताको अपना बुज़ुर्ग समझते थे, क्योंकि उनके पिता 'सय्यद हादीहसन' मेरे पिताके साथही संवत् १९१७ (सन् १८६०) में बरैलीके डिपुटी कलेक्टर रह चुके थे। मैं उन्हींके यहाँ उतरा। मुंशी दो मुक़द्दमें मुंसफीके ले आया। दोनोंमें आठ आठ रुपये पेशगी फीस मिली। दिनको मुंसफीमें काम किया, एकका फैसला अनुकूल होनेपर ८) रुपये और मिल गये। दूसरेमें दस दिनकी तारीख पड़ गयी। रातको तहसीलदार साहबके सामने पेशी हुई। वह दीर्घसूत्री थे। आधी शहादत लेकर मुकद्दमा ७ दिनोंके लिए मुलतवी कर दिया। रातकोही तहसीलदार साहबकी सम्मतिके अनुसार निश्चय हुआ कि फिल्लौरमें ही कार्य आरम्भ कर देना चाहिये। फिल्लौरमें उनदिनों बड़ी रौनक थी। छोटीसी छावनी भी थी, किलेमें भी कुछ गोरे रहते थे, रेलका स्टेशन भी अव्वल दर्जेका था। तहसीलदार साहबकी कृपासे रेलवेस्टेशनके समीप ही, चौमुहानीपर, एक दोमञ्जिला कमरा किरायेपर मिल गया। फिल्लौरसे ही पिताजीको लिख दिया कि बरैली कार्ट और मुश्कन घोड़ी, बरतन इत्यादि समेत भेज दें। भृत्य भी पिताजीने तलवनसे ही भेज दिया। मैं भी तीन चार दिनमें भाई बालकराम आदिसे विदा होकर फिल्लौरमें जम गया; और लगी आकाश-वृत्तिका मौज आने। जिस प्रकार खुलफई ब्राह्मण, अनिश्चित यजमानोंके दानपर निर्भर किये, टाँगपर टाँग रक्खे बैठे रहते हैं और उन्हें कोई दिन भूखे और कोई दिन खीर मालपुएका बीतता है- इसी प्रकारके नये-वकील मुख्तारकी भी गति है। किसी दिन दोनों जेबें भर गयीं। फिर चार चार दिन आमदनीकी फाकामस्ती।

अस्तु, मैं फिल्लौरमें जमगया। फाल्गुन (फर्वरी और मार्च) में खूब काम चमका। मुझे पिताजीका असीम प्रेम और उनकी क्षमा कभी भूली न थी। सङ्गति भी बराबरवाले शराबियोंकी प्राप्त न थी। मुंसिफ भी दीनदार सुन्नी मुसलमान थे। सय्यद आबिदहुसैन शिया थे, परन्तु इतने परहेजगार कि सिवाय मेरे पिताजीके और किसी हिन्दू काफिरके हाथका छुआ पानी तक नहीं पीते थे।

कोई दूसरा वकील मुख़तार वहाँ था नहीं। मैं भी परहेजगार बन गया। फाल्गुनके मध्यमें (फरवरी समाप्त होते ही) आदित्यवारको तलवन गया। सारी आमदनी व खर्चका हिसाब पिताजीके सामने रखकर अपनी पहिली कमाईके ७५) रुपये उनके चरणोंपर रख दिये। पिताजी बहुत प्रसन्न हुए और मुझे हार्दिक आशीर्वाद दिया। मैंने प्रतिज्ञा की कि प्रत्येक मासके आय-व्ययका हिसाब उनके सामने पेश किया करूँगा। दूसरे मासमें २००) प्राप्त हुए और ७५) व्यय; शेष १२५) फिर भेंट किये। तब पिताजीने कह दिया कि "तुम्हारी परीक्षा होचुकी, अब कमाओ और गृहस्थी चलाओ, मुझे सन्तोष है।"

वैशाखके आरम्भ (अप्रैलके मध्यभाग) में निश्चय हुआ कि परिवार भी फिल्लौर आजावे। एतदर्थ देवीको पुत्री सहित पहले तलवन लेगया। पिताजीका पुनः आशीर्वाद लेकर चलनेको ही था कि मेरठसे भाई मूलराजपर एक मुकद्दमा चलने और उनके मुअत्तल होकर पुलिस-लाइनज़्में लाये जानेका समाचार आया। उसी समय बिहार-प्रान्तके भागलपुर शहरसे पिताजीके नाम एक मुकद्दमेमें गवाही देनेके लिये सम्मन आया। यह उन मुकद्दमोंमेंसे एक था जिनका, बलियामें रहते हुए ही, पता लगानेपर उन्हें विशेष पारितोषिक मिल चुका था। धर्मपत्नीको तलवनमें ही छोड़ मैं फिल्लौर गया। जाते ही पता लगा कि "मौलाबख़श" मेरे नामपर सौदागरसे अंग्रेजी शराब-दुकानदारसे घी और बासमतीके चावलादि उधार ले आया है। यह भी पता लगा कि वह रातको बैठकके नीचे नहीं सोता प्रत्युत वेश्याके घर रहता है। उसका अप्रैल (वैशाख) का वेतन मुझे देना था, वह देकर मैंने दुकानदारको निपटाया और मुंशी साहबको उसी समय चलता किया। मौलाबख़शके जालन्धर जानेके पीछे शराबके सौदागरादि आये, परन्तु फिर क्या हो सकता था। मौलाबख़्श भोजन मेरे यहाँ करता था, १०) मासिक वेतन मिलता था, ३०) वा ३५) मासिक मुकद्दमेवालोंसे ले छोड़ता था। यह सब कुछ व्यय करनेके अतिरिक्त पचास साठ रुपये लोगोंके मारकर भाग गया।

मौलाबख़्शसे इस प्रकार छुटकारा हुआ। बग्घी, घोड़ी तथा अन्य सामान तलवन भेज और शेष मुक़द्दमे निबटा कर मैं पिताजीके साथ मेरठ चल दिया। पिताजी तो एक दिन ठहर कर भागलपुर चले गये और मैं भाई साहबके मुक़द्दमेंकी तय्यारी करके वकीलको देनेके लिये, उनके पास पुलिस लाइनमें जा रहा। बीस दिनों पीछे पिताजी लौटे। उनके लिये अलग मकान किरायेपर ले छोड़ा था, उसीमें मैं भी आ रहा ज्येष्ठ और आषाढ़ (मई जून) मास मेरठमें ही व्यतीत हुए। पिताजी इन्स्पेक्टर जनरल पुलिस तथा अन्य हाकिमोंके नाम मुझसे पत्र लिखवाते रहे। अन्तको भाई साहब अपनी जगहपर बहाल तो हो गये परन्तु पिताजीने उन्हें सम्मति दी कि नौकरी छोड़ और इज्जत लेकर घर चले आवें। रिशवतसे धन काफ़ी कमा चुके थे, उन्होंने भी पिताजीकी आज्ञाको शिरोधार्य समझ कर, एक मास पीछे त्यागपत्र दे दिया और

जन्मभूमिमें लौटकर, पिताजीसे मकानोंका हिस्सा बँटवा, अपने लिये नया मकान बनवाना शुरू कर दिया।

श्रावण (जुलाई) में मैं तलवन लौटा। वहाँसे जालन्धर जाकर वह महीना तो मकान किरायेपर लेने और सामान मँगानेमें व्यतीत हुआ। भाद्रपद (अगस्त) में अभी दुकान जमने ही लगी थी कि आश्विन (सितम्बर) की छुट्टियाँ आ पहुँचीं। बग्घीमें घोड़ी जोतकर फिर तलवनको चल दिया।

कार्तिक लगते ही फिर जालन्धर पहुँचा। मुख़तारी फिर चमकने लगी। शराबने फिर दबा लिया। फिल्लौरमें पिताजीको हिसाब देना होता था। यह सदाचारके पथसे डगमगाना रोकनेके निमित्त मेरे लिये बड़ा भारी अंकुश था। यदि गृहदेवीकी सत्सङ्गति या पुत्रीका सहवास नित्य होता तो भी रक्षा होती। परन्तु देवी पितृगृहमें रहती थी; मैं दूसरे तीसरे मिल आया करता था। उर्दू 'नज़्म् नसर' (पद्य गद्य) का शौक बारदूममें जोरोंपर था और पंजाबियों तथा उर्दूके केन्द्र स्थानोंमें घूम आनेवालोंमें प्रामाणिक समझा गया था। हर महफ़िलमें मैं बुलाया जाता। फिरसे पूरी बोतल चढ़ानेकी आदत पड़ गयी। काम तो चला और आमदनी भी बढ़ी; शरीरके सब भोग प्राप्त हो गये परन्तु आत्मा है वा नहीं, इसमें भी सन्देह हो गया। और तो क्या, शारीरिक भोग भी दुःखदाई हो गये। यह माना कि शरीरमें बाह्य परिवर्तन कुछ नहीं मालूम होता था, चलता भी पुरानी तेजीसे ही था, पूरी बोतल चढ़ा जानेपर भी न पैर डगमगाते और न वाणी लड़खड़ाती। परन्तु मस्तिष्कका यह अवस्था हो गयी कि आध घण्टा पढ़नेके पीछे सिरमें चक्कर आने लगते और पाँच मिनिट किसी एक विषयपर विचार न कर सकता। ये सब सामान किसी बड़े परिवर्तनके सूचक थे।

अन्धकारकी अन्तिम रात्रि

पौष संवत् १९४१ (दिसम्बर सन् १८८४) में मालूम हुआ कि साधारण शिक्षितोंको वकालतकी परीक्षा देनेके लिये एक वर्षका समय और दिया गया है। उसके पश्चात् विना बी० ए० पास किये कोई भी मुख़तार वकालतकी परीक्षा न दे सकेगा। मुझे वकालत पास करना आवश्यक था क्योंकि मुख़तार को. जिस मुक़द्दमेमें चाहे अदालत पैरवी करनेसे रोक सकती थी। मैंने बड़े दिनकी छुट्टियोंसे पहले ही काम बन्द करके लाहौर जा वकालतके लिये व्याख्यान सुननेकी तय्यारी कर ली थी परन्तु मद्य मांस खाने पीनेवाले (हमप्याला हमनिवाला) मित्रोंने दावत देना शुरू कर दिया। प्रत्येक शामको किसी न किसी मित्रके यहाँ मुर्गोंके गले काटे जाते, अण्डे भूने जाते और प्याले के दौर चलते। नित्य दिनको तय्यारी करता और नित्य ही सायंकाल वह की करायी तय्यारी प्यालेका लहरमें बह जाती।

एक दिन एक बड़े वकीलके यहाँ निमन्त्रण था। वहाँ खुला दौर चला। और तो सब अपने अपने घरोंको चले गये; मेरे साथ केवल एक "पाँचो ऐब-शरयी" बाँके मुख़तार रह गये। उन्हें कच्चे घड़ेकी चढ़ी हुई थी। बाहर निकलते ही उनका पैर लड़खड़ाया, मैं अपने अभ्यासानुसार बराबर होशमें था। मेरे साथीका घर शहरकी गलियोंकी भूलभुलइयांके अन्दर था। उन्हें घर पहुँचाना मेरा कर्त्तव्य ठहर गया। बग्घीको वहाँसे विदा करके मैं बदमस्त शराबीके साथ शहरके अन्दर घुसा। मेरा एक हाथ साथीकी कमरमें और दूसरा उसके हाथको सहारा दे रहा था। मार्गकी एक गलीमें मुझसे छूट वह एक घरके अन्दर चला गया। मैं पहुँचा तो वहाँ एक वेश्या बैठी देखी। मुझे बहुत लज्जा आयी परन्तु बदमस्तको तो घर पहुँचाना था। उसकी गालियाँ सहते हुए भी उसे फिर वहाँसे ढकेला और उसके घर पहुँचा दिया। तब अपने उस समयके डेरेपर लौट आया। जिस मित्रके यहाँ उतरा हुआ था, वह बोतल खोले बैठे थे। अभी रातके आठ ही बजे थे। फिर दौर चलने लग गया। आधी बोतल शेष थी जो दोनोंने समाप्त की और दूसरी बोतल खुल गयी। उसीमें से अभी एक एक पेग* ही चढ़ाया था कि मेरे यजमान (मेज़बान) भी आपेसे बाहर होने लगे। मैंने उन्हें पीनेसे रोक कर सोनेको कहा। वह बीचका किवाड़ खोल साथके कमरेमें गये। उनके जाते ही मैंने एक बार और पी ली और दूसरी बार प्याला भरनेको सोच ही रहा था कि साथके कमरेसे चीख़की आवाज़ आयी। मैं किवाड़ा ढकेल कर अन्दर पहुँचा तो देखा कि एक युवा देवी मेरे राक्षस मित्रके हाथोंमें छटपटा रही है और वह उसपर पाशविक आक्रमण कर रहा है। यदि मैं दो मिनिट और न पहुँचता तो शायद उसके पातिव्रत्य धर्मकी रक्षा न हो सकती। उस समय बिजलीकी तरह मेरी आँखों–मेरी अन्दरकी आँखों–के सामने राजरानीका पवित्र चित्र घूम गया और मेरी धर्मपत्नी शिवदेवी जीका मानों मूर्त्ति स्थित हो गयी। मैंने उस नराधम मित्रके दोनों हाथ पकड़कर उसे ढकेल दिया। वह गिरा और देवी काँपती हुई अन्दर भाग गयी। पिशाच मित्रको ज़बरदस्ती उसके पलँग-पर लिटा कर मैं बाहर आ गया और विचित्र दशामें बैठ गया। मेरा गत सारा जीवन मानसिक दृष्टिके आगे घूमने लगा और मद्यसे पूरा वैराग्य उत्पन्न हुआ। परन्तु पुराने अभ्यासके अनुसार यह सूझी कि शेष बोतल समाप्त करके सदाके लिये उसके प्रलोभनसे मुक्त हो जाऊं। इस विचारसे पूरा बड़ा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टिके सामनेसे एक और पर्दा उठा और यति दयानन्दकी विशाल मूर्त्ति कोपीन लगाये, शरीरमें विभूति रमाये और हाथमें मोटा लठ्ठ लिये सामने आखड़ी हुई। ऐसा जँचा मानो महात्मा कह रहे हैं—"क्या अब भी परमेश्वरपर तेरा विश्वास न होगा?" आँख मली, मूर्त्ति कहीं सामने न थी परन्तु हृदय काँप उठा। मेरा कमरा सड़ककी एक ओर था और दूसरी

---

* Peg

ओर किसी दूसरेके घरकी दीवार थी, गिलास उठा कर जो फेंका तो सामनेकी दीवारमें लग कर चूर चूर हो गया। फिर बोतल उठाकर ज़ोरसे फेंकी वह भी दीवारमें टकराकर टुकड़े टुकड़े हो गयी।

उठकर मुँह-हाथ धोया और बैठ कर सोचने लगा। यदि उस समय निद्रा न आ जाती तो व्याकुलताका कोई पारावार न रहता। परन्तु दयालु पिताकी बड़ी कृपा हुई। एक दम नींद आ गयी, छ बजे नींद खुली। उठकर शौच स्नानसे निवृत्त होकर सामान बग्घीमें लादा और सीधा रेलवे-स्टेशन पहुँचा। प्रातः दस बजे ट्रेन लाहोरकी ओर जाती थी उसकी प्रतीक्षामें बैठ गया। मित्र आठ बजे उठ कर मुझे लौटा ले जानेके लिये पहुँचे, परन्तु अब मैं लौटता कब था? न भोजनकी इच्छा न जलकी। ट्रेन आयी और गाड़ीमें बैठ गया। सामान, मेज़ कुर्सी सहित, पहलेसे बुक करा चुका था। सारे मार्गमें मैं अपने ध्यानमें ही निमग्न रहा। मार्गमें ट्रेनका हर्जा भी हो गया परन्तु मेरा ध्यान न उखड़ा और आँखें उस समय बाहर देखने लगीं जब ट्रेन मियाँमीरके स्टेशन-पर पहुँची। तब तीन बज चुके थे। मुझे प्यास मालूम हुई। सोडावाटरकी एक बोतल लेकर पी और सावधान हो गया।

लाहौर रेलवे-स्टेशनपर पहुँचकर सामान ब्रेकसे छुड़ाया और सीधा रहमत खाँके अहातेके एक मकानमें पहुँचा जहाँ रायज़ादा भक्तरामने मेरे लिये एक कमरा सुरक्षित कर रक्खा था। जाते ही भोजन किया और रातके आठ बजे तक पुस्तक वस्त्रादि ठीक प्रकार रख और मेज़ कुर्सी लगा आध घण्टा कुछ पढ़ा और फिर सो गया। इसी नींदके अन्दर मानो नए जन्मकी तय्यारी की और लाहौर पहुँचनेके दूसरे दिनसे ही जीवनमें पूरा परिवर्त्तन हो गया।

द्वितीय परिच्छेद

प्रकाशका क्रमशः विजय।

आचार्यका आदेश पूरा हो रहा है।

लाहौरमें पहिली रात सोकर आँखें खोलीं तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी नये जगत्में प्रवेश किया है। शौचादिसे निवृत्त होनेपर मनमें उत्साह और शरीरमें स्फूर्तिका स्पर्श होने लगा। भ्रमणके लिये बाहर निकला और बिना प्रयास ही गोलबागका रास्ता पकड़ा। दो मील तेज चलकर लौटनेके बाद आध घंटा वाटिकामें बैठकर आत्मिक आनन्द लिया। साम्प्रदायिक उपासना-विधियोंसे मैं अपरिचित न था. परन्तु उस समय रचनामें रचयिताको ढूढ़ते हुए मुग्ध हो गया। आध घण्टे पीछे धीरे धीरे धरतीपर ग रखते हुए अपने डेरेपर लौटा।

उसी दिन नियमपूर्वक लॉ क्लास (कानूनी जमायत) में नाम लिखवाकर पहले पाठमें शरीक हुआ, और रातको नियमपूर्वक कानूनी किताबों-का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। तीसरे दिन आदित्यवार था। प्रातः आर्य-समाज मन्दिरमें हरिकीर्तनका आनन्द लिया। दो मुसल्मान रबाबी भजन गाया करते थे। व्याख्यान क्या था, चाऊंचाऊंका मुरब्बा था। कहीं पौरा णिक और ईसाई मतोंका खण्डन, कहीं देशोन्नतिके लिए अपील, कहीं विधवा-विवाहका (नियोग नामसे) मण्डन और कहीं नित्य हवनके लिये दलीलें। शामको ब्राह्म मन्दिरमें गया। वहाँ भी वही रबाबी गा रहे थे। उनके तराने समाप्त होनेपर साधारण ब्राह्म समाजके आचार्य शिवनाथ शास्त्री वेदीपर आये। ईश्वरप्रार्थनाके समय उनकी शान्त मूर्ति, उनके हृदयवेधक उच्चारण और उनके प्रेमरसमें पगे हुए शब्दोंने मुझे आकर्षित किया। उनके धर्मोपदेशका विषय था—"भक्तिका महत्त्व" और मैं था बिछुड़े हुएसे मिलनेका प्यासा। इतना प्रभावित हुआ कि ब्राह्म समाजके सम्बन्धमें जितनी पुस्तकें भी उस समय मिलीं सब खरीद लीं, और अपने कमरेमें पहुँच एक लघु पुस्तक (पैम्फलेट) को उसी रात समाप्त करके सोया।

पाँच छः दिन इन्हीं पुस्तकोंका स्वाध्याय, कानूनी पढ़ाईके साथ, आधे समयका हिस्सेदार बनता रहा। सीधी सड़क चलते चलते एक जगह रोड़ा अटक गया। लाला काशीराम उस समय नव-विधान समाजके मुखिया थे। उन्होंने पुनर्जन्मके खण्डनमें कोई लघु पुस्तक लिखी थी। ब्राह्म समाजके साहित्यमें जीवात्माकी उत्पत्ति अर्थात् उसका आदि, परन्तु साथ ही उसकी अनन्त उन्नति*का, सिद्धान्त समझमें न आया। मैं काशीरामजीके मकानपर गया। उन्होंने मेरी शंका सुनकर अपनी लघु पुस्तक पढ़नेको दी। मैंने उसे डेरे पहुँचते पहुँचते मार्गमें ही पढ़ लिया। दूसरी वार फिर उसे ध्यानपूर्वक पढ़ा, और जो शंकायें सूझीं उन्हें नोट कर लिया। मुझे चैन कहाँ था, उसी शाम दफ्तरका समय समाप्त हुआ समझ कर लाला काशीरामके घर पहुँचा। आध घंटा प्रतीक्षा करनेपर भी वह न आये। उनके छोटे भाई भक्त माधोराम आर्य-समाजी थे। उन्हें कह दिया कि अगली सुबहको अवश्य पहुंचूंगा, इसलिये अपने भाईसे घर ठहरनेके लिये निवेदन कर दें। दूसरे दिन काशीराम जी मेरा इन्तज़ार कर रहे थे। मैंने अपनी शंकाएँ पेश कीं। उन्होंने उत्तरमें मुझे बाबू केशवचन्द्र सेन और बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदारनिर्मित ग्रन्थोंके पढ़नेकी सम्मति दी। मैं उन ग्रन्थोंको पहले ही पढ़ चुका था। तब उन्हें मेरी शंकाओंको सुनना पड़ा। ब्राह्म समाजी उत्तरोंसे मेरी तसल्ली न हुई, उलटा पुनर्जन्म एवं कर्म फलके सिद्धान्तपर निश्चय और भी दृढ़ हो गया। तब पादरी स्काटके साथ आचार्य दयानन्दके शास्त्रार्थका स्मरण आया। मैं सीधा बच्छोवालीके आर्य-समाज-मन्दिरकी ओर सत्यार्थप्रकाश खरीदनेके विचारसे चल दिया। विक्रयका पुस्तकभण्डार बन्द था। चपरासीने कहा कि लाला केशवराम पुस्तकाध्यक्षके आनेपर पुस्तक मिल सकेगी। मैंने उनके घरका पता लिया और दो घंटोंकी आवारागर्दीके पीछे उनका घर ढूँढ़ निकाला। केशवजी घर न थे। बड़े तारघर गये थे, क्योंकि वह तार बाबू (सिग्नलर) का काम करके ही आजीविका प्राप्त करते थे। मैं तारघरका पता लगाकर वहाँ पहुँचा। उस समय वह छुट्टीमें जलपानके लिये घर गये थे। मैं फिर उनके घर लौटा तो वह तारघर लौट गये थे। पूछनेसे पता लगा कि वह डेढ़ घण्टेमें ड्यूटीसे लौटेंगे। मैंने वह डेढ़ घण्टा पासकी गलीके अन्दर गश्तमें बिताया। एक सज्जन बाबू केशवरामजीके घरमें जाते दिखायी दिये। मैंने उन्हें जा घेरा—"महाशयजी! मुझे सत्यार्थप्रकाश खरीदना है।" उत्तर मिला—"निवृत्त होकर कुछ खालूं, फिर आपके साथ समाजमन्दिर चलूंगा।" मैंने अपना सारे दिनका इतिहास सुनाकर बाहर ठहरनेकी इच्छा प्रगट की। केशवजीका मुख सहानुभूतिसे चमक उठा और उन्होंने कहा—"महाशयजी! चलिये पहले आपको पुस्तक दे दूं। जबतक आपका काम न कर लूं मुझे इतमीनान न होगा।"

---

* Eternal Prog ress

समाज-मन्दिरमें पहुँचनेपर सत्यार्थप्रकाश मेरे हाथमें रक्खा गया। मैंने मूल्य दिया और इस प्रकार आह्लादपूर्वक लौटा मानो कोई बड़ा कोश हाथ लग गया है। मेरे साथी मुझे प्रातःकालके भोजनमें संम्मिलित न देख विस्मित थे। जब मैं पहुँचा तो सायंकालका भोजन परसा जा रहा था, खूब भूख लगी थी; भोजन रुचिपूर्वक किया। शामको भ्रमणके लिए गया ही नहीं, लैम्प जला, सत्यार्थप्रकाशकी भूमिका समाप्त कर प्रथम समुल्लासके स्वाध्यायमें लग गया।

आर्यसमाजमें प्रवेश।

संवत् १६४१ का माघ मास और आदित्यवारका दिन है। नास्तिकपनके गढ़ेसे मैं निकल चुका हूँ। धर्म विषयक गहरे आन्दोलनके पश्चात् सत्यार्थप्रकाशका पाठ दिन रात आरम्भ कर चुका हूँ। अनारकलीके पास रहमत खाँके अहातेमें एक तीन कमरोंवाली कोठीके बाईं ओरके कमरेमें मैं प्रातः ६ बजे कुरसीपर बैठा हूँ। सत्यार्थप्रकाशको आठवाँ समुल्लास सामने खुला पड़ा है, किन्तु मैं हाथपर सिर रखे किसी गम्भीर विचारमें निमग्न हूँ। इतनेमें कमरेका द्वार खुला और मेरे मित्र सुन्दरदासजीने अन्दर प्रवेश किया। उनके पैरकी आहटने मुझे विचारनिद्रासे जगा दिया। यह सुन्दरदासजी रावलपिण्डीके राजकान्तिक आन्दोलनमें फँसे वकील, लाला अमोलकरामके भाई और आर्यजातिकी उन्नतिके दृढ़ पक्षपाती थे। सुन्दरदास भी जानते थे कि आस्तिक बननेके पश्चात् मेरा अधिक झुकाव ब्राह्म समाजकी ओर हो रहा है। उन्होंने पूछा —'किस चिन्तामें हैं, कहिये कुछ निश्चय न हुआ?" मेरी ओरसे उत्तर मिला—"पुनर्जन्मके सिद्धान्तने फैसला कर दिया, आज मैं सच्चे विश्वाससे आर्यसमाजका सभासद बन सकता हूँ।" इस उत्तरने सुन्दरदासजीके मुखकी कान्तिको ऐसा उज्ज्वल कर दिया कि उसका तत्काल ही मुझपर प्रभाव पड़ा। मैं अपने ४० वर्षके आर्यसामाजिक जीवनमें जब जब किसी संशयात्मक व्यक्तिको संशय-सागरके किनारेपर पहुँचा कर श्रद्धा और विश्वासकी रमणीय वाटिकामें विश्राम करानेका साधन बना हूँ तब तब कई बार मैंने इस प्रकारके आह्लादका अपने अन्दर अनुभव किया है।

सुन्दरदासजीको हम सब "भाई सुन्दरदास" कहते थे। यद्यपि उनके नामके साथ इस शब्दका प्रयोग उनके मित्रोंने हँसी-दिल्लगीसे किया था, किन्तु जिस प्रेमसे वे अपने मित्रोंकी सेवा किया करते थे और जिस प्रकारका भ्रातृभाव उनके अन्तःकरणको पवित्र कर रहा था, उसके बाह्य वर्तावने उन्हें सचमुच अपने मित्रोंका भाई ही बना दिया था। भाई जी वहीं जम गये। मेरे स्थानमें ही स्नानादि नित्य क्रियाओंसे निवृत्त होकर मुझे साथ ले, आर्यसमाजकी ओर चल दिये।

लाहौर आर्यमन्दिरमें पहिली वक्तृता ।

भाई सुन्दरदासजीके साथ मैं शाह-ए-आलमी दरवाजेसे नगरके अन्दर प्रवेश करके सीधा आर्यसमाजमन्दिरमें पहुँचा। वच्छोवालीका वर्तमान मन्दिर ही पुराना समाजमन्दिर है। इस समय बहुत कुछ परिवर्तन होनेपर भी उसकी पुरानी दशा आँखोंके आगे स्पष्ट घूम रही है। द्वारके अन्दर जाते ही बाईं ओर बड़े आँगनके पासवाले दालानमें मेज रहता था। उसके नीचे आँगनमें बड़े तख्तपर ईश्वरोपासना करनेवालेके लिए स्थान था। दालानके सामने खड़े होकर बाईं ओरकी छोटीसी कोठरीमें पुस्तकालय था।

संवत् १६४१ के माघसे मैं लाहौर पहुँचकर प्लीडरी परीक्षाकी तय्यारी कर रहा था। तबसे यह नियम था कि प्रत्येक रविवारको प्रातः आर्यसमाज और सायंकाल ब्राह्मसमाजके अधिवेशनोंमें सम्मिलित होता। किन्तु इस दिन कुछ भाव ही और था, और आर्यमन्दिरकी छवि भी कुछ निराली ही दिखायी देती थी। वही दोनों रबाबी (गायक) जिनको हर सप्ताह ब्राह्म और आर्यमन्दिरोंमें विहारीलालकी संगीतमाला तथा नानक और कबीरके ग्रन्थोंमेंसे भजन गाते सुनता था; आर्यमन्दिरमें सारंगीके अलाप और तबलेकी थापके साथ भैरवीकी तान तोड़ रहे थे।

"उतर गया मेरे मनदा संसा जब तेरा दरसन पायों" कैसे समयके अनुकूल शब्द थे जो मेरे कानोंमें पड़े।

मैं सामनेवाली दीवारके पास बैठ ही रहा था कि आर्यसमाज लाहौरके प्राणदाता स्वर्गीय लाला साईंदासजीके कानमें भाई सुन्दरदासजीने कुछ कहा, शायद यह बतलाया कि मैं ऋषि दयानन्दकी शरण ग्रहण कर चुका हूं। उस शक्तिशाली मूर्तिको कौन भूल सकता है? जिस समय भारतवर्षमें चारों ओर विदेशी सभ्यताकी लहरने प्राचीन सभ्यताको छिपाना आरम्भ किया था, उस समय ऋषि दयानन्दके उपदेशपर जिन कुछ महानुभावोंने स्वदेशीका आदर आरम्भ किया उनमें लाला साईंदासजी अग्रणी थे। किसीके शिरपर स्वदेशी पटका, किसीका कुरता स्वदेशी गवरूनका, किन्तु लाला साईंदास शिरसे पैर तक स्वदेशी रंगमें ही रंगे होते थे। शिरपर लुधियानेकी सादी लुंगी, जिसके नीचे तीक्ष्ण मर्मवेधक आँखें जो दूसरेके अन्तःकरणतकके भावोंको समझ लेतीं। गलेमें सादा गवरूनका कुरता, जिसपर जोड़ीका सादा चोगा पड़ा होता—और उस चोगेकी घुंडीमें गवरूनका रूमाल बँधा हुआ, कुंजियोंके गुच्छेको आश्रय देता, जो कन्धेके ऊपर पीछेको लटक जातीं। लाला साईंदासजीके पैरमें मैंने सदैव सादा पञ्जाबी जूता देखा। लालाजी पञ्जाब चीफ़कोर्टमें अनुवादक (ट्रैंसलेटर *) थे। आर्यमन्दिर तथा चीफ कोर्टकी पोशाकमें भेद केवल इतना होता कि जहां समाजमन्दिरमें स्वदेशी मोटी धोती पहिनकर आते वहां चीफ़कोर्ट जाते हुए स्वदेशी जोड़ीका पाजामा पहिन लेते।

---

* Translator.

लाला साइदासजी उपासनाकी चौकीकी बाईं ओर बैठा करते थे। उनकी दृष्टि मुझपर देरसे पड़ा करती थी। भाई सुन्दरदासजीकी बात सुनते ही लालाजीने दो तीन बार ज़ोरसे मुझे अपने पास बुलानेका इशारा किया। ऐसे समयमें लालाजीकी मोंछोंका फड़कना उनके अन्दर एक विचित्र प्रकारके तेजकी सूचना दिया करता था। मैं खसक कर लालाजीके पास जा बैठा, और उन्होंने बड़े प्रेमसे पीठपर हाथ धरकर मुझे आशीर्वाद दिया। इसी समय भाई दित्तसिंहजीने पञ्जाबी भाषामें बड़ा रोचक व्याख्यान आरम्भ कर दिया। भाई दित्तसिंह उन दिनों लाहौर आर्यसमाजके बड़े उत्साही सभासद थे और आदित्यवारको प्रायः व्याख्यान दिया करते थे। भाई दित्तसिंहजीने अपने व्याख्यानकी समाप्तिपर मेरे आर्यसमाजमें प्रवेशका ज़िक्र करते हुए मुझसे अपने तथा भाई जवाहिरसिंहजी मन्त्रीके पुराने सामाजिक सम्बन्धका वर्णन किया। उसके पश्चात् भाई जवाहिरसिंहजी उठे। वह उस समय लाहौर आर्यसमाजके मन्त्री थे। यह वही भाई जवाहिरसिंह थे, जो पीछे आर्यसमाजके नेताओंकी भूलसे अमृतसरके 'हर मन्दिर" के प्रबन्धकर्त्ता बननेकी धुनमें आर्यसमाजके शत्रु तथा अपने पूर्व गुरु ऋषि दयानन्दके निन्दक बन गये थे। किन्तु उस समय भाई जवाहिरसिंहजी ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाजके ऐसे भक्त थे कि जहाँ श्री साइदासजी तथा राय मूलराज, एम. ए. अंग्रेज़ी तथा उर्दूमें ऋषिसे पत्रव्यवहार करते वहाँ भाई जवाहिरसिंह सदैव आर्यभाषामें अपने गुरुको पत्र लिखा करते, अस्तु।

भाई जवाहिरसिंहजी उठे और मेरे आर्यसमाज-प्रवेशके विषयमें बहुत कुछ कहकर समाप्तिपर कह दिया कि ये अपने कुछ विचार उपस्थित सज्जनोंके समक्ष प्रकट करेंगे। इस विघोषणाने मुझपर मानो वज्रपात कर दिया। इससे पहिले मैं विद्यार्थियोंकी वाग्वर्धिनी सभाओंमें तो बोला था, न्यायालयोंमें न्यायाधीशोंके सामने मुकद्दमोंमें भी वक्तृता " की थीं, किन्तु सर्वसाधारणके किसी बड़े समूहके सामने व्याख्यान नहीं दिया था; पहिलेसे कुछ सोचनेका भी अवसर नहीं मिला था, इसलिये हैरान था कि क्या बोलूँ। उठते उठते यही सूझी कि अन्दरके भाव प्रकट कर दूँ। मुझे उस समयकी वक्तृताका पूरा स्मरण तो है नहीं किन्तु २० वा २५ मिण्टोंमें मैंने जो कुछ कहा उसका सारांश यह था कि हम सबके कर्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिये और इसलिये जो वैदिक धर्मके एक एक सिद्धांतके अनुकूल अपना जीवन नहीं ढाल रहा है उसे उपदेशक बननेका साहस नहीं करना चाहिये। मुझे याद है कि मैंने समाप्तिपर यह भाव भी प्रकट किया था कि भाड़ेके टट्टुओंसे धर्मका प्रचार नहीं हो सकता, इस पवित्र कार्यके लिये स्वार्थत्यागी पुरुषोंकी आवश्यकता है।

जिस दिन मैंने व्याख्यान दिया उस दिन आर्यमन्दिरमें अमृतसर-निवासी मास्टर हीरासिंहजी भी विद्यमान थे। वह लाहौरके ट्रेनिङ्ग स्कूलमें अध्यापकोंकी शिक्षा पानेके लिए गये हुए थे। जब दो तीन वर्षोंके पश्चात् मास्टर हीरा

सिंहजी जालन्धर अध्यापक बनकर आये, तो उन्होंने मुझे बतलाया कि मेरी पहिली वक्तृता सुनकर जब लाला साईंदासजी अपने घर आये तो उक मास्टर-जी तथा अन्य तीन चार आर्यसामाजिक सभ्योंके सामने उन्होंने कहा :— "आर्यसमाजमें यह नयी स्पिरिट (स्फुर्त्ति) आयी है। देखें यह आर्यसमाज-को तारती है या डुबो देती है।" मुझे अपने प्रवेशसे पहिलेका प्रत्यक्ष कोई हाल तो मालूम नहीं, किन्तु इतना अवश्य ज्ञात है कि उस समय सिवाय एक वैतनिक उपदेशकके और कोई उपदेशका काम नहीं करता था और सिवाय दोनों मुसल्मान रबाबियोंके लाहौर आर्यसमाजका कोई सभासद् भी स्वयम् ईश्वरकी स्तुति, प्रार्थना और उपासनाके भजन गायन नहीं किया करता था।

जो स्पिरिट स्वर्गीय श्रीमान् लाला साईंदासने आर्यसमाजके अन्दर नई समझी थी उसका परिणाम अच्छा निकला या बुरा, इसका पता पाठकोंको इसी लेखमालाके अन्दर बिना मेरी किसी टीका-टिप्पणीके मिल जायगा।

जालन्धर आर्यसमाजके साथ सम्बन्धका आरम्भ।

रहमत खांके अहातेमें तीन तीन कमरेवाले दो मकान हम लोगोंने इकट्ठे लिये थे। उनमें छः साथी एक साथ रहते थे, मेरे अतिरिक्त जो और पांच रहते थे, उनकी सूची यहीं दे देता हूँ—(१) मेरे भाई रायज़ादा भक्तराम, जो इस समय जालन्धरके प्रसिद्ध बैरिस्टर हैं। (२) म० मुकुन्दराम जो राय-ज़ादा भक्तरामके साथ ही बैरिस्टरीकी परीक्षाके लिए इंग्लैण्ड गये थे, जहाँ समुद्रमें नहाते समय उनकी अकालमृत्यु हुई। यह बड़े स्पष्टवक्ता और दृढ़ आर्य तथा सन्ध्यावन्दनादिके पालनमें बड़े पक्के थे। (३) स्वर्गीय म० रामचन्द्र जी होशियारपुर आर्यसमाजके प्रसिद्ध प्रधान। इनका नाम ही 'महाशय' था और यह उस समय भी बड़े कट्टर आर्यसमाजी समझे जाते थे। (४) महाशय फकीरचन्द्रजी श्याम चौरासी (जिला होशियारपुर) के प्रसिद्ध वज़ीर रामदित्तामलजीके भतीजे, जो यद्यपि उस समय स्वतन्त्र विचार रखते थे किन्तु पीछेसे हमारे कालिजवाले भाइयोंकी प्रादेशिक सभाके प्रधान हो गये थे और (५) रायबहादुर सुखदयालु एडवोकेट लाहौरके भाई मुखदयालु। इनमेंसे एक मैं ही प्लीडरीकी तय्यारी कर रहा था, शेष सब लाहौरके गवर्नमेण्ट कालिजमें पढ़ते थे। यद्यपि हम सब जुदे जुदे रहते थे-तथापि भोजन सबका एक ही स्थानमें बनता था, और भोजन जीमनेके लिए भी सब एक ही छोटे कमरेमें, और निमन्त्रित अतिथियोंके आनेपर किसी बरामदेमें, इकट्ठे हुआ करते थे। इतनी भूमिका आवश्यक थी, क्योंकि आगेके चार पाँच महीने मैंने उसी स्थानमें व्यतीत किये और इसलिये इस प्रबन्धकी ओर कई बार संकेत करनेकी आवश्यकता होगी।

लाहौरके आर्यमन्दिरसे लौट कर हम सब इकट्ठे अपने डेरेपर आये। मेरे कथनने मेरे साथियोंपर भी असर किया। भोजनके समय भाई सुन्दरदास, महाशय रामचन्द्र तथा महाशय मुकुन्दरामादिने यह निश्चय किया कि वैदिक धर्मका सन्देसा सर्वसाधारण तक पहुँचानेके लिये हम सब, सप्ताहमें कमसे कम, एक बार नगरके किसी भागमें, विना विज्ञापन दिये, पहुँचा करें। इस प्रतिज्ञापर उस वर्षके बड़े हिस्सेमें अमल होता रहा।

भोजनके पश्चात् कुछ कानूनी किताबें पढ़कर मैं टहल रहा था कि तीसरे पहरकी डाक आयी। उसमें जालन्धर कन्यामहाविद्यालयके प्रसिद्ध (वर्तमान) प्रधान श्री महाशय देवराजजीका पत्र था। मालूम होता है कि मेरे नास्तिकपनके गढ़ेसे निकलकर आस्तिक होनेका समाचार भक्तरामजीने अपने बड़े भाईको लिख दिया था। इन दोनोंने पहलेसे ही जालन्धरमें आर्यसमाज स्थापित कर छोड़ा था। इस पत्रमें देवराजजीने जो कुछ मुझे लिखा उसका सारांश यह था कि यतः मैं अब नास्तिक नहीं रहा इसलिये मैं जालन्धर आर्यसमाजका प्रधान बना दिया गया हूँ, और उन्होंने स्वयं मन्त्रीपद ग्रहण किया है। मैंने पत्र भक्तरामजीको दिखलाया और छूटते ही मेरे मुखसे निम्न शब्द निकले—

"भाई देवराज भी बड़े भोले हैं। केवल यह सुन कर कि मैं ईश्वरवादी हो गया, उन्होंने कैसे समझ लिया कि मैं आर्यसमाजमें भी प्रविष्ट हो गया हूं। बिना यह निश्चय किये और बिना मेरे परीक्षणके मुझे प्रधान बनाना बड़ा ही आश्चर्यजनक है।"

भाई भक्तरामजीने कहा—"बालकी खाल नहीं निकालना चाहिये और जालंधरी आर्योंको निराश नहीं करना चाहिये।" मैंने सोचनेके लिये समय माँगा—और विचार करने लगा।

सायंकालके भोजनके पश्चात् अन्य साथियोंका छोड़ अकेले भक्तराम जीको साथ लेकर मैं भ्रमणके लिये चल दिया और मैदानमें बैठ कर हम दोनोंने इस विषयपर कि मुझे प्रधानपद ग्रहण करना चाहिये या नहीं गम्भीर विचार आरम्भ कर दिया। मुझे जहांतक स्मरण आता है मैंने अपनी निर्बलताओं-की स्पष्ट समालोचना की और साथ ही प्रधानपदके उत्तरदातृत्वको भी बहुत कुछ बढ़ा कर सामने रखा। जब अन्तमें मैंने यह भाव प्रकट किया कि आर्य समाजके प्रधानत्वका उत्तरदातृत्व एक राजके शासन से भी बढ़कर कठिन है, तो भाई भक्तरामजी खिल खिलाकर हंस पड़े—

"मुंशीरामजी! चार टोटरू तो मेम्बर हैं और अभी लड़कोंका खेल है, आपने विचित्र उधेड़ बुन लगा दी।" इसपर मुझे भी हंसी आई और मैंने भी मान लिया कि मैंने बहुत कुछ अत्युक्तिसे काम लिया है। यह निश्चय करके कि मैं कुछ अधिक विचार करके उत्तर लिख दूँगा हम लोग डेरेपर लौट आये। इस छोटीसी साधारण घटनाका वर्णन मैंने इसलिये किया है कि जिस भावसे, विशेष समयोंमें, मैं प्रेरित होता रहा हूँ, वह सर्वसाधारणके सामने आ जाय।

बहुतसे मनुष्योंके लिये मतपरिवर्तनका निर्णायक कोई विशेष सामाजिक प्रलोभन या अन्य गौण बात हुआ करती है किन्तु मेरे लिए यह मतपरिवर्तन जीवन और मृत्युका प्रश्न था। इस समय तक भी मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी ओर है कि मैं साधारणसे साधारण सिद्धांतके प्रश्नको जीवन और मृत्युका प्रश्न बना लेता हूँ। मेरे जीवनकी बहुत सी घटनाओंको समझनेमें यही एक बात सहायता दे सकती है। इस घटनापर दीर्घ दृष्टि डालनेसे यह भी पता लग सकेगा कि दूसरोंके गुणों तथा योग्यताका मान करते हुए तथा वास्तवमें उनके प्रति प्रेम और आदरका भाव मनमें रखते हुए भी, क्यों मैंने ऐसे बहुत से पुरुषोंको शत्रु बना लिया है जिनका मेरे साथ मिलकर काम करना वैदिकधर्म तथा आर्य-जातिकी उन्नतिका साधक होता।

मैं तो अभी विचारसागरमें ही गोते लगाता रहा किन्तु भाई भक्तराम-जीने जालन्धर सूचना दे दी कि मुझे निःशंक होकर आर्यसमाज जालन्धरका प्रधान बना दिया जावे। मैंने आर्यसमाजका सभासद बननेपर आठवें समु-ल्लासको समाप्त कर सत्यार्थप्रकाशके पाठको दो दिनोंसे विराम दे छोड़ा था; किन्तु जब यह पता लगा कि मुझे निश्चितरूपसे एक आर्यसमाजका प्रधान बना दिया गया है तो मैंने फिर नियमपूर्वक प्रतिदिन दो घण्टे सत्यार्थप्रकाशके पठन व मननके लिये अर्पण करना शुरु कर दिया। नवें संमुल्लासमें मुक्ति विषयने बहुतसे संशयोंकी निवृत्ति करके मनुष्यजीवनके परमोद्देश्यके रहस्यको खोल दिया। पश्चात् मैंने दशम समुल्लासमें हाथ लगाया। उस समुल्लासमें भक्ष्याभक्ष्यके विषयने ज़ीवनमें एक और हलचल डाली जिसका सविस्तर वर्णन आवश्यक है।

मांसभक्षणका परित्याग

लाहौरमें जबसे मैं इस बार आया तबसे ही दोनों काल भ्रमणार्थ बाहर जाया करता। सायंकालको तो भोजनके पश्चात् अपने क़ानूनी सहपाठियोंके साथ बातचीत करते हुए मैं धीरे धीरे घूमा करता था, किन्तु प्रातःकाल नित्य लम्बा चक्कर लगाता, जिसमें थोड़ी दूरतक दौड़ना भी शामिल था। एक दिन, होलीसे चार पांच दिवस पहिले, मैं दूरसे भ्रमण करता हुआ अनुमान ५ बजे अनारकलीमें पहुँचा। बाहर स्वच्छ वायुका सेवन करते हुए वाटिकाओंके सुन्दर दृश्य देखे थे; अनारकलीमें सामनेसे एक मनुष्यके सिरपर मांसका टोकरा दिखायी दिया। टोकरेका उठानेवाला मनुष्य बोझके दबावसे बचनेके लिये भागा जाता था, और टोकरेमें भेड़-बकरियों और बकरोंकी खाल, उधड़ी हुई टांगें, बाहर लटकती हुई टाँगें एक भयानक घृणित दृश्य उपस्थित कर रही थीं। न जाने क्यों, उस दिन इस भीषण दृश्यने मेरा दिल दहला दिया। ऐसा प्रतीत होता था कि वह लटकती हुई टाँगें, मेरे अन्दरके तिरोहित करुणरसको अपील कर रही हैं। मैं बाल्यावस्थासे ही मांसाहारी था; पिताजी क्षत्रियके लिये मांसभक्षण स्वाभाविक समझते थे। फिर इस आकस्मिक करुणरस मतलब उस समय

कुछ भी समझमें न आया। उस टोकरेकी ओर मेरी टकटकी बँध गयी, कुछ सोचता हुआ मैं खड़ा हो गया, और उस समय तक टोकरेपर दृष्टि लगी रही जबतक कि वह आँखोंसे ओझल न हो गया। तब धीरे धीरे पैर बढ़ाते हुए चिन्तामें निमग्न रहमत खाँके अहातेवाले डेरेमें पहुँचा।

स्नानादि नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर सत्यार्थप्रकाशको हाथमें लिया ही था कि अपना एक और कर्त्तव्य याद आ गया। सप्ताहमें एक रात हमारे ही डेरेके एक बड़े कमरेमें संगत समाज (युनिअन क्लब) का अधिवेशन हुआ करता था जिसमें विविध विषयोंपर परस्पर विचार होता था। उस रातके अधिवेशनमें आरम्भिक वक्तृता मेरी थी। उसकी तय्यारीमें प्रातःकालका दृश्य भूल गया। तीसरे पहर तक कानूनकी पढ़ाईमें लगा रहा, जिसके पश्चात् सत्यार्थप्रकाशकी वारी आयी। उस दिन दशम समुल्लासमेंसे भक्ष्याभक्ष्यके विषयका आरम्भ था। ज्यों ज्यों मांसभक्षणके दोष पढ़ता गया त्यों त्यों प्रातः-कालका दृश्य मूर्तिमान् होकर मेरे समक्ष खड़ा होता गया। एक एक शब्द ध्यानपूर्वक पढ़ते पढ़ते भोजनका समय आ पहुँचा। अपने विचारमें निमग्न हाथ पाँव धोकर मैं भी भोजनगृहमें आ बैठा। अन्य खाद्य वस्तुओं-के साथ ही मांस भी कटोरेमें आया ही था कि उसे देख कर उस दिन ऐसी घृणा हुई कि काँसेके कटोरेको उठा दीवार पर फेंक मारा। कटोरा टुकड़े टुकड़े हो गया। मेरे साथी सब घबराये—"हैं! हैं! क्या तरकारीमें मक्खी पड़ गयी? क्या था? ओ मिश्शर! कमबख्त यह क्या किया............" मैंने सबको रोक कर कहा—"मिश्शर विचारेको कुछ मत कहो, एक आर्यके मतमें, मांसभक्षण भी महापापोंमें से एक है, मैं मांसका अपनी थालीमें रक्खा जाना सह नहीं सकता।" उस समय तो मेरे सब भाई ऐसे प्रभावित हुए कि चुप हो रहे, किन्तु पीछेसे कहते रहे कि कटोरा टुकड़े टुकड़े करनेके स्थानमें उसे मैंने केवल उठवा ही क्यों न दिया। उन्हें तो मैंने कुछ उत्तर न दिया किन्तु मनमें समझता था कि मैंने अपने कायरपनके कारण ऐसा किया। बचपनसे पड़े हुए अभ्यास और संस्कारकी बेड़ियोंको शान्तिसे काटनेकी शक्ति किन्हीं विरले बहादुरोंमें ही होती है। उस शाम भोजन बहुत कम कर सका। दूसरे दिनसे निरामिषभोजियोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी क्योंकि होशियारपुरके महाशय रामचन्द तथा लाला मुकुन्दराय, दोनों निरामिषभोजी थे। उसके पश्चात् कभी भी मांसभोजनकी रुचि तक नहीं हुई और कुछ दिनोंके पश्चात् ही मांसभक्षणसे ऐसी घृणा हुई कि मेरे लिये न केवल उस पंक्तिमें बैठना असह्य हो गया जिसमें मांस परोसा जाय, परन्तु मांसाहारियोंके चौकेमें खानेसे भी चित्त खिन्न होने लगा।

होलीकी छुट्टियोंके लिये मुझे भाई देवराज जीका निमन्त्रण मिला। मेरे आर्य-समाजी बननेके पश्चात् सभी जालन्धरी भाई मुझसे मिलना चाहते थे। इसलिये मैं होलीसे एक दिन पहिले ही जालन्धर पहुँच गया।

पहिला व्याख्यान

देवराजजी यद्यपि आयुमें मुझसे छोटे हैं किन्तु आर्य-समाजमें पहिले प्रविष्ट होनेके कारण वह मेरे जेठे आर्य-भाई हैं। फिर भी उस समय उनका समाज, लड़कोंका समाज ही समझा जाता था। मैं मुखतारीकी परीक्षामें उत्तीर्ण होकर एक वर्ष काम भी कर चुका था। मैं इसीलिये बुलाया गया था कि मेरे व्याख्यानको सुनकर सर्वसाधारण यह समझ लेंगे कि अब गृहस्थ व्यावहारिक पुरुष भी समाजमें सम्मिलित हो रहे हैं।

मेरे व्याख्यानका विज्ञापन दिया गया। कपूर्थलाराजके वकीलखानेके सामनेसे जरा आगे चलकर मुरलीमलपुरीकी धर्म्मशाला प्रसिद्ध थी; उसीको किराएपर लेकर आर्यसमाजके अधिवेशन प्रति आदित्यवारको हुआ करते थे। मेरा व्याख्यान भी वहीं हुआ। व्याख्यानका विषय था— 'बालविवाहके दोष और ब्रह्मचर्यकी महिमा'। भाई देवराज जीकी मनोकामना सिद्ध हुई। बाबू मदनगोपाल, बाबा सलामतराय आदि वकील तथा अन्य बहुतसे प्रतिष्ठित शिक्षित पुरुष व्याख्यान सुननेके लिये आये। स्थान ऊपरसे नीचेतक श्रोताओं-से खचाखच भरा पड़ा था। व्याख्यान भी 'कामयाबी' से समाप्त हुआ। किन्तु जब व्याख्यानके पश्चात् चौमुहानीपर पहुँचे और कुछ वकील खड़े होकर मुझे मेरे व्याख्यानपर "मुबारकबाद" दे रहे थे, उसी समय देवराजजीके "सिर्त" (*) ने दूसरी ओरसे मुझे बधाई दी—"सुखी रहो जजमान! देवराजजीके पुत्तर गन्धर्वराज दी कुड़माई लाला भवानीदास मुन्सफ दी पुत्रीनाल हो गई है। थुआनू बहुत २ बधाइयाँ"—सिर्त विचारा अभी बधाई देही रहा था कि बाबू मदनगोपाल प्लीडर बड़े जोरसे खिलखिलाकर हँस पड़े!—"वाह महाशयजी! मुझपर तो आपके व्याख्यानका खूब असर पड़ा। वाह! वाह!! वाह!!!"

बाबू मदनगोपालकी हँसी रुकती ही न थी। उनकी हँसीने केवल 'सिर्त' जीको ही अचम्भेमें न डाला प्रत्युत रास्ते चलतोंको भी रोक लिया।

पाठक हैरान होंगे कि बाबू मदनगोपालजीकी हँसी पागलपनकी हद्दतक क्यों पहुँच गयी? बात यह थी कि उस समय देवराज जीके बड़े पुत्र चि० गन्धर्वराजकी आयु शायद एक वर्षकी थी और लाला भवानीदास बी० ए० मुन्सिफकी पुत्रीकी आयु सवा वर्ष की। मैं और देवराजजी तो इधर बालविवा-हको रोकने और ब्रह्मचर्यका प्रचार करनेमें लगे हुए थे और उधर उनके

* पञ्जाबमें पुरोहितके अतिरिक्त प्रत्येक कुलका एक रोटी बनानेवाला ब्राह्मण लागी होता है जिसका परिवार विवाहादि संस्कारोंपर यजमानोंके यहाँ रोटी बनानेका काम करता है। ऐसे लागीको "सिर्त" कहते हैं।

पिता राय शालिग्रामजी एक वर्षकी आयुके अपने पोतेकी सगाई सवा वर्षकी लड़कीके साथ करनेके शुभ कार्यमें निमग्न थे। इसपर किसी दर्शकको जितनी भी हँसी आती थोड़ी थी। बाबू मदनगोपाल तो हमारी हँसी उड़ाते हुए विदा हुए और मैं तथा देवराजजी बहुत लज्जित और उदासीन होकर घरको लौट आये। किन्तु हो क्या सकता था; उस समय मौनावलम्बन ही करना पड़ा।

यहाँ कालक्रमकी विधिका अनुसरण छोड़कर मैं इतना लिख देना आवश्यक समझता हूँ कि जब लड़के और लड़की दोनोंकी आयु १४ वा १५ वर्षतक पहुँची और समधीने विवाहपर ज़ोर दिया तो देवराजजीके दृढ़ रहनेपर और यह कहनेपर कि मैं अपने पुत्रका विवाह २५ वर्षकी आयुसे पहिले कदापि न करूंगा, वह नाता टूट गया और चिरञ्जीव गंधर्वराजका विवाह पूर्ण युवावस्थामें ही एक सुयोग्या विदुषी देवीके साथ हुआ।

उपर्युक्त पहिला व्याख्यान सुनकर मैं फिर वकालत-परीक्षाकी तय्यारीके लिये लाहौर चला गया।

एक दृढ़ आर्यसामाजिक मित्र

लाहारमें उन दिनों शिवनारायण अग्निहोत्री (वर्तमान देव-समाजके गुरु) के उर्दू व्याख्यानोंकी धूम थी। उन्हीं दिनों आलाराम भी आर्यसमाजकी शरणमें आया था, और कवित्तों, सवैयों और दोहोंमें अपने व्याख्यान लिखकर दिया करता था। हमारे डेरेमें इन दोनोंके व्याख्यानोंके सम्बन्धमें बड़ा मनोरञ्जक विवाद हुआ करता था। महाशय रामचन्द्र तो कट्टर आर्यसामाजिक होनेके कारण आलारामको आस्मानपर चढ़ाते थे और अग्निहोत्रीको अपने धर्मका विपक्षी होनेके कारण अयोग्य बतलाते थे और रायजादा भक्तराम, अधिकतः महाशय रामचन्द्रको खिझानेके लिये, अग्निहोत्रीकी बहुत प्रशंसा करके आलारामको तुकबन्दकी उपाधि दिया करते। यह विवाद यहाँ तक बढ़ा कि महाशय रामचन्द्रजीकी संज्ञा ही आलाराम हो गयी।

सांसारिक यशकी ऊँची कामनाएँ

मद्य मांसका सेवन सर्वथा त्याग करनेके कारण मेरी बुद्धिमें स्थिरता फिरसे दृढ़ होने लगी थी, इसलिये वकालतकी तय्यारी शुरू करते ही विचार अधिक उच्च होने लगे। लॉ कालिज (कानूनकी शिक्षाका विद्यालय) उस समय अलग न था। गवर्नमेण्ट कालिजके ही एक कमरेमें डिस्ट्रिक्टजज मिस्टर ई० डब्ल्यू० पारकर प्लीडरी परीक्षाके उम्मीदवारोंको व्याख्यान दिया करते थे, और मुख्तारी क्लास लाला लालचन्दजीके सुपुर्द था। पारकर साहबका नाम तो कुछ विद्यार्थियोंने "पाड़ खाँ" अर्थात् फाड़ खाने वाला रक्खा था, क्योंकि वह आदमीके गले ही पड़ जाया करते थे और कुछ उन्हें 'पाटे खाँ' की

उपाधि देते थे, क्योंकि साहब बहादुर अपनी योग्यताके खिलाबेम भी एक थे। लाला (पीछे राय बहादुर) लालचन्द्र, एम. ए. बड़े सुशील तथा सादे आदमी थे, यहाँतक कि सिवाय नीची आँख करके व्याख्यान देते जानेके, वह कभी भी किसी विद्यार्थीपर दृष्टि डालते नहीं देखे गये। तीसरे लाला सर्दारीलाल गवर्नमेण्ट कालिजके क्लार्क थे, जिनको डाक्टर लाइटनरकी कृपासे मुख्तारी क्लासकी रीडरीके लिए ५०) मासिक मिलते थे। इनकी कहानी विचित्र थी। तहसीलदारी इन्होंने पास की, रीडरी भी इन्होंने हस्तगत की किन्तु रहे जन्मभर क्लार्कोंकी मेजपर ही कलम घिसते। एकबार ये डिविजनल-जजके क्लार्क आफ दि कोर्ट बनाकर भेजे गये थे, जहाँसे शीघ्र मुन्सिफ बन जानेकी सम्भावना थी; किन्तु अपनी कालिजवाली मेज और चपरासीके कमरेवाला ललेरा (तम्बाखू पीनेका नारियल) ऐसा याद आया कि १५ दिनोंके पश्चात् मुंसफी आदिको जवाब देकर लौट आये। इन्हें कानून वानून तो कुछ आता जाता न था, केवल किताब पढ़ते जाते थे। विद्यार्थियोंने आपसे प्रश्न पूछना शुरू किया। लाला सर्दारीलालजी पहिले तो बहुत घबराये, किन्तु अन्तको छुटकारेका मार्ग ढूँढ़ही लिया। जब कभी कोई विद्यार्थी प्रश्न करता तो आप उत्तर देते— "भाई। मैं लेक्चरार नहीं हूँ कि प्रश्नोंके उत्तर दूँ, मैं तो रीडर (पाठ करनेवाला) हूँ, जो पढ़ता जाऊँ सुनते जाओ"। विद्यार्थी भी यहाँ हार खा गये।

हमारी पढ़ाईमें हालैंड्स जूरिस्प्रूडेन्स* भी था। यह अंग्रेजी धर्म-शास्त्रका ग्रन्थ बड़ा कठिन था। मिस्टर पारकर उसपर किये प्रश्नोंके उत्तरमें बड़े चकराया करते थे। एक दिन एक विद्यार्थीके प्रश्नपर आज्ञा लेकर मैंने सन्तोषजनक उत्तर दे दिया। मिस्टर पारकरने मुझसे प्रमाण पूछा। मैंने बेन्थम† और ऑस्टिन‡ आदि प्रसिद्ध धर्म-शास्त्रज्ञोंके प्रमाण पेश किये, जिसपर एक ओर तो मेरे कुछ सहपाठियोंने गोलबागमें बैठकर मुझसे हालैंड्स जूरिस्प्रूडेन्स समझना आरम्भ कर दिया और दूसरी ओर पारकर साहबने लॉ क्लासके विद्यार्थियोंकी एक वाग्वर्धिनी सभा खोल दी, जिसका मुझे प्रधान बनाया। यहाँ प्रश्न यह होगा कि अन्य विद्यार्थियोंसे अधिक धर्मशास्त्रकी पुस्तकें मैंने क्यों पढ़ीं? मैंने केवल यही पुस्तकें नहीं पढ़ी थीं, परन्तु प्राचीन रोम§ के कानूनकी पुस्तकें भी देखी थीं। मुझे केवल इसीपर सब्र न था। जालन्धरके बाबू देवी सिंह प्रसिद्ध वकील थे। वह मेरे मित्र थे। उनके द्वारा उनके भाई बाबू दसवन्धी रायजीसे परिचय हुआ। बाबू दसवन्धीराय लाहौर चीफ़ कोर्टमें वकालत करते थे और उनका कानूनी पुस्तकालय बहुत बड़ा था। मैंने उसमेंसे सब हाईकोर्टोंकी रिपोर्टोंको पढ़ना आरम्भ कर दिया अर्थात् न्यायाधीशकृत धर्मशास्त्र (केस लॉ) को भी राष्ट्रीय व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेचर) कृत धर्मशास्त्रके साथ पढ़ना आरम्भ किया।

---

* Halland's Jurisprudence † Bentham ‡ Austin
§ Ancient Rome

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब मुझे परीक्षा ही देनी थी, तो जो पुस्तकें उसके लिये नियत थीं उन्हींपर बस क्यों न की। इसका कारण यह था कि उस समय मैं अपने अन्तःकरणमें कुछ और ही निश्चय कर चुका था। मेरा व्यावहारिक उद्देश्य उस समय मनमें यह दृढ़ हुआ था कि किसी समय चीफकोर्ट लाहौरकी जजीकी कुरसीपर बैठूं। इस उच्च उद्देश्यने मुझे उस सारे साहित्यकी ओर खींचा, जो मेरे उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक हो सकता था। संवत् १९४२ के मार्गशीर्ष (सन् १८८५ ईसवीके अन्त) तक इस उद्देश्यने मुझे बांध रखा, उस समयके बाद उद्देश्यमें कैसे परिवर्तन हुआ उसकी कथा समय आनेपर सुनाऊँगा।

बड़ी छुट्टियाँ उन दिनों आषाढ़ (जुलाई) में आरम्भ होती थीं। उस समयतक मैं प्रत्येक सप्ताह आर्यमन्दिर तथा ब्राह्ममन्दिरमें नियमपूर्वक जाता रहा, विशेष व्याख्यानोंमें भी सम्मिलित होता रहा। इसके अतिरिक्त सारा समय कानूनी किताबें याद करने तथा विशेष पुस्तकोंके पढ़नेमें लगाता रहा। मेरी स्मरणशक्तिका अपने सहपाठियोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता था। सायंकालके भ्रमणमें मैं किसी एक विषयकी पुस्तकका मतलब कहानीकी तरह सुनाना आरम्भ करता और मेरे दस पन्द्रह साथी सुनते जाते। वाग्वर्धिनी सभा भी बड़ा काम करती रही। यद्यपि मिस्टर पारकरके नाम रक्खे गये थे, तथापि विद्यार्थियोंके अधिकारोंका वह आदर करते थे। जब कभी हमारे अधिवेशनमें आते तो सभापतिको अपना आसन न छोड़ने देते और स्वयं बेञ्चपर बैठकर विवादमें भाग लेते। वह दिन अच्छे ही व्यतीत हुए।

आर्यसमाजमें आरम्भिक अनुभव

अनुमान ऐसा होता है कि मैं जालन्धरकी उड़ारी-मार यात्रासे लौटकर सवा या डेढ़ महीने ही लाहौरमें रहा, क्योंकि मुझे भली प्रकार याद है कि ज्येष्ठ शुक्लकी निर्जला एकादशी मुझे अपने जन्मस्थान तलवनमें मिली थी। इस सवा या डेढ़ महीनेके अन्दर मैंने जो अनुभव प्राप्त किये उनमेंसे जो कुछ स्मरणशक्ति प्रत्युत्पन्न कर सकती है उन्हें यहां संक्षेपसे देता हूं।

लाला साईंदास जी उस समय आर्यसमाज लाहौरके स्वामी समझे जाते थे। वह पब्लिक व्याख्याता कभी थे ही नहीं। समाचारपत्रोंमें भी वह प्रत्यक्ष रूपसे कुछ नहीं लिखते थे। उस समय तक उन्होंने एक उर्दू ट्रैक्ट "एक आर्य" नामसे लिखा था जिसमें कलकत्तेके पण्डितोंकी ऋषि दयानन्दके विरुद्ध दी हुई व्यवस्थाकी पड़ताल की गयी थी; लाहौर आर्यसमाजकी परिधिसे बाहर उनको कोई भी नहीं जानता था। बाहरके लोग राय मूलराज, लाला जीवनदास और भाई जवाहिर सिंह आदिसे अधिक परिचित थे, किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी लाहौर आर्य-समाजकी—और उसके साथ पञ्जाबके सारे आर्यसमाजोंकी, जिनका जीवन उस समय लाहौर आर्यसमाजपर ही नि र था—सारी कलाके संचालक लाला साईंदास जी ही थे। इस शक्ति

तथा अधिकारको वे ही लोग जानते हैं, जिन्हें लाला साईंदास जीसे अधिक वास्ता पड़ता था। पब्लिकमें वह कभी मुँह नहीं खोलते थे और यही समझा जाता था कि उनमें वक्तृत्वशक्ति नहीं है, किन्तु जब श्रोताओंकी संख्या एकसे अधिक न होती उस समय लाला साईंदास जीसे बढ़कर कोई वागीश दिखायी नहीं देता था। इतिहासके वह अवतार थे और विशेषतः ईसाइयोंके धार्मिक इतिहासके अतिरिक्त मुसल्मानों और सिक्खोंके इतिहाससे भी भली प्रकार अभिज्ञ थे। उनके जीवनकी सादगीका वर्णन मैं पहिले कर चुका हूं।

लाला जीवनदासजीके विचित्र व्यसनका पता उनसे परिचित होते ही मुझे लग गया था। आप कभी भी समालोचनासे चूकते न थे। एक विद्यार्थीके आर्य्य बननेका प्रार्थनापत्र पेश हुआ। आप उठकर उच्चस्वरसे प्रश्न करते हैं "क्यो इनकी आयु १८ वर्षकी है ?" श्री साईंदास जीकी मूंछें फड़कीं, और उन्होंने उन्हें हाथके इशारेसे बैठाना चाहा। इसपर श्री जीवनदासने आसमान सरपर उठा लिया—"मैं इस तरह नहीं दबूँगा, मेरा हक़ है कि मैं पूछूँ......" इसपर मन्त्रीने प्रार्थनापत्र पढ़ना आरम्भ किया, जिसमें आयु १६ वर्षकी लिखी थी। श्री जीवनदास जी इन दिनों पञ्जाबके फिनान्शल कमिश्नरके कार्यालयके अनुवादक थे। आपके अनुवाद किये हुए सैकड़ों सरक्यूलर आदि मैंने देखे हैं। अपने महकमेमें भी शब्दोंपर "हिन्दीकी चिन्दी" निकालनेके लिये आप प्रसिद्ध थे। जब सायंकाल दफ्तरसे लौटते तो रास्तेमें अनारकलीकी बहसमें शामिल होते। उन दिनों मौलवी, पादरी, ब्राह्म-समाजी, आर्यसमाजी—सभी सड़कोंके पुलोंपर खड़े होकर वाद विवाद करते थे, किन्तु इस समयकी भाँति रंगमें भंग पड़नेका अवसर नहीं आता था। श्री जीवनदास जीके उत्तम स्वास्थ्य तथा स्पष्ट वक्तृत्वकी उन दिनों मेरे चित्तपर बड़ी भारी प्रतिष्ठा बैठ गयी थी।

शायद उन्हीं दिनो स्वर्गीय मिस्टर ह्यूम कांग्रेसकी स्थापनाके लिये आन्दोलन करने लाहौरमें आये थे। मुझे ज्ञात हुआ था कि जिस किसी सुशिक्षित हिन्दुस्तानीसे भी वह मिलना चाहते वहांसे ही उन्हें निराश होना पड़ता। न जाने कैसे मि० ह्यूमको यह निश्चय हो गया कि जो शक्ति हिन्दुस्तानियोंको उनसे मिलने नहीं देती वह राय मूलराज, एम० ए० के रूपमें है। शिक्षक-दलमें यह प्रसिद्ध हो रहा था कि मि० ह्यूम ब्रिटिश गवर्नमेण्टके गुप्तचर हैं जो हिन्दुस्तानियोंको किसी जालमें फंसाने आये हैं। परमात्माके सिवाय यह कौन जान सकता है कि उसमें राय मूलराजका भी हाथ था वा नहीं; और उसके लिये कोई विश्वासजनक साक्षी भी नहीं है। किन्तु मि० ह्यूमने वह चिर-स्मरणीय चिट्ठी श्री लाला साईंदासजीको लिख मारी जिसका स्मरण पंडित गुरुदत्त जीने मेरे सामने उक्त लालाजीको तीन वर्षों के पश्चात् कराया था। उस चिट्ठीमें मि० ह्यूमने यह लिखा था कि उनके माननीय मित्र स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित समाजका सभासद राय मूलराज, एम० ए० सा व्यक्ति नास्तिक कैसे हो सकता है।

उन दिनों हम सब इकट्ठे रहनेवाले साथियोंके अन्दर धर्मप्रचारके लिये बड़ा उत्साह था। भाई सुन्दरदास, मैं, महाशय रामचन्द्र तथा मुकुन्द-लालजी नित्य किसी न किसी चौमुहानीपर खड़े होकर एक मासतक सर्व-साधारणको वैदिक धर्मका सन्देश सुनाते रहे। दुःखकी बात है कि छुट्टियोंसे लौटनेपर अन्य कामोंमें फँस जानेके कारण उस पवित्र काममें वह उत्साह न रहा। इन्हीं दिनों साधु आलारामके व्याख्यानोंके अतिरिक्त लाहौर शहरके मध्य "बावली साहेब" में चौधरी नवलसिंहकी लावनियाँ हुईं जिनके प्रभावसे कोट बूटवाले बाबुओंके अतिरिक्त दूकानदारों तथा आर्यजातिके सर्वसाधारण इङ्गलिश-शिक्षा-शून्य पुरुषोंका प्रेम भी आर्यसमाजके साथ बढ़ गया।

लाहौरसे मैं बड़े उच्च विचार तथा उत्साह लेकर जालन्धर आया और अभी दो तीन ही व्याख्यान दिये थे कि मेरे ग्रामसे पिताजीके रोग-ग्रस्त होनेका समाचार पहुँचा। इस समाचारको सुनते ही मैं अपने ग्राम तलवनको चला गया। वहां पिताजीकी शारीरिक दशा अच्छी न देखी। उनपर यह पहला आक्रमण अर्धाङ्ग रोगका हुआ जिसने अन्तको एक वर्षके पश्चात् उन्हें उनके परिवारसे सदाके लिये जुदा कर दिया। मेरे जाने और योग्य वैद्योंसे इलाज करानेपर पिताजीकी शारीरिक अवस्था उस समय तो कुछ अच्छी होगयी, किन्तु दृष्टि-शक्ति उसी समय कम होगयी थी। इस रोगका प्रधान कारण वह निकम्मापन था जो हमारे देशके पेन्शनरोंकी अकाल-मृत्युका कारण हुआ करता है। पिताजी ३० वर्षोंसे अधिक तक बराबर दिन भर काममें लगे रहते थे, और वह भी घुड़सवारी और दौड़-धूपका काम। पेन्शन लेनेपर उन्हें कोई काम न रहा और निष्प्रयोजन भ्रमण करनेके वह कभी भी अभ्यासी न थे। मैंने कई बार प्रेरणा की कि अपने खेतों आदिका ही निरीक्षण कर लिया करें किन्तु वहाँके कामका यथार्थ हाल तो वह चार पाँच उधर आनेवालोंसे जिरहके सवाल करके जान लेते थे। व्यायामका अभाव उनके रोगग्रस्त होनेका कारण हुआ, जिससे बड़ी भारी शिक्षा मैंने ली है और मेरे पाठकोंको भी लेनी चाहिये।

पहिली आत्मिक हलचल

(न हि सत्यात्परो धर्मः)

पिताजीके अपेक्षाकृत नीरोग होनेपर भी मैं तलवन ग्राममें ही ठहर गया और उनकी सेवा करने लगा। इतनेमें ज्येष्ठकी निर्जला एकादशीका दिन आ पहुँचा। स्नान पूजासे निवृत्त होकर पिताजी अपनी बैठकसे घरमें आये। यहाँ झञ्झर पानीसे भरकर और उसके ढक्कनपर खरबूजा, मीठा और दक्षिणा धरकर सारे घरको संकल्प पढ़ना था। निर्जला एकादशीके दिन जितना जल हमारे हिन्दू भाई पीते हैं उसे देखकर इस अनोखे धार्मिक संस्कारपर हँसी आती है। व्रत तो यह कि एक दिन-रात निराहार, यहाँ तक कि विना

जलके, निर्वाह करगे और व्रतियोंका आचरण यह कि दिन भर खरबूजे खाकर शरबत पीते पीते हैजेके शिकार बन जायँ! कैसी अद्भुत लीला है!

निर्जला एकादशीका दिन मेरी धार्मिक परीक्षाका पहिला अवसर था। पिताजी मेरे साथ अपने सब पुत्रोंसे अधिक प्रेम करते थे। उनको अपने मन्तव्यमें पूर्ण श्रद्धा थी और उसके वह प्रचारक भी थे। जहाँ वह अपने इष्टदेवकी भक्तिमें कभी आलस्य नहीं करते थे वहाँ पञ्जाबके बेसुरे हिन्दुओंको मुसलमानोंकी कब्रोंकी पूजासे रोकनेमें भी तत्पर रहते थे। तलवन ग्राममें सैकड़ोंको उन्होंने कब्रपरस्तीसे रोककर ठाकुरजीके मन्दिरका सेवक बना दिया था। पिताजीने संकल्पके समय मुझे बुलानेको आदमी भेजा। मैं जानता था कि आज परीक्षाका दिन है। उससे बचनेके लिये अपनी बैठकमें पुस्तक खोलकर पढ़ने बैठ गया था। मैंने समझा था कि आँखें बन्द कर लेनेसे बला टल जायगी किन्तु पिताजीका दूत सिरपर आ सवार हुआ। मैं उठकर पिताजीके पास जानेके लिये बाधित हुआ। उस समयका दृश्य मुझे कभी नहीं भूल सकता। घरमें दो मंजिलेपर एक लम्बा दालान है। उसमें सामने बड़े आसनपर पिताजी बैठे हुए हैं और उनके सामने एक लम्बी पंक्तिमें झज्झरें सजी रक्खी हैं। सबके सामने मेरे भाई भतीजे बैठे हैं, जो संकल्प कर चुके हैं और केवल एक झज्झरके सामनेका आसन मेरे लिये खाली पड़ा है। मैं सामने पहुँच कर खड़ा हो गया, और नीचे लिखी बातचीत हुई:

पिताजी—"आओ मुन्शीराम! तुम कहाँ थे? हमने तुम्हारी बड़ी प्रतीक्षा करके सबसे संकल्प पढ़ा दिया है। तुम भी संकल्प पढ़ लो, तब मैं भी संकल्प पढ़कर निवृत्त हो जाऊँगा।"

मैं पिताजीसे स्पष्ट कहनेमें डरता था इसलिये पहला उत्तर यह दिया—"पिताजी! संकल्प तो दिलके साथ सम्बन्ध रखता है, जब आपने संकल्प किया है तो आपका दान है, जिसे चाहें दें। इसलिये मैंने आना आवश्यक नहीं समझा था।"

पिताजीको मेरे आर्य बननेकी खबर मिल चुकी थी। पहिले तो उन्हें कुछ प्रसन्नता सी हुई थी क्योंकि उनको केवल इतना ही पता लगा था कि मैं नास्तिकसे आस्तिक बन गया हूँ। किन्तु जब जालन्धरसे मेरे तथा देवराजजीके व्याख्यानोंका समाचार उन्हें मिला तो उन्होंने देवराजजीके पिता राय शालिग्रामजीको लिखा था कि हम दोनोंको अपने देवी-देवताओंकी निन्दा करनेसे रोकना चाहिये। बीमारीमें वह इन सब बातोंको भूल गये थे किन्तु आज सब पुराने संस्कार जाग उठे। पिताजीने मेरे उत्तरमें कहा—

"क्या मेरा धन तुम्हारा नहीं? फिर उसमेंसे दान देनेका तुम्हें अधिकार क्यों नहीं? और क्या दिलका संकल्प बाहर निकालना पाप है? तुम ठीक कारण क्यों नहीं बतलाते?" इतना कहकर पिताजीने सीधा वार किया—"क्या तुम एकादशी और ब्राह्मणपूजापर विश्वास नहीं रखते? क्या बात है?"

इस स्पष्ट प्रश्नपर निकलनेका कोई मार्ग न देख पड़ा, मैंने कहा,—"ब्राह्मणत्वपर तो मुझे पूर्ण विश्वास है, किन्तु जिनको आप दान देना चाहते हैं, वे मेरी दृष्टिमें ब्राह्मण नहीं हैं, और एकादशीके दिनमें भी मैं कुछ विशेषता नहीं समझता।" मेरा इतना कहना था कि पिताजी आश्चर्ययुक्त होकर मेरी ओर देखने लगे। मैंने आँखें नीची कर लीं। एक क्षणके पश्चात् पिताजीने दीर्घ श्वास लिया और कहा—'मैंने तो बड़ी आशा देकर तुम्हें बड़ी सरकारी नौकरीसे हटा वकालतकी ओर डाला था। मुझे तुमसे बड़ी सेवाकी आशा थी; क्या उस सबका फल मुझे यही मिलना था? अच्छा जाओ।" मैं चुपचाप नीचे उतर आया और सारे दिन शोक-सागरमें डूबा रहा।

दो तीन दिन तो मैं पिताजीके पास जानेसे घबराता रहा और वह मुझे बुलानेसे टलते रहे; किन्तु उनके हृदयमें मेरे लिये गहरा प्रेम था। एक दिन मुझे स्वयं बुलाकर किसी अपने अंग्रेज मित्रको पत्र लिखवाया। शनैः शनैः निर्जला एकादशीके दिनका दृश्य मेरी दृष्टिसे ओझल हो गया। छुट्टियाँ शायद भाद्रपदके तीसरे सप्ताह तक थीं। मैंने सारी छुट्टियाँ पिताजीकी चिकित्सा कराने और उनकी सेवा करनेमें व्यतीत कीं। इन्हीं दिनों मैंने सत्यार्थ-प्रकाश, आर्याभिविनय और पञ्च महायज्ञ-विधिकी पूरी आवृत्ति की और जब लाहौर चलने लगा उस समय तक ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकाका आधा पाठ कर चुका था। इस पढ़नेके काममें मुझे एक योग्य शिष्य मिल गया। पञ्जाबमें संस्कृतज्ञोंका वैसे ही उस समय अभाव था और फिर ग्राममें तो संस्कृतका काम ही क्या; किन्तु तलवनके देहाती मदरसेका द्वितीयाध्यापक (८ रुपये मासिक पानेवाला) काशीराम संस्कृत जानता था और इसलिये पिताजीको उनकी रुचिके अनुकूल धर्मग्रंथ सुनाया करता था। वही काशीराम मेरे पठन-पाठनमें भी सम्मिलित हुआ और जब मैं तलवनसे लाहौर लौट गया तो पीछे उसीने पिताजीका श्रद्धा मेरे मन्तव्योंके ऊपर जमवायी।

कानूनकी पुस्तकें मैं प्रायः याद कर चुका था, सत्यार्थप्रकाश आदि सारा दिन पढ़ते रहना कठिन था, और आर्यसमाजमें प्रवेश करते ही अंग्रेजी उपन्यासों (नाव्हेल्स) से भी मुझे घृणा हो चुकी थी। तलवनमें कोई ऐसे सुशिक्षित सभ्यपुरुष भी न थे जिनसे बातचीतमें दिन कटता। इससे मैं एक पुराने व्यसनके प्रलोभनमें फिरसे फँसा। काशीसे अन्तिम वार विदा होनेसे पहिले मैंने बड़े बड़े शतरञ्जियोंसे शतरञ्ज खेलना सीखा था। तलवनमें पहुँच कर देखा कि मेरे परिवारके मुसलमान उस्तादोंका घराना साराका सारा प्रसिद्ध शतरञ्जवाज है। वहाँ उस खेलमें और भी शिक्षा मिली। फिर जालन्धरमें भाई बालकरामजीको शतरञ्जका बड़ा शौक था; उनके साथ खूब मुक़ाबिला होता रहा। सारांश यह कि शतरञ्जबाजीमें मैं बहुत सा समय नष्ट किया करता था; किन्तु आर्यसमाजमें प्रवेश करते ही जहाँ मांस-भक्षणको त्याग दिया, जहाँ उपन्यासोंको उठाकर जुदा रख दिया, वहाँ शत-

रञ्जको भी तिलाञ्जलि दे दी थी। किन्तु तलवनमें निकम्मा बैठे रहनेपर सामने मोहरों की खटाखट देखकर मुझसे न रहा गया और फिर शतरंजके खेलमें दिनके पाँच छः घण्टे व्यर्थ गँवाने लग गया। इसके अतिरिक्त मुझे सितारका भी शौक था और अपने उस्ताद वृद्ध पीरबख्श कलावन्तसे सितारपर कुछ भजनोंका अभ्यास करता रहा।

दूसरी आत्मिक परीक्षा

(नास्ति सत्यं समं तपः ।)

इस प्रकार, ज्यों त्यों करके मैंने दो माससे अधिक काट दिये, और लाहौरके लिये प्रस्थानका दिन निकट आगया। नागौरी बैलोंसे जुती हुई मझोली तय्यार हुई, उसके नीचे और पीछे सब असबाब रखवा और बँधवा कर मैं पिताजीकी सेवामें प्रणाम करनेके लिये उपस्थित हुआ। अपने बनवाये मन्दिरकी बड़ी डेवढ़ीके ऊपर उनके रहनेके कमरे बने हुए थे। पिताजी तकिया लगाये बड़े कमरेमें बैठे थे। उनका निजी सेवक भीमा खड़ा था। मैंने पहुँच कर पैरोंपर शिर रख कर प्रणाम किया। पिताजीने सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया। मैं चलनेके लिये उठने लगा। आज्ञा हुई कि अभी बैठ जाओ। फिर भीमा भृत्यकी ओर इशारा हुआ। उसने एक थालीमें मिठाई और उसके ऊपर एक अठन्नी रख कर थाली मेरे सामने की। तब पिताजीने कहा—"जाओ पुत्र ! ठाकुर जीको मत्था टेककर विदा होओ। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र भगवान्‌के पायक हनूमान जी तुम्हारी रक्षा करें।" मैं इतना सुनते ही सुन्न हो गया। काटो तो खून नहीं। कुछ उत्तर न बन आता था, चुपचाप बैठा था। पिताजीने मेरे मौनका कारण कुछ और ही समझा। मैं अपने निजके आरामके लिये जहाँ उन दिनों भी अधिक व्यय नहीं करता था वहाँ उदार भी बहुत था। जहाँ दूसरा आदमी दो आने पारितोषिक देकर सन्तुष्ट होता वहाँ मुझे आठ आनेसे कम देनेमें लज्जा आती। पिताजी स्वयं बड़े अच्छे प्रबन्धकर्त्ता थे और उनके गृहका सारा व्यय बड़े नियमसे चलता था। पिताजीने समझा कि मैं आठ आनेकी भेंट देवताके लिये कम समझता हूँ। भीमाको कहा गया कि अठन्नी उठाकर एक रुपया रख दे। उसने ऐसा ही किया। तब पिताजीने कहा—"लो पुत्र ! अब ठीक हो गया, देर होती है। ठाकुर जीको मत्था टेककर सवार हो जाओ।" तब मुझे अपने ऊपर बड़ा जब्र करके बोलना ही पड़ा। यह नहीं सूझता था कि किस प्रकार बोलूँ कि पिताजीको कष्ट न हो। मैंने कहा—"पिताजी यह बात नहीं है, किन्तु मैं अपने माने हुए सिद्धान्तोंके विरुद्ध कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ। हाँ, सांसारिक व्यवहारमें जो आप आज्ञा दें, उसके पालनके लिये हाजिर हूँ।" इतना कह कर मैं चुप हो गया। पिताजीके मुखपर कई प्रकारके उतराव-चढ़ाव आये

और उन्होंने क्रोध भरे शब्दोंमें कहा—"क्या तुम हमारे ठाकुरजीको धातु पत्थर समझते हो ?" इस समय मेरे अन्दर घोर संग्राम हो रहा था। न जाने कैसे धृष्टतासे मैंने कहा—"परमात्मासे नीचे अपने लिये मैं आपको ही समझता हूँ, किन्तु हे पिता ! क्या आप चाहते हैं कि आपकी सन्तान मक्कार हो ?" यह शब्द बड़े ही करुणापूर्ण स्वरमें मेरे अन्दरसे निकले थे। पिताजीकी जबान भी कुछ लड़खड़ा गयी—"कौन अपनी सन्तानको मक्कार देखना चाहता है ?" मैंने उस समयको जीवनकी रक्षा व मृत्युप्राप्तिका समय समझा और कहा—"तब मेरे लिये तो यह मूर्तियाँ इससे बढ़ कर कुछ नहीं और यदि मैं उनके आगे भेंट धर कर सिर झुकाऊँगा तो वह मक्कारी होगी।" कहनेको तो मैंने इतना कह डाला किन्तु उसपर पिताजीके हृदय-वेधक शब्द सुनकर मुझमें कुछ शक्ति ही नहीं रही। "हा ! मुझे विश्वास नहीं कि मरनेपर मुझे कोई पानी देने वाला भी रहेगा, अच्छा भगवन् जो तेरी इच्छा !" मैं मानों धरतीमें गड़ गया, पैर वहींके वहीं रहे। दस मिनट तक न मुझे ही कुछ सुध रही और न पिता जी ही कुछ बोले। फिर उन्होंने धीरेसे कहा,—"अच्छा अब जाओ, देर होगी। मैंने चुपचाप प्रणाम किया और नीचे उतर कर मझोली-पर सवार हो गया।

मझोली तक पहुँचते पहुँचते मेरे मनमें कई प्रकारके संकल्प-विकल्प उठते रहे। प्रधानतया यही विचार मेरे मनमें आता था कि जब मैं पिता जीके धार्मिक विचारोंसे सहमत नहीं, जब मैं उनकी स्वर्ग-प्राप्ति या मोक्षका साधन नहीं बन सकता, जिसके लिये उनके मतानुकूल मृतक-श्राद्ध तथा तर्पणादि आवश्यक हैं, तब मुझे क्या अधिकार है कि उनके कमाये धनमें हिस्सेदार बनूं। मुझे चलते समय पिताजीने पचास रुपये खर्चके लिये दिये थे। मैंने वह रुपये एक कागजमें बाँध कर अपने एक सम्बन्धीके हवाले किये और कह दिया कि दूसरे दिन सवेरे वह उस धनको मेरे पत्र सहित पिताजीके आगे पेश कर दें। पत्रमें केवल इतना लिख दिया कि जब मैं आपके मन्तव्यके विरुद्ध मत रखता हूं तो मुझे कोई अधिकार नहीं कि सुपात्रोंके भागमेंसे कुछ लूँ। जीवन शेष है तो आपके चरणोंमें अपनी भेंट रक्खूंगा ही।" मैं रुपये देकर चल दिया। अभी एक मील भी गाड़ी नहीं गयी थी कि घोड़ा सरपट दौड़ाते हुए वही सम्बन्धी आते दिखायी दिये। मैंने मझोली खड़ी करा दी; घुड़सवारने पहुंचते ही रुपयोंकी पोटली मेरे हवाले की और पिताजीका मौखिक सन्देश सुनाया। "तुम प्रतिज्ञा करके गये हो कि मेरी सांसारिक आज्ञाओंसे मुख नहीं मोड़ोगे। यह मेरी सांसारिक आज्ञा है कि यह रुपया ले जाओ और बराबर व्ययके लिये रुपया मुझसे मँगाते रहो"—पिताजीके इस सन्देशने मेरे हृदयकी डाँवाडोल अवस्थाको ठीक करनेमें बड़ी सहायता दी।

बात यह हुई कि मेरे सम्बन्धीजीने दूसरे दिनकी प्रतीक्षा करनेके स्थानमें उसी समय रुपयोंकी पोटली, मेरे पत्र सहित, पिताजीके आगे रख दी

जिसका परिणाम ऊपरकी घटना हुई। पिताजीसे इस प्रकार विदा होकर मैं उसी शामको जालन्धर पहुंचा। वहाँ देवराजजीसे ज्ञात हुआ कि मेरी अनुपस्थितिमें पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री आये थे जिनके व्याख्यान सरदार विक्रमासिंह आहलूवालियाके स्थानमें हुए किन्तु वे ठहरे लाला बालकरामजीके पास थे। भाई बालकरामजीने उस समय उनकी निर्बलताओंको खूब समझा, और मुझे कहा कि यद्यपि हमारे यहाँ ठहर कर यह आदमी आर्यसमाजके विरुद्ध नहीं बोलता, तो भी यह किसी न किसी दिन गुरुडमपर हाथ मारेगा और स्वामी दयानन्द और आर्यसमाजके विरुद्ध बोलेगा। भाई बालकराम जी "आदमी आदमी अन्तर" को खूब पहचाननेवाले थे और उनका निदान बहुत कुछ ठीक बैठता था। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात हुआ कि मेरी अनुपस्थितिमें आत्माराम संन्यासी भी जालन्धरमें व्याख्यान दे गये हैं और उनके व्याख्यानोंमें सरदार विक्रमासिंह आहलूवालिया सी. एस. आई. भी आया करते थे। मुरलीमलका धर्मशालावाले आर्यसमाजके मकानमें एक आदित्यवारकी ईश्वर-प्रार्थना और उपदेशका आनन्द उठाकर मैं लाहौर पहुंच गया।

लाहौरमें परीक्षाकी तय्यारी

आश्विन संवत् १९४२के मध्यमें (सितम्बर सन् १८८५ की समाप्तिपर) मैं लाहौर लौट आया। हमारे कानूनी प्रोफेसर श्री पारकरके लाहौरसे बदल जानेके कारण उनके स्थानमें कारस्टीवन साहब * हमारे प्रोफेसर नियत हुए। यह बड़े शान्तस्वभाव तथा जन-प्रिय थे। मैंने वकालत परीक्षाकी तय्यारी फिर बड़े ज़ोर शोरसे आरम्भ कर दी। मेरे दूसरे साथी भी सब लौट आये। आर्य समाजके कामोंमें यद्यपि मैं विशेष सहयोग देनेके योग्य न था तथापि मैं सभी साधारण तथा असाधारण अधिवेशनोंमें अवश्य सम्मिलित हुआ करता था।

लाहौरमें इन दिनों मलेरिया ज्वरका बड़ा जोर था। मैं भी ज्वरसे पीड़ित हुआ, यहाँ तक कि तापमापक यन्त्रका पारा १०६ दर्जे तक पहुँच गया। उसी शामको बच्छो वालीके आर्यसमाज मन्दिरमें एक असाधारण अधिवेशन होने वाला था जिसमें एक सर्दार साहबको अभिनन्दनपत्र देनेका निश्चय हुआ था, इसलिये कि वह अपनी बड़ी भारी सम्पत्ति एक आर्य स्कूलको स्थापित करनेके लिये आर्य समाजकी भेंट करने लगे थे। मेरी उत्कट इच्छा थी कि मैं इस अधिवेशनमें अवश्य सम्मिलित होऊँ। मेडिकल कालिजके एक मेरे मित्र विद्यार्थीने चार घण्टेमें ६० ग्रेन कुनीन खिला दी। ज्वर तो न चढ़ा परन्तु निर्बलता अत्यन्त हो गयी। उसी अवस्थामें मैं आर्यसमाज मन्दिरमें पहुँचा, और यद्यपि कानोंमें सनसनाहट इतनी थी कि वक्तृताएँ स्पष्ट न सुन सका, फिर भी हृदयको शान्ति रही।

इस प्रकार बलात्कारसे ज्वर उतारनेका सौदा मेरे लिये महँगा पड़ा। दूसरे दिन फिर जोरका ज्वर चढ़ा। जब ज्वर उतरा तब भाई सुन्दरदासजी मुझे

* Mr. Carr-stephen

एक यूनानी हकीमके पास ले गये। उनका नाम हकीम मुहम्मद शुजा उद्दीन था। हकीमजीका चेहरा देखते ही मुझे विश्वास हो गया कि मैं उनके इलाज़से स्वस्थ हो जाऊंगा। पहिले तो उनकी धैर्य बँधाने वाली बातोंने ही मुझे मोहित कर लिया और जब शायद दो माशे लाल सफूफ वाली दो पुड़ियाँ देकर शहदके साथ खानेकी हिदायत हुई तो मेरा दिल बाग बाग हो गया। हकीमजीने एक नुसख़ा भी दिया जिसका सेवन पुड़ियासे पहिले करना था। छः तोले मग़ज़ तरबूज़, छः तोले बनफ़शा बराबरकी मिसरीके साथ घोटकर पीनेसे तीन हल्के जुलाब होगये। उसके पीछे आधा घंटा ठहर कर लाल पुड़िया खा ली और घंटे पीछे दूसरी पुड़िया खाते ही बुखार हिरन हो गया। दूसरे दिन सचमुच हकीमजीकी भविष्यद्वाणीके अनुकूल मैं टहलता हुआ उनके पास गया। हकीमजीने प्रातः शाम खानेके लिये सफेद रंगकी दो पुड़ियाँ दीं। तीसरे दिन थोड़ी सी निर्बलता बाकी थी। हकीमजीने निर्बलता दूर करनेके लिये नुसख़ा लिखना शुरू किया और साथ साथ परहेज़की हिदायत करते गये। मैंने बीचमें बात काट कर कहा –

"हकीमजी! एक बात पहिले ही सुन लीजिये। मैं माँस भक्षणको पाप समझता हूँ।" मेरा इतना कहना ही था कि हकीम साहब खिलखिलाकर हँस पड़े। कहने लगे–"जनाब बाबू साहब! अगर आप गोश्त खानेके आदी होते तब भी मैं आपसे कहता कि मेरी दवाके असरपिज़ीर होनेके लिये आप गोश्त खाना छोड़ दें॥ गोश्त तो बड़ी मुज़िर ग़िज़ा है।"

हकीमजीका नुसख़ा भी मुझे मोहित करनेवाला था। मजेदार औषधियोंका पुञ्ज कूट छाँटकर बहुतसे दूधमें काढ़ा किया गया। जब उसका खोया बन गया तो प्रातःसायं चार चार तोला दूधके साथ खानेकी हिदायत हुई। मैंने अभी एक शाम ही औषधिका सेवन किया था कि मेरे साथी मेरी १५ दिनकी औषधिको एक ही दिनमें समाप्त कर गये। मैंने उस औषधिका नाम 'अमृत-बाण' रखा था और हकीम साहबको शाह शुजाकी उपाधि दे रखी थी। वकालतके उम्मीदवार प्रायः ऋतु ज्वर (फसली बुखार) से पीड़ित थे; उनमें 'शाह शुजा' की धूम मच गयी।

संवत् १९४२ (सन् १८८५ ई०) तक वकालतकी परीक्षा मार्गशीर्षके अन्त (दिसम्बरके मध्य) में हुआ करती थी। उसी वर्षके आषाढ़ (जून) मासमें दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज खुल चुका था; श्रीमान् हंसराजजी कालिजकी सेवाके लिये जीवन प्रदान कर चुके थे, और मियानी निवासी श्री लाला ज्वाला सहायजीके ८०००) के दानने कालिजका खुलना सम्भव कर दिया था। इन घटनाओंके पश्चात् मार्गशीर्षके मध्यमें (नवम्बरके अन्तिम) शनिवार तथा आदित्यवारके दिन लाहौर आर्य-समाजका वार्षिकोत्सव हुआ। यद्यपि रोगसे निवृत्त होनेके पश्चात् निर्बलता हो गयी थी तथा परीक्षाकी तय्यारीका बोझ अधिक था, फिर भी अपने धर्म-समाजके लिये हृदयमें प्रेमका ऐसा भाव था

कि वार्षिकोत्सवसे एक पलके लिये भी बिछुड़ना असम्भव प्रतीत होता था। यह पहिला ही अवसर था कि पण्डित गुरुदत्तको मैंने दयानन्द कालिजके लिये लाहौर आर्यसमाजकी वेदी परसे अपील करते सुना। उसी व्याख्यानसे मेरा चित्त पण्डित गुरुदत्तकी ओर आकर्षित हो गया और अधिक मिलनेसे मैंने शनैः शनैः अनुभव किया कि यही एक आत्मा है जिसके साथ मेरे आत्मिक भाव ऐक्यको प्राप्त हो सकते हैं। जब मैं दूसरे दिन विशेष प्रकारसे पण्डित गुरुदत्तसे मिलने गया तो उन्होंने भी अपने भावोंसे यही प्रकट किया कि हम दोनों एक दूसरेको समझते हैं।

परीक्षाका भयानक भूत

अब परीक्षाके दिन समीप आ रहे थे इसलिये मैं उसी कार्यमें लग गया। किन्तु फिर भी मेरे सहपाठी मुख्तार साहबान मुझे एक विचित्र जानवर समझते थे। मैंने परीक्षासे दो दिन पहिले ही पढ़ना छोड़ दिया था। जब मैंने परीक्षा आरम्भ होनेके समयसे एक घण्टा पहिले उन्हें रटन्त लगाते देखा तो मुझे उनपर दया आयी और मैंने कई मित्रोंको तोतेसे फिर मनुष्य बनानेका प्रयत्न किया किन्तु मुझे इस प्रेमका पारितोषिक क्या मिला? केवल गालियाँ और कुछ नहीं।

परीक्षामें एक बात और मेरे सहपाठियोंको चकित करती थी। मैं बराबर तीन घण्टेके पर्चेका उत्तर तथा पुनरालोचन डेढ़ घण्टेमें ही समाप्त करके चल देता था, केवल राजव्यवस्था सम्बन्धी प्रश्नपत्र बड़ा लम्बा था जिसके सब प्रश्नोंके उत्तर मैं ढ़ाई घण्टेमें लिख कर बाहर आया। उस पर्चेके सब प्रश्नोंके उत्तर कोई भी परीक्षार्थी तीन घण्टेमें समाप्त नहीं कर सका था। सब लेखबद्ध परीक्षाओंमें मैं उत्तीर्ण हुआ किन्तु फौजदारी क़ानूनकी मौखिक परीक्षामें मैं दो अंकोंके लिये अनुत्तीर्ण रहा। इसकी भी एक कहानी है, जिसके सुने बिना पाठकोंकी समझमें कुछ और कहानियाँ न आ सकेंगी। मौखिक परीक्षाके समय गवर्नमेण्ट कालिज लाहौरका परीक्षाभवन विद्यार्थियोंसे भरकर उन्हें कच्ची हवालातमें कर दिया जाता था। फिर एक एक विद्यार्थीको परीक्षकके कमरेमें बुलाकर परीक्षा ली जाती थी। वहाँसे निकल कर कालिजकी बड़ी सीढ़ियों-परसे बूट चरचराता हुआ विद्यार्थी बाहर चला आता था। मेरे पहिले कुछ विद्यार्थी फेल होकर बाहर आ चुके थे, और उनके तथा अन्दर वालोंके इष्ट मित्र उनके साथ सहानुभूति प्रकट कर रहे थे। जब मैं परीक्षकके सामने गया (जिनका नाम बाबू योगेन्द्रनाथ बसु था और जो बड़े देशभक्त समझे जाते थे) तो पहले प्रश्नपर ही उनसे कुछ विवाद हो गया। फिर उन्होंने मुझे किसी प्रश्नके लिये भी एक मिनटसे अधिक सोचनेका समय न दिया। एक प्रश्न ऐसा था जो पाठ्य पुस्तकोंसे बाहरका था और जिसपर हाईकोर्टोंकी परस्पर विरुद्ध सम्मतियाँ थीं। उसके उत्तरमें मैंने पञ्जाब चीफ़कोर्ट तथा कलकत्ता

हाइकोर्टकी संम्मतिसे मतभेद प्रकट करके मद्रास हाइकोर्टके साथ सहमति प्रकट की। उस उत्तरके लिये मुझे शून्य मिला और इस प्रकार ५० में २३ पाकर दो अङ्कोंके लिये मैं अनुत्तीर्ण हुआ। इसपर मैंने परीक्षक महाशयसे पूछा—"किस प्रश्नके उत्तरके लिये मुझे शून्य मिला है?" देशभक्त परीक्षक महाशयने उत्तर दिया—"मुझे इस सम्बन्धमें वाद-विवाद करना मंजूर नहीं है।"* फिर तो मोहर लग गयी और मैं प्रसन्नतापूर्वक कमरेसे वाहर हुआ। वड़ी सीढ़ियों परसे प्रसन्नवदन उछलते हुए मुझे आते देख मित्रोंने समझा कि मैं पास होकर आया हूँ। कृतूले-आमकी धूममें मेरे इस प्रकार आनेसे मित्रोंको कुछ ढाढ़स हुआ; किन्तु जब मैंने यह सुनाया कि दो अङ्कोंके लिये मैं अनुत्तीर्ण हुआ हूँ तो मेरे मित्र मुझे बोलनेसे रोकने लगे। उन्होंने ऐसा करनेसे मुझे क्यों रोकना चाहा, इसका रहस्य भी आगे चल कर खुलेगा।

देशभक्तके मुक़ाबलेमें एक विदेशीके वर्तावकी कथा लिख देनी भी उचित ही है। दीवानीकी मौखिक परीक्षा हिगिन्ज साहब बैरिस्टरने† ली थी। पहिले तो मैं एक विषयमें फ़ेल होकर दूसरे विषयकी परीक्षामें शामिल होनेकी आवश्यकता ही नहीं समझता था। फिर जब मित्रोंके आग्रहपर अन्दर गया भी तो बेपरवाहीसे प्रश्नोंको सुनने लगा। किन्तु जब परीक्षकका प्रेमभरा वर्त्ताव देखा तो लज्जित होकर सीधे उत्तर देना आरम्भ किया। चार प्रश्नोंके उत्तरोंके लिये जब ४० अङ्क मिल चुके तो अन्तिम प्रश्नपर मैंने कह दिया कि मैं इसका उत्तर नहीं जानता। मि० हिगिन्जने मुझे पाँच मिनट सोचनेको दिये। मैंने फिर वही उत्तर दिया। तब प्रेमभरे शब्दोंमें उन्होंने कहा—"मैं तुम्हें दो मिनट और देता हूँ, प्रयत्न करके उत्तर दो, आधे अङ्क अवश्य दूँगा। मुझे निराश न करो।" उसी समय उत्तर स्मरण हो आया; पाँच अंक और मिल गये।

परीक्षा देकर मैं वाहर आया। वहुतसे उम्मेदवार घबराये हुए थे। देशभक्त श्री लाला लाजपतरायजी भी उसी वर्ष वकालतकी परीक्षामें बैठे थे। मेरे डेरेपर सब परीक्षाके सताये हुए घायल जमा हुए। हम सब मि० कार स्टीवन साहेबके मकानपर गये और एक प्रार्थनापत्र मेरे द्वारा पेश हुआ। साहब मुझे अलग ले गये और कहा—"मेरे विषय (कानून फौजदारी) में तुमने सबसे अधिक अङ्क पाये हैं। तुम अकेले प्रार्थना करोगे, तो मैं सिफारिश करूंगा, किन्तु सबके साथ कुछ भी सुनाई न होगी"। मैं चुपचाप लौट आया और जुदा प्रार्थनापत्र भेजना जमाअतका अपमान समझ कर चुप हो रहा।

मैं तो अपने हिसाब परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो चुका था और अन्तको परिणाम भी वही निकला, किन्तु मेरे साथियोंमेंसे कइयोंकी आशाएँ पाँच सात दिनोंके पश्चात् ही वँधने लग गयी थीं और उनमेंसे कई उत्तीर्ण होकर पूरे वकील-साहेब बन भी गये। यह कैसे हुआ और उस घटनाका मेरे साथ

* I refuse to argue on this point. † Ma. Higgins

कितना सम्बन्ध रहा, इसकी कहानी ही निराली है जो "लार्पैण्ट" गद्दी की कथाके साथ सम्बद्ध है।

कलियुगी साधु

यहाँपर यदि मैं एक नये मित्रके साथ सम्बन्ध होनेका वृत्तान्त न लिख दूँ तो न समझी जायगी। मेडिकल कालिजके मेरे बङ्गाली लाहौरमें इस वर्षकी कथा पूर्ण विद्यार्थी मित्रका एक युवक सम्बन्धी घरसे निकल गया था। उसके साधु-वेशमें अमृतसरमें व्याख्यान देनेका समाचार लाहौर पहुँचा। मैंने अपने साथ रहने वाले दो तीन व्यक्तियोंको उनके साथ कर दिया। रातके समय सब उस विचित्र साधुको लेकर लौटे। मैं भी नये अतिथिको देखने गया तो एक काषाय वस्त्र-धारीको नरेला पीते तथा हास्य-विनोदमें निमग्न पाया। मुझे सुनाया गया कि साधुजीने पोठोहार और माँझा सारा रगड़ मारा है। रातोंको मशालें जलवाकर खलियानोंमें जाटोंको देशभक्तिमें मस्त कर देते रहे हैं। अमृतसरमें आप "दर्बार साहब" के पास वृक्षपर बैठ कर अपनी व्याख्यान रूपी रामकहानी सुनाया करते थे। अंग्रेजी पढ़े साधु होनेके कारण सरकारी गुप्तचर भी आपके पीछे लगे रहते थे।

इन युवक साधुजीकी उसी समय पुनरावृत्ति करायी गयी। किसीने श्वेत धोती, किसीने कमीज़ और किसीने कोट दिया और यह सब धारण कर, साधुजी, बाबू काली प्रसन्न चैटर्जी का रूप धारण कर, घरको चल दिये। यह वही काली बाबू हैं, जिनके हँसाने वाले व्याख्यान लाहौरके अनारकली आर्यसमाज मन्दिरकी शोभा बढ़ाते रहे हैं। काली बाबू रुला भी सकते हैं और लाहौरसे बाहरके श्रोताओंको उन्होंने समय समयपर आठ आठ आँसू रुलाया भी है। किन्तु लाहौरके श्रोता उनको हास्य रसके अवतारके रूपमें देखनेके ऐसे आदी हो गये हैं कि उनकी बड़ी ही हृदयवेधक अपीलपर भी हँस ही पड़ते हैं।

काली बाबूके साथ मेरे द्वारा जालन्धरियोंका प्रगाढ़ प्रेम हो गया जिसका वर्णन समय समयपर आवेगा। पौष संवत् १९४२ के प्रथम सप्ताहमें मैं जालन्धर पहुँचा। पिताजीने मुझे पहिले ही लिख दिया था कि मेरे जालन्धर लौटने पर वह पेन्शन लेने आयेंगे और मुझे अपने साथ तलवन ले जायेंगे। पिताजीके उतरनेका प्रबन्ध मुंशी कन्हैयालालकी नयी कोठीमें किया गया। जालन्धर पहुँचनेपर ज्ञात हुआ कि स्थानीय आर्यसमाजका साप्ताहिक अधिवेशन रातको हुआ करता है। सायंकाल तक मेरे पिताजी न आये, रास्तेमें उन्हें देखनेके लिये एक आदमी बैठाकर मैं समाजके अधिवेशनमें सम्मिलित हुआ। मैंने ईश्वर-प्रार्थनाके पश्चात् एक उपदेश दिया और वेदीसे उतरकर अभी बैठा ही था कि भृत्यने आकर पिताजीके पहुँचनेकी सूचना दी। मैं उसी समय भागा और पिताजीकी मझोलीको रेलके फाटकके पास जा पकड़ा। नमस्कार करके पाद-स्पर्श किया। पिताजीने पूछा—"क्या! समाजका अधि-

वेशन समाप्त हो गया ?" मैंने कुछ संकोचसे उत्तर दिया—"केवल भजन और आरती रह गयी थी, आपका आगमन सुनकर भाग आया ।" पिताजीने बड़े प्रेमभरे शब्दोंमें कहा—"क्या जल्दी थी, समाजको अधिवेशन समाप्त करके ही आना चाहिए था ।" मुझे इन शब्दोंने कुछ विस्मित सा कर दिया । कहाँ तो पिताजी मेरे तलवनसे चलते समय मूर्तिके आगे चढ़ावा चढ़ानेमें इन्कार करने-पर इतने रुष्ट थे और कहाँ यह कृपा और प्रेम ! कुछ समझमें न आया, किन्तु दूसरे ही दिन सारा भेद खुल गया ।

सत्यका प्रभाव

तलवनमें ६) पानेवाले जो नायब मुदर्रिस थे उनका नाम काशीराम था । वह जन्मके ब्राह्मण और संस्कृत पढ़े हुए थे, किन्तु उन दिनों संस्कृतकी पूछताछ कहाँ थी ? पण्डित काशीरामका परिवार बड़ा था क्योंकि "दशास्यां पुत्रान्" की मर्यादाके उल्लंघनकी सीमापर पण्डित पहुंच चुके थे, और वेतन कुछ भी नहीं बढ़ा । इसलिये इधर उधरके मनुष्योंसे दान लेकर ही उनका यत्किञ्चित् निर्वाह होता था । पिताजीसे उन्हें विशेष सहायता मिलती थी, क्योंकि जबसे पिताजीकी आँखोंपर स्तम्ब रोगका आक्रमण हुआ था तबसे धर्मग्रन्थोंका पाठ उन्हींसे सुना करते थे । लाहौर जाते समय "सत्यार्थ प्रकाश" तथा "पञ्च महायज्ञविधि" मेरी दो पुस्तकें पिताजीकी बैठकके कमरेमें छूट गयी थीं । मैं उन दिनों ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकाका स्वाध्याय कर रहा था इस कारण उन पुस्तकोंके अभावका मैंने अनुभव नहीं किया । पिताजीने मेरी इन पुस्तकोंको देख कर पण्डित काशीरामसे इनका पाठ सुनानेके लिये कहा । जब पण्डितजी सुनानेको उद्यत हुए तो पिताजीने कहा—"पहिले इनकी देखभाल कर लो तब सुनाओ, हम निन्दायुक्त नास्तिकपनके ग्रन्थ सुनना नहीं चाहते ।" पण्डित काशीरामजी थे आदमी चतुर, उन्होंने सबसे पहिले ब्रह्मयज्ञका पाठ अर्थ सहित आरम्भ किया । ज्यों ज्यों पिताजी सुनते उनकी श्रद्धा बढ़ती जाती, तब पण्डित काशीरामने सत्यार्थ प्रकाशका प्रथम समुल्लास सुनाया । तब पिताजीने कहा—"पण्डितजी ! हम तो अविद्यामें ही पड़े रहे । हमारा मोक्ष कैसे होगा ? हमने तो निरर्थक क्रियाएँ ही कीं, अबसे वैदिक संध्या करेंगे ।" बस फिर क्या था, पिताजीने वेदमन्त्र तथा उनके अर्थ कण्ठ करना आरम्भ कर दिया । अब वैदिक संध्या और पञ्चायतन अर्थात् पाँचदेव मूर्तियोंकी पूजा साथ ही साथ होने लगी ।

पिताजीकी यह मानसिक अवस्था थी, जब वह जालन्धरमें मुझे मिले । पिताजी उस समय मुझे फिर बहुत प्यार करने लग गये थे, मानो जो अप्रसन्नता पहिले प्रकट की गयी थी उसका प्रतिकार हो रहा था ।

पिताजीके साथ मैं तलवन चला गया । उनके पास कुछ दिवस शान्ति-से बितानेका विचार था, किन्तु एक सप्ताहके पश्चात् ही जालन्धरसे मेरे एक

माननीय वृद्धका बुलावा गया। मैंने जालन्धर पहुंच कर सुना कि पञ्जाब यूनिवर्सिटीके नये रजिस्ट्रार साहब मिस्टर लार्पैण्ट* ने रिश्वत लेना आरम्भ कर दिया है। मुझे सन्देशा दिया गया कि मुझसे बहुत नीचे नम्बर वाले दो विद्यार्थियोंने पाँच पाँच सौ घूस देकर कृतकार्यताका प्रबन्ध किया है, और लार्पैण्ट साहेब मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं यदि दो अढ़ाई सौ भी दे दूं तो मुझे पास कर देंगे। मैंने ऐसा करनेसे सर्वथा इन्कार कर दिया और साथ ही लार्पैण्ट साहबको पत्र लिख दिया कि यदि वह ऐसे परीक्षार्थियोंको पास करेंगे जो अपना अनुत्तीर्ण होना स्वयं मान चुके हैं तो उनकी पोल समाचारपत्रोंमें खोली जायगी। इसके साथ ही एक बड़ी मूछोंवाले यूरेशियनने (जिनका नाम मि० ब्रैण्डन** था और जो कहीं क्लार्क थे) लाहौर पहुंच कर धमकी दी कि उनको भी घलुएमें पास करा दिया जाय नहीं तो वह आकाश पाताल एक कर देंगे। परिणाम यह हुआ कि मैं भी और न घूस देनेवाले दोनों पास हुए, किन्तु ऐसा नहीं कि घूस देने वाले पास न हुए हों।

जालन्धर आर्यसमाजके उपप्रधान उस समय लाला भक्तराम बी. ए. थे, जो मिशन स्कूल जालन्धरके हेडमास्टर भी थे। इन्होंने मुख्तारीकी परीक्षा दी थी और बसु बाबूके वारसे घायल पड़े थे। इनसे घूस माँगी गयी और इनके एक सम्बन्धीने इन्हें २५०) रुपये घूसके लिये लाकर दिये भी। किन्तु धार्मिक भक्तरामने इस प्रकार पास होनेको पाप समझा। यह तो समझा, किन्तु एक और आर्यसामाजिक भाईको यही २५०) रुपये उधार दे दिये जिसने बहुतसे स्थानोंसे पाँच सौसे कुछ अधिक रुपये उधार लेकर लार्पैण्ट देवके चरणोंमें जा रक्खे और एल० एल० का सर्टिफिकेट लेकर हजारोंके वारे न्यारे शुरू कर दिये।

उन दिनों एल० एल० की भी मिट्टी खूब पलीद हुई। एल० एल० से तात्पर्य तो 'लाइसेन्शीएट इन लॉ'† था किन्तु लोगोंने इसका मतलब गढ़ा 'लार्पैशियन लायर'‡ अर्थात् ऐसा वकील जो लार्पैण्टको घूस देकर कृतकार्य हुआ है, अस्तु। लार्पैण्टकी कहानी यहाँपर ही समाप्त नहीं होती क्योंकि वह पञ्जाबके विद्यार्थियोंके विशेषतः कानूनी, परीक्षाके हताश विद्यार्थियोंके, साथ जोंककी तरह एक वर्ष तक और चिपटा रहा। संवत् १६४२ के पौषकी परीक्षाको अन्तिम आहुति देते हुए केवल इतना लिखना शेष रह गया है कि उस वर्ष जो महाशय वकालतकी परीक्षामें प्रथम थे उनसे मेरे पूर्णाङ्क शायद ५० के लगभग अधिक थे। किन्तु इससे होना क्या था जब कि गृह-देवताको पूजा ही न की गयी।

मुख्तारी और दूकानदारी

संवत् १६४२ के अन्तमें मैंने सूदोंके चौकमें एक दूसरी मंजिलका मकान किराये पर लिया और मुख्तारीका काम जोर शोरसे आरम्भ कर दिया। इसके

---

* Larpent ** M. Bra len. † Licentiate in Law. ‡ Larpentian Lawyer.

बाबू नानकचन्द, शहर कोतवाल, बरेली, संवत् १९३६

मुंशीराम नायब तहसीलदार संवत् १९३६
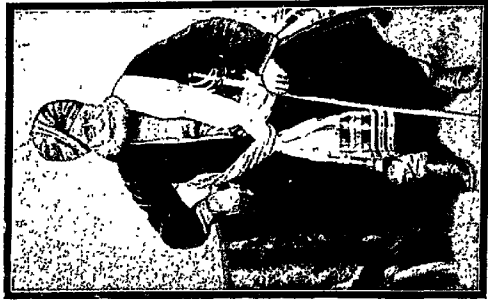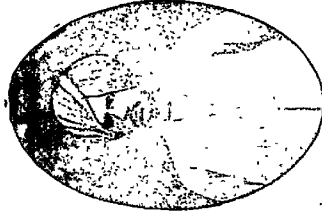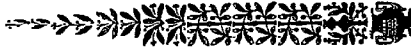
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।

साथ ही आर्यसमाजके काममें भी मैंने बड़ा हिस्सा लेना शुरू किया। किन्तु एक बड़ी मनोरंजक बात थी। मैं था आर्यसमाजका प्रधान और मुझे हिन्दू समाजकी कुरीतियोंके विरुद्ध काम करना पड़ता था, किन्तु मैं रहता था लाला बसन्तराय कोहलीके मकानमें जो उसी वर्ष "पौराणिक (सनातन!) धर्म-सभाके मन्त्री बने थे और जिनकी दुकान मेरे मकानके नीचे ही थी। यह बड़ा ही आनन्ददायक दृश्य था कि जो विज्ञापन नीचे लिखा जा रहा है उसका खण्डन उसीके ऊपर तय्यार हो रहा है।

मेरे क़ानूनी मुन्शी

यह ठीक है कि वकालतकी गाड़ी खींचनेके लिये वकील घोड़ेके समान हैं, किन्तु यदि गाड़ीमें पहिये न लगे हों, तो घोड़े बेचारे भी सटपटा कर ही रह जायंगे। इसी प्रकार वकालतकी गाड़ी भी घिस्सेकी तरह घसिटती फिरे यदि टीप टाप रूपी पहिये उसके नीचे लगकर उसे सुगमतासे चलने फिरनेके योग्य न बनावें। कैसा ही योग्य वकील क्यों न हो, कैसी ही उत्तम वक्तृता क्यों न दे सकता हो, उसकी समझ कैसी ही तीक्ष्ण क्यों न हो, पर यदि उसकी बैठक सजी हुई न हो, यदि उसकी अलमोरियोंमें पुस्तकोंका जमघट पर्याप्त न हो (इससे कोई मतलब नहीं कि वे पुस्तकें कानूनकी हैं वा किस्से कहानियोंकी), यदि वह शानदार बग्घीपर दनदनाता हुआ जानेके बदले जूतियाँ चटखाता हुआ कचहरीमें पहुँचे, यदि उसका सूट और बूट भड़कीला न हो तो कोई भी मुअक्किल (मुकद्दमे वाला) उसके पास न फटकेगा।

मेरे पास उस समय इतना धन न था कि मैं ऐसा सामान इकट्ठा कर सकता किन्तु पिताजी पेन्शन लेकर आते समय अपना सारा सवारीका सामान साथ लाये थे। मुझे बरेली कार्ट और मुश्कन तेज घोड़ी दे देने पर भी उनके पास एक वैगोनट, दो घोड़े और मझोली बैलादि बच रहे थे। संवत् १९४१ की कमाईमेंसे जो कुछ बचतो, पिताजीकी भेंट करता रहा, इसलिये उनकी कृपासे कुर्सी मेज इत्यादि सामान भी मिल गया था। यद्यपि क़ानूनी पुस्तकोंको अभी खरीदना ही शुरू किया था, फिर भी पढ़नेमें अधिक अनुराग होनेसे मेरे पास साहित्य, इतिहास, विज्ञानादिकी पुस्तकें पहिलेसे ही काफी थीं। उनके साथ जब ऋग्वेद और यजुर्वेदके ऋषि दयानन्दकृत भाष्य भी मिल गये तो मानों सोनेपर सुहागा चढ़ गया। मेरे मुन्शीजी बेखटके (मेरी अनुपस्थितिमें) कह सकते थे कि मैं बड़ा वकील हूँ, क्योंकि मेरे पुस्तकालयसे बढ़ कर दो ही तीन वकीलोंका पुस्तकालय था।

मैंने वकालतको गाड़ी बतलाया, टीप टापको पहिये बतलाया, वकीलको घोड़ा कल्पना किया, किन्तु अभीतक अलङ्कार पूरा नहीं हुआ। बिना कोचवानके घोड़े कैसे ठीक चल सकते हैं? इस वकालतरूपी गाड़ीको कोचवान भी चाहिए। वकील कैसा ही योग्य हो, चलतापुर्जा भी हो, किन्तु काम

सरलतासे चलानेके लिये उसे अपने मुंशीसे शिक्षा लेनी ही पड़ती है। इस-लिये वकालत रूपी गाड़ीका कोचवान मुन्शी ही होता है। यदि मेरे इस लेखको कोई नया वकील पढ़ेगा तो मेरा अलंकार तत्काल ही उसकी समझमें आ जायगा। पुराने वकील भी यदि अपनी स्मरणशक्तिको कुछ कष्ट देंगे तो उनके सामने अपनी उम्मीदवारीके समयका चित्र घूम जायगा। वकील जजके सामने खड़ा है, मुन्शीजी कानमें कहीं जिरहके सवाल फूंक रहे हैं, और कहीं कानूनी उज्र उठानेपर जोर दे रहे हैं। यह माना कि कभी कभी मुन्शीजीकी बदौलत बेचारे नये वकीलको अदालतसे झाड़ भी खानी पड़ती है, कभी सामनेके अनु-भवी वकीलसे लज्जित भी होना पड़ता है, किन्तु बहुत बार कसे हुए शिकञ्जोंसे भी तो बस, मुन्शीजीकी हिदायतपर अमल करके निकल जाता है। मुंशीजी वकालतकी जान, उसकी अन्तरात्मा हैं। मुन्शीजीकी महिमाका कहाँतक वर्णन किया जाय। कई अवस्थाओंमें तो मुन्शीजीका ही नाम बिकता है, वकील बिचारेको कोई जानता भी नहीं। जालन्धरमें हमारे स्वर्गवासी भाई तेलूरामजी एक वकीलके मुन्शी थे, वकील साहबके मुअक्किलसे यदि पूछा जाता कि इसने कौन वकील किया है तो उत्तर मिलता 'तेल्लू मुंच्छीदा वकील कित्ता है।" एक दो नहीं, ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलेंगे।

इतनी लम्बी भूमिकाके पश्चात् अब मैं अपने पाठकोंको अपने उस समयके मुन्शी साहबसे भेंट कराता हूँ। मेरे मुन्शी साहबका नाम अमीर खाँ था। वह पठान थे और ख़ानदानी समझे जाते थे। स्वयं मेरी समझमें भी यह कभी नहीं आया कि संसारमें कोई बेख़ानदानी मनुष्य भी होते हैं। अस्तु, अमीर खां साहेब केवल खानदानी ही न थे, वह भलेमानस, शरीफ भी समझे जाते थे। फिर प्रश्न होगा कि उसका मुन्शीगीरीसे क्या सम्बन्ध? किन्तु क्या सब मुंशियोंके लिये एक ही आदर्श हो सकता है? बात ऐसी नहीं है। वकी-लके मुन्शीका उस्ताद होना आवश्यक है चाहे वह किसी फनका उस्ताद हो। मुन्शी अमीर खाँ भी उस्ताद थे। शबेबरातपर जो हमारे मुहम्मदी भाई टोटके चलाते हैं उनके मुन्शी साहेब उस्ताद थे। रातभर टोटके चलवाते और शागि-र्दोंसे वाहवाहा लूटते। इसी टोटकेबाजीमें आपके चेहरेपर दो बार घाव लगे, जिनके चिन्ह उनकी उस्तादीके प्रत्यक्ष प्रमाण थे।

मुन्शी अमीर खाँकी योग्यताका एक और प्रमाण लीजिये। जब मैं संवत् १९४१ के अन्त (सन् १८८५ के आरम्भ) में वकालत पढ़ने लाहौर गया तो मेरे कुछ मुकद्दमे बचे हुए थे। मेरे वकील मुख्तार मित्रोंने कृपापूर्वक उनकी पैरवी कर दी। मुन्शी साहेब केवल उन मुकद्दमोंकी ही फीस वसूल न करते रहे प्रत्युत और मुकद्दमे भी लेते और मेरे वकील भाइयोंको यह चकमा देकर उनसे पैरवी कराते कि वे पुराने मुकद्दमे हैं। मेरे पाठकोंकी समझमें नहीं आयेगा कि मेरी अनुपस्थितिमें कैसे नये मुकद्दमे मिल सकते होंगे, पर जब वे मुन्शीजीको अपूर्व बुद्धिकी व्याख्या सुनेंगे तो उनका भ्रम दूर हो जायगा। जब कभी कोई पुराना

मुवक्किल आता तो मुन्शी जी कहते, "यदि तुम और कोई वकील करना चाहो तो कर लो किन्तु तुम्हारा भला इन्हींको (मुझे) वकील करनेमें है।" तब मुवक्किल पूछता कि "जब बाबूजी यहां नहीं हैं तो मेरे मुकद्दमेकी पैरवी कौन करेगा ?" इसपर मुन्शी अमीर खाँ साहब कहते "अरे भोले! यह सब वकील जहांसे पढ़के आये हैं वह बड़ा भारी मदर्सा है। वहाँ वही पढ़ाते हैं जो सारे पञ्जाबके वकीलोंका शिरोमणि हो। इस समय वह एक वर्षकी छुट्टीपर गया है, सरकारको सिवाय हमारे बाबूजीके उसकी जगहके लिए कोई योग्य वकील न मिला। वह वकीलोंको पढ़ाने गये हैं। यदि उनके पीछे दूसरे वकील-ने मुकद्दमा हरवा दिया तो भी लौटकर वह अपील तो कर लेंगे।" बहुत मुव-क्किल तो इस प्रकार काबूमें नहीं आये किन्तु कुछ तो चङ्गपर चढ़ ही गये।

मेरे मुन्शी साहेब तो मेरे लौटनेपर इस कहानीसे इनकार ही करते रहे किन्तु मेरे एक दो वकील मित्रोंने इसका समर्थन किया था।

अमीर खाँ बेचारे मर चुके हैं। उनकी प्रशंसामें एक बात अवश्य कहना चाहता हूँ। उन्होंने मेरे साथ कभी भी असत्यव्यवहार नहीं किया। यदि कुछ झूठ बोले वा मेरी दृष्टि में अनुचित काम किया तो अपनी समझके अनुसार मेरे भलेके लिये ही। शराबसे उनको कुछ वास्ता न था, व्यभिचारके वह समीप नहीं फटकते थे, और अन्य सब बातोंमें वह सदाचारी थे। एक मुन्शीगीरीके रोगमें फँसकर उनसे झूठा व्यवहार कभी कभी हो जाता था।

अन्य वकीलोंकी तरह मेरे पास भी दो मुन्शी रहा करते थे। जिस प्रकार गाड़ीके लिये कोचवानके साथ सईस या नायब कोचवानकी आव-श्यकता रहती है, उसी प्रकार हेड मुन्शीसाहेबके साथ वकीलको नायब मुन्शीकी आवश्यकता रहती है। जोड़ तोड़ मिलाने, गवाहोंको सिखाने पढ़ाने, और अर्जी, जवाबदावे, मुजिवातें, अपील आदि लिखनेके लिये तो हेड मुन्शी, और लिफाफे संभाल कर ले जाने, मुकद्दमोंकी तारीखें लाने, मुवक्किलोंको दिलासे-से संभाल कर रखनेके लिये नायब मुन्शी थे।

मुन्शी अमीर खाँके समय और उसके पश्चात् भी मेरे पास कई नायब मुन्शी आये और कई गये, मुझे उन सबके नाम याद नहीं।

अब मेरे विषयमें कल्पना कर लीजिये कि मैं सूदोंके चौकवाले दो मन्ज़िले, सेह मन्ज़िले मकानमें स्थित, सूट, बूट और बग्धीका स्वामी हूँ, हैड तथा नायब मुन्शी बराबर हाजिरीमें रहते हैं, और मुख्तारीका काम शुरू हो गया है। दूसरी अर आर्यसमाजके काममें भी पूरा भाग लेने लग गया हूँ। मेरे नीचे एक ओर सनातन धर्मसभाके मन्त्री लाला बसन्तरामजी रहते हैं और दूसरी ओर उन्हीं मन्त्रीजीसे दुकान किरायेपर लेकर कुछ बनिये रहते हैं, जिनके एक छोटे भाईका नाम शालिग्राम है, जो इस समय तक "गुरुकुलके भण्डारी" नामसे प्रसिद्ध हैं। इतनी अनुभूमिकाके पश्चात् आगेकी घटनाओंको समझना आसान हो जायगा।

जिसकी पहल उसी की जय

एक पुरानी कहानी है कि दो राजकुमार युवक किसी राजसेनाके घुड़सवारोंमें नौकर थे। दोनों युद्धकी लूटमार समेट घरको लौट रहे थे। रास्तेमें दो सुन्दरी स्त्रियाँ मिलीं, उन्होंने इनसे विवाहकी याचना की। वे सुन्दरी रमणियाँ दोनों जङ्गी सवारोंके साथ विवाहके लिये, यह प्रतिज्ञा लेकर उद्यत हुईं कि विवाहके पश्चात् उनके पति नित्य प्रातः स्त्रियोंसे सात जूते खाया करेंगे। दोनोंका विवाह होनेपर जब पहिला ही सवेरा हुआ तो उनमेंसे एकने उठते ही बिल्लीको अपना रास्ता काटते देखा। तलवार म्यानसे झट बाहर हुई और बिल्लीका सिर धड़से अलग हो गया। यह चमत्कार जब सवारकी धर्मपत्नीने देखा तो सहम कर रह गयी, और दोनों-का जीवन धर्मानुसार व्यतीत होने लगा। पन्द्रह दिनों तक दोनों मित्र न मिल सके। जब मिले तो एक दूसरेका हाल पूछा। बिल्लीका सिर काटने वालेने जब मित्रसे सुना कि वह नित्य जूतियाँ खाता है तो अपनी कथा सुनायी। दूसरे मित्रने अपनी निर्बुद्धितापर शोक करके प्रतिज्ञा की कि वह भी अपनी पत्नीको धर्मपत्नी बना लेगा। दूसरे ही दिन सवार महाशय तलवार बाँध कर तय्यार हो गये। इस विचित्र घटनाको उनकी जोरूने आश्चर्यसे देखा किन्तु जब मियाँ तलवार खाँने तलवारका वार करके बिल्लीको घायल कर दिया तो 'बीवी' ने मुस्कराकर कहाः—

"गुर्बा कुश्तन् रा रोज़ अव्वल बायद।"

अर्थात् बिल्ली मारनेका पहिला ही दिन था। पछताए क्या होत जब चिड़िया चुँग गई खेत।

उपर्युक्त जनश्रुतिके चरितार्थ करनेका समय मेरे लिये मुख्तारी का काम दूसरी बार प्रारम्भ करते ही आ पहुँचा था। एक ओर तो मुन्शी अमीर खाँ थे, और दूसरी ओर मेरे बड़े बड़े पदाधिकारी मद्यप मित्र। दोनोंके साथ "गुर्बा कुश्तन्" वाला समय समीप आया। मकान अथवा यों कहिये कि कानूनी दुकान-का फटरा (साइनबोर्ड) तय्यार करानेकी आज्ञा मैं मुन्शीजीको लाहौरसे ही भेज चुका था। आप फटरा तय्यार कराकर लाये, जिसपर मेरे नामके साथ मुख्तारके स्थानमें लीगल प्रैक्टिशनर* (कानूनी व्यवसायी) लिखा हुआ था। ऐसा करनेपर मैं पहिले स्वयं दो तीन मुख्तारोंको शरमिन्दा कर चुका था। मैंने मुन्शीजी पर अप्रसन्नता प्रकट की तो उत्तर मिला कि उन्होंने मेरे भलेके लिये ही ऐसा किया था। मैंने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि यदि इस प्रकारकी कार्यवाही होगी तो उनका रास्ता दूसरी ओर होगा। मुख्तार शब्द लिखे जानेके लिये मैंने फटरेको लौटा दिया। मुन्शीजीने एक बार चालाक कोच-वानकी तरह मुझे फिर काबू करना चाहा और एक प्रस्ताव पेश किया जो

---

* Legal Practitioner

मुझे अनुचित प्रतीत हुआ, किन्तु जब देखा कि घोड़ा अड़ियल है और शायद कोचवानको उल्टे मुँह गिरादे तो मुन्शी अमीरखाँ जी ने लगामको घोड़ेकी ही गर्दनपर डाल दिया।

इस प्रकार एक विरोधी शक्तिसे तो छुटकारा हुआ, किन्तु दूसरी ओर मामला बड़ा बेढब था। ११ माघ संवत् १९४१ (२४ जनवरी सन् १८८५) की रातको मैंने, मद्यका बची हुई बोतल तोड़कर, सदाके लिये मद्य को तिलाञ्जलि दे दी थी। लाहौरमें विद्यार्थी-अवस्थाने मेरी सहायता की। जब कुछ दिन जालन्धर ठहरा तो आर्यसमाजके कामोंकी फंसावटने रक्षा की। किन्तु जब मैं फिरसे सभ्य समाज में मिला तब परमेश्वरके विना मेरा और कोई रक्षक न था।

एक दिन प्रातःकाल मेरे एक पुराने मद्यप मित्रके यहाँ दावत थी। मेरे यजमान एक्जिक्युटिव इञ्जिनियर थे। जब मैं उनके शानदार मकानकी सजी हुई बैठकमें पहुँचा तो दो डिप्टी कलक्टर, एक मुन्सिफ, दो तीन बड़े वकील और एक उनके हमपेशा एक्जिक्युटिव इञ्जिनियर बैठे गप्पें हाँक रहे थे। मुझे स्वप्नमें भी यह नहीं सूझ सकता था कि ऐसे सभ्य पुरुष दिन दहाड़े शराब ढालने का हौसला करेंगे। किन्तु मेरा पहुँचना ही था कि शोर मच गया और चारों ओरसे आवाजें आने लगीं—"देखो! खूब काबू आया है, अब इसके धर्म वर्म की खबर ले डालो। देखें, कैसे छूटता है? इत्यादि—" मेरे हाथ पाँव पकड़ लिये गये और एक महाशय प्यालेमें शराब भरने लगे। मैंने कहा कि मेरे अन्दर अब शराब डालना असम्भव है। भला शराबी किसीकी काहेको सुनने लगे, कइयोंने हाथ पैर थामे और दो ने मुँह खोल दिया। तीसरेने प्याला उड़ेलनेको आगे किया ही था कि मद्यकी दुर्गंधने अन्दर घृणा उत्पन्न की। एकदम उल्टी (कै) हो गयी और मेरे पकड़नेवालोंके कपड़े खराब हो गये। वे जरा हिले कि मैं छलाँग मारकर बाहर वाटिकामें आया। कूपपर जलसे भरा डोल पड़ा था; कुल्ली करके सीधा घरका रास्ता लिया। उस दिनसे किसी शराबीका हौसला न पड़ा कि मुझे अपने मतमें लानेका प्रयत्न करे।

इन दो घटनाओंने मुझे बहुतसी कठिनाइयोंसे बचा लिया और मैं निर्विघ्नतासे अपने ध -सेवाके काममें लग गया।

एक रँगे सियार से भेंट

आर्य समाजके साप्ताहिक अधिवेशन अभीतक मुरलीमल की धर्मशालामें ही होते थे। यह स्थान कैसे हमें मिला और कैसे हमारे हाथोंसे निकल गया इसका वृत्तान्त बड़ा ही मनोरञ्जक है। इस स्थानपर आर्यसमाजकी उन्नतिके सम्बन्धमें दो घटनाओंका कथन पर्याप्त है। परन्तु उन दोनों घटनाओंके वर्णनसे पहिले अपने पिताजीकी बीमारीके सम्बन्धमें कुछ लिख देना, कथाकी शृंखलाको टूटने न देगा।

फाल्गुन संवत् १९४२ (फरवरी १८८६ ई०) में पिताजीके पुनः अर्धांग रोगसे पीड़ित होनेके कारण मैं अपनी जन्मभूमि तलवन को गया। उस समय पिताजीकी चिकित्सा एक निरञ्जनी साधु कर रहा था, जो मुझे हरद्वारकी अर्धकुम्भीपर संवत् १९९६ के वैशाख मासमें मिला था। यह साधु पिताजीको स्वर्णभस्म तथा कुछ अन्य वस्तुएँ खिलाकर इलाज कर रहा था। यह बड़ेसे बड़ों-को "लण्डी का" इत्यादि अपशब्दोंसे याद करता था और प्रसिद्ध कर रखा था कि मेरे पिताका इलाज मन्त्रद्वारा करता है। इसने यह भी चमत्कार दिखलाया था कि उसके पैरको किसी आगकी भी आँच नहीं जला सकती। मैं तलवन पहुँचते ही उसके पास गया और जलते कोयलोंकी अंगीठी मंगाकर उसे पाँव रखनेको कहा। साधुजी सब कुछ ताड़ गये और कड़ककर बोले—"हम अपने ढंगपर चमत्कार दिखाते हैं।" मैंने कहा—'वैसे ही दिखाओ'। साधुजीने कुछ मोटे ओपले मँगवाये, उन्हें जलाकर जब धुएँका नाम न रहा और उनपर थोड़ी राख जमा हो गयी तो एक ओपलेकी राखमें ठोंककर अपने पैरकी एड़ी टिका दी। उनका ऐसा करना ही था कि मैंने अपनी एड़ी दूसरे ओपलेपर उसी बेपरवाहीसे टिका दी। मैं जानता था कि यदि बीचमें वायुके संसर्गका स्थान न रहे तो आँच न सतायगी। साधुजीका चेहरा उतर गया और उनके भक्तोंमें मेरी धूम मच गयी। तब मैंने साधुजी से कहा कि अब उनका इलाज न होगा। मैं चला आया किन्तु साधुजाने अब उपजकी लेना छोड़ दिया। फिर भी इस घटनासे अपना ही उल्लू सीधा करना चाहा। सब उपस्थित सज्जनोंसे कहा कि मैं उनसे भी बढ़कर सिद्धिको प्राप्त हूँ। फिर मेरे पास आये और सोनेकी भस्मादि दिखाकर कहा कि मन्त्र बोलना तो एक ढोंग मात्र था, मैं तो मक्खनमें औषधियाँ देता हूँ। यह ठीक था कि साधुजी मारा हुआ स्वर्ण ही मक्खनमें खिलाते थे, किन्तु पिताजीकी श्रद्धा उनपरसे दूर हो गयी। कुछ धन साधुजीको भेंटकर उन्हें छुट्टी दी गयी और मैंने एक असिस्टैण्ट सर्जनको बुलवाकर पिताजीका इलाज शुरू करा दिया।

पिताजीका असीम प्रेम

साधुजीको विदा करके पिताजीने मुझे एकान्तमें बुलाया। बरेलीसे जब पिताजी संवत् १९३६ के अन्त (सन् १८८० के आरम्भ) में खुर्जे बदलकर आये तब बरेलीके भीमा नामक युवकको अपना निजी सेवक बनाकर साथ लाये थे। वही इस समय उनकी सेवामें था। भीमाने आज्ञा पाते ही एक कागज़का लपेटा हुआ पुलिन्दा पिताजीके आगे रख दिया और चला गया। पिताजीकी आज्ञासे जब मैंने उस पुलि-न्देको खोला तो उसके अन्दरसे एक पार्चमेंटका पत्रा और एक साधारण पत्रपर लिखा हुआ वसीयतनामा निकला। वसीयतनामेमें मेरे तीनों बड़े भाइयोंको केवल मकान और जमीनका कुछ भाग देकर शेष सब धन [रोकड़ आभूषणादि] मुझे दिया गया था और कुछ धर्मार्थ-कार्य मेरे सुपुर्द किये गये थे। मैं वसीयत-

नामा पढ़कर इस प्रकार उदासीन बैठ गया जैसे कोई आपत्तिका पहाड़ मुझपर टूट पड़ा हो। पिताजीको आश्चर्य हुआ। मैंने नम्रतासे निवेदन किया कि मैं अपने अधिकारसे बढ़कर कुछ भी लेनेको तय्यार नहीं। पिताजीने बड़े प्रेमसे मुझे समझाया, उन्होंने कहा कि जितना मैं पहिले तुम्हारे आर्य समाजमें प्रवेशसे असन्तुष्ट हुआ था उससे बढ़कर अब मुझे सन्तोष है और मुझको निश्चय हुआ है कि तुम्हीं मेरी धार्मिक आशाओंको पूरा करोगे। बहुत विवादके पश्चात् पिताजीसे मैंने मनमानी भिक्षाकी याचना की, पिताजीके वचन देनेपर मैंने निवेदन किया—"यदि वसीयत कर देंगे तो मैं अपना भाग लेनेसे भी इन्कार कर दूंगा, किन्तु यदि आप मेरी प्रार्थनानुसार मुझे इस वसीयतनामेको फाड़ देनेकी आज्ञा दें, तो मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि जिन धर्म-कार्योंके मुझसे पूर्ण करानेका आपका शुभ संकल्प है, उनकी पूर्तिमें ही यथाशक्ति अपने जीवनको लगाऊंगा। पिताजीने कहा—"यह पार्चमेंट पत्र तथा लिखा हुआ वसीयतनामा तुम्हारा माल है; इनके साथ जैसा बर्ताव चाहो करो।" पिताजीकी आज्ञा पाते ही मैंने वसीयतनामा फाड़ दिया और पिताजीके चरणोंमें सिर रखकर उनसे आशीर्वाद ले जालन्धर लौट आया।

इस बार मैंने अपने ग्राममें धार्मिक संशोधन विषयपर एक व्याख्यान भी दिया था। इसमें तलवनके प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुरुष उपस्थित थे। इस व्याख्यानका वृत्तान्त सुनकर पिताजी बड़े प्रसन्न हुए। पिताजीका सेवामें उस समय मैंने जो मानसिक भेंट रखी थी, मेरे शेष जीवनमें यदि कोई अच्छा काम मुझसे हुआ है तो वह उसी गम्भीर घटनाके प्रभावका परिणाम है। उस घटनाके स्मरणमात्रने मुझे बहुत बार गहरे गड्ढोंमें गिरनेसे बचाया है। काम, क्रोधादिके आक्रमणोंसे कई बार मुझे पिताजीकी उस समयकी करुणा तथा प्रेमसे पूर्ण दृष्टिके स्मरण ने ही सुरक्षित किया है। माताजीके देहान्तके पश्चात् पिताजीने मुझे मातृप्रेमसे अपनाया था। माताके प्रेमका अभाव उन्होंने मुझे अनुभव नहीं होने दिया था, और मुझे आज इस बातके अङ्गीकार करनेमें जरा भी संकोच नहीं कि यदि मेरे अन्दरसे कभी मातृप्रेमका प्रकाश पुत्रों तथा पुत्रियोंके लिये होता था, तो उस कीर्तिके भागी माताजीसे भी अधिक मेरे पिताजी हैं।

शास्त्रार्थका पहिला अनुभव

आर्यसमाजसे सम्बन्ध रखनेवाले पुराने अनुभवी पुरुष भूले न होंगे कि संवत् १९४३ के प्रथम तीन मास (सन् १८८६ के मध्यभाग) तक यदि पौराणिक पण्डितों तथा आर्यजातिके संस्कृतज्ञोंके साथ किसी प्रकारका धार्मिक विचार होता था, तो उसमें आर्यसमाजके प्रतिनिधि ब्राह्मणकुलोत्पन्न महाशय ही हुआ करते थे। आर्यसन्मार्ग दर्शिनी सभा कलकत्ता,के आक्षेपोंका उत्तर अवश्य खत्रीकुलोत्पन्न लाला साईंदास जीने उर्दूमें दिया था, किन्तु संस्कृतज्ञोंके सामने आर्यसमाजकी ओरसे एकाक्षी पण्डित मूलराज वा ऐसे ही अन्य विद्वान् पेश किये जाते

थे। इसके अतिरिक्त लाहौरके सिवाय और किसी आर्यसमाजको अधिकार न था कि शास्त्रार्थ आदिके लिये उद्यत हो सके। न केवल यही प्रत्युत कोई भी गृहस्थ साधु पुरुष लाहौरसे बाहर धर्मप्रचारका साहस नहीं कर सकता था। जब ऐसी दशा थी तो ग्रामोंमें प्रचारकी तो कथा ही क्या कहनी है। जालन्धर शहर आर्यसमाजने इस सारी प्रथाको ही बदल दिया। किस प्रकार यह प्रथा बदली गयी, और किस प्रकार सोई हुई आर्यसन्तानको बड़ेसे बड़े अन्धकारमय कोनोंमें जगाया गया, इसका वृत्तान्त बड़ा मनोरञ्जक है और उस शृंखलामें वह शास्त्रार्थ पहिली कड़ी है जिसका यत्किंचित् स्मरण रहा हुआ वृत्तान्त मैं यहां दूंगा। पिताजीके रुग्ण होनेके कारण मैं प्रत्येक आदित्यवारके साथ एकदिन और मिलाकर उनके दर्शनोंके लिये तलवन जाया करता था। एकबार, शायद चैत्र (अप्रल) में, तीनचार दिनोंकी छुट्टी थी। मैं तलवन गया था, जब लौटा तो मेरे बैठकपर पहुंचते ही आर्यसमाजके कुछ सभासद मिले। उन्होंने यह बतलाया कि अमृतसरके एक श्यामदास नामी ने डितने आफ़त मचा रखी है। उन सभासदोंने शिकायत की कि आर्यसमाजके धनाढ्य पदाधिकारी कानोंमें रूई डाले बैठे हैं और श्यामदासने उन्हें कहीं खड़ा होनेके योग्य नहीं रख छोड़ा है। वह बारम्बार शास्त्रार्थके लिये ललकारता है और नियोगादिके विषयमें अश्लील शब्दोंका प्रयोग कर सर्वसाधारणको भड़काता है। आर्यभाइयोंको मैंने बैठाया और शास्त्रार्थकी स्वीकृतिका पत्र उसी समय लिखकर उनके हवाले किया। सब सभासद प्रसन्न होकर चले गये। कुछ लिखा-पढ़ीके पश्चात् पंडित श्यामदासको शास्त्रार्थका विषय "मूर्तिपूजा तथा अवतारवादका मण्डन" मानना पड़ा और अन्तिम पत्रसे तीसरे दिनकी तिथि नियत की गयी। आर्य-समाजके सभासदोंमेंसे एक काशीराम थे, जो मेरे यहाँ मुंशीगीरीके भी उम्मेद-वार थे। मैंने अपने पत्रके साथ उन्हें श्रीमान् लाला साईंदासजी प्रधान, आर्य-समाज लाहौरके पास भेजा और प्रार्थना की कि शास्त्रार्थके लिये कोई पंडित हमें दिया जाय।

अभीतक पञ्जाबमें प्रान्तिक आर्यप्रतिनिधि सभा स्थापित नहीं हुई थी। पञ्जाबके आर्यसमाजोंमें यद्यपि राय मूलराज, लाला जीवनदास, लाला लालचन्द आदि अनेक मुखिया समझे जाते थे, किन्तु अन्दर वाले सब जानते थे कि समा-जरूपी गृहके कर्त्ता हर्त्ता उस समयके प्राण—लाला साईंदास ही हैं। काशीराम लाला साईंदासजीके पास पहुँचे। वहाँसे न केवल यही कि कृतकार्यता न हुई प्रत्युत उत्साहको गिराने वाले शब्दोंकी बौछाड़ भी पड़ी। कई लाहौरी भाइयोंने कहा 'छोटे छोटे आर्य समाजोंको विना हमारी आज्ञाके शास्त्रार्थ नहीं रच लेना चाहिये'। एक युवकने जोशमें आकर कहा—"यदि साहस नहीं था, तो शास्त्रार्थकी डींग क्यों मारा?" काशीराम फिर क्या ठहरते; वहाँसे लौटते अमृतसर ठहरे। उस समय पण्डित धर्मचन्द्रजी काश्मीरी उक्त आर्य समाजके प्रधान थे। उन्होंने लाजपत नामी एक ब्राह्मण-पुत्रको छात्रवृत्ति देकर पढ़ाया

था। उन्होंने उस विद्यार्थीको काशीरामजीके साथ कर दिया। रातको शास्त्रार्थ था और लाजपत जी मेरे पास दो पहरको पहुंचे। बातचीत करने पर पता लगा कि उनमें भाषण शक्ति अच्छी नहीं है। मैंने उनको ऋषि दयानन्द कृत भाष्यमेंसे नियत विषयोंपर मन्त्रार्थ सरल करनेमें लगा दिया। रातको जैसे तैसे शास्त्रार्थ हुआ। लाजपतजी संस्कृतमें बोलते थे। पण्डित श्यामदासने उपस्थित जनता-पर प्रभाव डालनेके लिये आर्यभाषा में भाषण आरम्भ किया। फिर क्या था। जब उधरसे प्रतिज्ञा भङ्ग हुई तो मैंने स्वयं आर्यभाषा में उत्तर देना आरम्भ किया। तब तो पण्डितजीने इसपर बल दिया कि विद्यार्थी लाजपत ही शास्त्रार्थ करे, किन्तु मेरा उत्तर यह था कि जब दूसरी ओरसे संस्कृतमें भाषण करनेकी प्रतिज्ञा एकबार तोड़ी जा चुकी है तो शास्त्रार्थ मैं ही करूंगा। परिणाम क्या हुआ यह मैं नहीं कह सकता, किन्तु इतना अवश्य कह सकता हूँ कि आर्य-समाजका गौरव सर्वसाधारणकी दृष्टिमें घटा नहीं।

इस शास्त्रार्थके दो परिणाम हुए। प्रथम यह कि जब दूसरे दिन काशी-रामजीने लाहौरकी सारी कथा सुनायी तो मैंने दृढ़ मानसिक प्रतिज्ञा कर ली कि आगे कभी अपनी सहायताके लिये दूसरोंपर निर्भर नहीं करूंगा। इस मानसिक संकल्पने मुझे आर्ष ग्रन्थोंके स्वाध्यायकी ओर अधिक रुचि दिलायी। इसके पश्चात्‌के दिनोंकी 'दिन पत्रिका' देखनेसे विदित होता है कि ज्येष्ठ संवत् १९४३ (सन् १८८६ ईसवी) के आरम्भसे ही मैंने मूल वेदों की पुनरा-वृत्ति आरम्भ कर दी थी। दिनमें कई बार जहाँ कुछ न कुछ धर्म सम्बन्धी अध्ययन करता, वहाँ प्रातःकाल सन्ध्या—अग्निहोत्रके पश्चात् कमसे कम २० वेद मन्त्रोंका पाठ शनैः शनैः अवश्य होता। वेद भाष्यका देखना भी पीछे आरम्भ किया, तो उसके लिये और ही समय निकाला। प्रातः अन्य नित्य कर्मोंकी समाप्ति पर मूल वेदके पाठका अभ्यास बहुत देरतक चला। उन दिनों बिना व्याकरणादि जाने भी वेद मन्त्रोंमें जो उच्च गम्भीर और आश्वासक भाव कभी कभी अनुभवमें आते थे, एक आश्चर्यजनक घटना थी। कई बार मैंने उस समयके प्रसिद्ध पण्डितोंके सामने कुछ भाव लेकर जो मूल मन्त्र पेश किये तो उन्हें आश्चर्य होता था और उनमेंसे कई यह मान लेते थे कि वेदार्थ तक पहुँचनेके लिये वेदाङ्गोंकी सहायताकी अपेक्षा मानसिक शुद्धि की अधिक आवश्यकता है। यह अवस्था केवल संवत् १९४८ के फाल्गुन मास (१८९१ ईसवी) तक रही। उसके पश्चात् आर्यसमाजके घरू युद्धमें अन्य हानियोंके साथ सर्वोत्तम स्वाध्यायका भी लोप सा होता गया, और उस स्वाध्यायकी भूख बारम्बार चमकनेपर भी, उसमें विघ्न पड़ते ही रहे।

इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि जालन्धर नगर-निवासियोंका ध्यान आर्यसमाजके कामकी ओर बड़े ज़ोरसे खिंचा; इसके सभासदोंपर मतवादियोंकी ओरसे आक्रमण आरम्भ हुए। तपाया हुआ लोहा चोटोंसे अधिक बढ़ता है, इसी प्रकार आर्यपुरुषोंपर जितने आक्रमण हुए उतनेही

उनके हृदय विशाल होते गये। पंडित श्यामलालके व्याख्यानोंका खण्डन दूसरे दिनसे ही आर्यमन्दिरमें आरम्भ हो गया। इतनी भीड़ आर्यमन्दिरमें पहिले कभी नहीं हुई थी। तीस पैंतीस सभासद भी चढ़े और उत्साहसे काम होने लगा।

बिरादरी से खारिज की धमकी

इस उन्नतिको देखकर कुछ पौराणिक ब्राह्मणोंका हृदय सन्तप्त हुआ और उन्होंने थापर खत्रियोंके प्रसिद्ध दीवानखानेमें आर्य समाजियोंको जाति-च्युत करनेके लिये एक पञ्चायत बुलायी। पञ्चायतकी धूम मच गयी और जालन्धरके बड़े बड़े पंडित व्यवस्था देनेको तय्यार हुए। नगरकी बिरादरियोंके सभासद बड़े भयभीत थे कि अब कैसे छुटकारा हो। उस समय श्रीलाला-देवराजजीकी धार्मिक श्रद्धा बहुत बढ़ी हुई थी। मुझे साथ लेकर वह एक प्रसिद्ध नैयायिक पंडितके यहाँ पहुँचे जिनसे उन्होंने यज्ञोपवीत भी धारण किया था। पंडितजीके विषयमें यह प्रसिद्ध था कि अपनी एक सम्बन्धिनी स्त्रीसे उनका धर्म-विरुद्ध सम्बन्ध है। दूसरे पंडित, जो नगरकी ब्राह्मण मण्ड-लीके शिरोमणि तथा लोकमान्य समझे जाते थे, किसी अन्य व्यभिचारके दोषी प्रसिद्ध थे। तीसरे जुएबाज़ थे, इत्यादि। भाई देवराजजीने मेरे कुछ न्याय विषयपर बात कर चुकने पर कहना आरम्भ किया—"पंडितजी! आप मेरे गुरु हैं। आप पञ्चायत कीजिये। किन्तु हमारा प्रश्न होगा कि जो पंडित होकर इस प्रकारके व्यभिचार दोषोंसे दूषित हों पहिले उनको गधेपर सवार कराके देशनिकाला दिया जावे, तब हम अपने विषयमें किये गये प्रश्नोंके उत्तर देंगे।"

इधर तो लाला देवराजजीने सीधियोंवाली धमकी दी थी, उधर बहुत से खत्री चौधरी जिनके पोते, दौहित्र, भतीजे पुत्रादि आर्य सामाजिक थे, उन ब्राह्मण कुलोत्पन्न पुरुषोंकी सूची बताने लगे, जो निरक्षर भट्टाचार्य एवं गायत्री मन्त्रसे भी अनभिज्ञ थे। परिणाम क्या हुआ? जब पञ्चायतका समय आया तो पता लगा कि शिरोमणि, ब्राह्मण कुलभूषण जी प्रातःकालकी ट्रेनसे ही किसी कामके बहाने अमृतसर चले गये और नैयायिकजी जनेऊ कानपर चढ़ा लोटा हाथमें ले जो दस बजे दिशाजंगलको निकले तो शामतक घरकी सुधि ही न ली। पञ्चायतका समय ३ बजे था। ४ बजे तक टक्करें मारनेपर जब कोई पण्डित न मिला तो पञ्चायत बुलानेवाले अपना सा मुँह लेकर घर लौट गये। ऐसी अवस्था होनेपर पण्डित श्यामलालको जो भेंट पूजा ले कर चल दिये थे, एकबार लानेके लिये फिरसे देवी दुर्गाके भक्त अमृतसर गये। वहाँ क्या था, नयी भेंट की आशा पण्डितजीको फिर जालन्धर घसीट लायी। इस बार पण्डित श्याम-लालने सत्यार्थप्रकाशको पढ़कर लोगोंको भरमाना आरम्भ किया। दैवयोगसे उस बार भी मैं पिताजीको देखने तलवन गया हुआ था। दो दिन तो पण्डित

जीकी धूम रही किन्तु तीसरे दिन जालन्धर पहुँचते ही मैं पण्डितजीके व्याख्यान-में गया। उन्होंने उस समय पाराशरके उस श्लोकको पढ़कर, जिसका ऋषि दयानन्दने सत्यार्थप्रकाशमें खण्डन किया है; सर्वसाधारणको बतलाया कि दयानन्द गायसे गधीको अच्छी बतलाता है। मैंने बीचमें ही टोककर सारी इबारत पढ़नेके लिए कहा। मुझे बन्द कराना पंडित श्यामदासकी शक्तिसे बाहर था। पंडितजीकी दूसरी डाँटपर मैं प्लैटफार्मपर उनके पास आ खड़ा हुआ और उनके हाथसे पुस्तक लेकर असल इबारत पढ़ दी। मेरे कथनमें सभ्यताका वर्ताव था, इसलिए पंडितजीको भी वैसा ही वर्ताव करना पड़ा। तब मैंने उच्चस्वरसे कहा कि यह सत्यासत्यके निर्णयके कार्य हैं, हारजीतसे विद्वानोंका तात्पर्य नहीं होना चाहिये। जैसे आर्यसमाजके सभ्य शान्ति-पूर्वक पंडितजीका कथन सुनते रहे हैं, आशा है, पंडितजी भी कलसे हमारे आर्यमन्दिरमें हमारे उत्तर सुनने आवेंगे। पंडितजी उस समय धार्मिक जोशमें थे, उच्चस्वरसे बोले "मैं अवश्य आऊँगा"।

दूसरे दिन इधर हमारी सभा लगी, उधर एक घण्टा पहिलेसे ही निष्पक्ष नगरनिवासी, हिन्दू मुसल्मान दोनों, पंडितजीकी सेवामें पहुँचे। पंडितजी उन्हें टालते थे और वे उन्हें लानेका यत्न करते थे। अन्तको जनसमुदायका विजय हुआ और पंडितजी समेत वे शहरके मध्यसे होते हुए चल दिये। हमारे यहाँ उस समय २५० से अधिक जनसंख्या न थी। पंडितजीके साथ डेढ़ दो सहस्र पुरुष आये। अन्दर, बाहर, छतें सड़क तक आदमी ही आदमी थे। २० मिनट तक तो स्वमत स्थापनमें गया और पंडितजी सुनते रहे। किन्तु जब उनके सिद्धान्तोंका पुराणोंके ही प्रमाणोंसे खंडन आरम्भ हुआ तो "राधाकृष्ण-की जय" बोलकर पंडितजी उठ खड़े हुए। उनके साथ केवल दो अढ़ाई सौ पुरुष उठे। शेष सब जमे रहे। व्याख्यान डेढ़ घण्टे तक होता रहा। १०,१५ सभासद बढ़े और इस नाटककी दूसरी बार जवनिका गिरी।

पिताजीकी शिक्षाप्रद मृत्यु

पिताजी दिनों दिन निर्बल होते जाते थे। डाक्टरोंके इलाजसे भी जब कुछ लाभ न हुआ तो एक बड़े प्रसिद्ध यूनानी हकीमको लाया गया। उसने मेरे पास १५०) की लागतका नुसख़ा भेजा, जिसमें मोती आदि भी लिखे थे नुसख़ा बँधवाकर भेजा गया। हकीमजीके इलाजसे एक दो दिन कुछ चम-त्कारसा दिखायी दिया, पर पीछे उनकी दशा शोचनीय हो गयी। मैं तलवन पहुँचा और जाते ही लेटे हुए पिताजीको प्रणाम किया। मुझे देखते ही उन्होंने हाथ बढ़ाकर आशीर्वाद दिया। मैंने देखा कि मेरे सबसे बड़े भाई गिलासमें कुछ पीनेकी वस्तु लिये खड़े हैं। पिताजीने कहा—"यदि मुंशीराम कह दे कि इसमें मांस नहीं है तो मैं पी लूँगा, वह मेरे भलेके लिये भी झूठ नहीं बोलेगा"। मैं आश्चर्यित हुआ और अलग ले जाकर भाई साहेबानसे असल

बात पूछी। उन्होंने बतलाया कि हकीमजीने चूज़े (मुर्गीके बच्चे) का शोरबा अपनी दवाईका अनुपान बतलाया है। भाई साहेबने वही बनवाया और पिताजीको बिना बतलाये, चनेका पानी कहकर, पीनेको दिया। उन्होंने एक घूँट लेते ही फैंक दिया और उसके पश्चात् चनेका रसा आदि ले जानेपर भी १८ घण्टों तक कुछ भोज्य पदार्थ ग्रहण नहीं किया। मैंने उसी समय परीक्षा करके निश्चय किया कि वास्तवमें उसके अन्दर मांसका कुछ भी अंश नहीं है और गिलास पिताजीके सामने पेश किया। उन्होंने केवल दो शब्द कहे—"पीलूँ ?" मैंने उत्तर दिया—"पी लीजिये"। इसपर उन्होंने उसे पी लिया। मैंने देख लिया कि पिताजीका अन्तिम समय ही है। हकीमजीकी भी बुद्धि कुछ काम नहीं करती थी। फिल्लौरका डाक्टर बड़ा योग्य सुना गया था। उसे भी बुलाया। रात किसी प्रकारसे काटी। प्रातः नये डाक्टरने भी कुछ यत्न आरम्भ किया। हिचकी बड़ी ज़ोरकी थी, उसे बन्द करना बड़ा कठिन हो गया। दोपहरके बाद उन्होंने मुझे अपने पास बैठाकर उपनिषदोंका पाठ करनेके लिए कहा। मैंने ईशोपनिषद्को समाप्त करके कठका पाठ आरम्भ किया। पिताजीने इशारेसे कान अपने मुँहके पास ले जानेको कहा। हिचकी बोलने नहीं देती थी। शब्द कठिनाईसे निकले किन्तु थे स्पष्ट—"वैदिक हवन कराओ।" मेरा मुंशी साथ आया था। तेज़ घोड़ीपर उसे भेजा कि जालन्धरसे सामग्री लेकर दूसरे दिन तक पहुँच जाय।

मध्याह्नोत्तर कुछ शान्ति रही, फिर चित्त अधिक बिगड़ने लगा। कुछ कालके पश्चात् थोड़ा सँभले। सारे परिवारको इकट्ठा करके आशीर्वाद दिया। मेरे कुछ भाई सांसारिक बातें करने लगे, सबको हटवा दिया और फिर आँखें बन्द कर लीं। रातको खानापीना त्याग दिया। पंडित काशीराम आकर बैठे, कहा 'भजन बोलो'। वह कृष्णभक्तिके कुछ पद बोलने लगे। कहा—"जो आप न छूटा वह दूसरोंको कैसे छुड़ायेगा। मुंशीजी! कोई निर्वाणपद बोलो।" मुंशीजीने एक सूरदासका निर्वाण पद कहा। मैंने उसके पश्चात् कबीरका एक भजन कहा, उसे सुनकर वह बहुत ही सन्तुष्ट हुए। फिर कहा—"मैं तो अब अच्छा हूँ तुम सो जाओ।" मैं बैठा रहा, तब मुझे निश्चय दिलानेके लिये आखें बन्द कर लीं। मैं कुछ कालके पश्चात् लेट गया, किन्तु नींद न आयी। फिर पिता जी का श्वास शीघ्रगामी हुआ। उठकर मैं पैर दाबने लगा। फिर मैंने उनका सिर मला। उन्हें नींद आगयी। दो घण्टेतक मैं हल्के हाथों सिर दाबता रहा और वे बराबर सोते रहे। दूसरे दिन कुछ अच्छे दिखायी दिये। मुंशी सामग्री लेकर न आया और पिताजीने तीन बार पूछा—"वैदिक हवन कब होगा? शीघ्र होना चाहिये"। शामसे फिर अवस्था बिगड़ने लगी। आठ बजे मेरे हाथमें नाड़ी थी और वेद मन्त्रोंका मैं पाठकर रहा था। मेरे बड़े चचाने गीताका पाठ आरम्भ किया। ६ बजे पिताजीने प्राणत्याग दिये और नाड़ी बन्द हो गयी।

उसी समय स्त्रियोंका रोना पीटना आरम्भ हो गया, कुछ काल तो मैं चुप रहा किन्तु फिर इस शोरको हटाकर सारा परिवार कोई तीन सौ नगरनिवासियों सहित मृतक शरीरके पास रतजगा करता रहा। मेरी विचित्र दशा थी। पिताजीके देहान्तसे मानों माता पिता दोनोंसे वियोग हो गया। न रोना आता था और न आस पासवालोंकी बातें समझमें आती थीं। प्रातः फिर भाइयों और बिरादरीमें कानाफूसी शुरू हुई। मुझे ख्याल हुआ कि शायद मुझे पौराणिक अन्त्येष्टि संस्कारके लिये तङ्ग करें, किन्तु जब आपसकी बड़ी हलचल देखकर भी मैं न हिला तो किसीका हौंसला मुझे कुछ भी कहनेका न पड़ा। बड़े भाईने पौराणिक रीतिसे अर्थीके साथ साथ कार्यवाही शुरू की और घृत चन्दनादिके लिये आज्ञा दी। पिताजीके नौकरने बहुत सा केशर निकालकर दिया। अब बिना बोले निर्विकल्प समझौता हो गया कि श्मशान भूमिमें पहुँचते ही मृतक शरीरके साथ किसीका वास्ता न रहेगा। श्मशानमें पहुँचनेपर मेरी आज्ञानुसार वेदी बनी और चन्दनकी लकड़ी लगायी थी मन्त्र पाठ करनेवाले मैं और मुंशी काशीराम तथा आहुति डालनेवाले केवल कुछ मेरे विचारके लोग ही नहीं प्रत्युत मेरे ज्येष्ठ भ्रातादि भी थे। उसी समय सामग्री लेकर मेरा आर्यसमाजी मुन्शी पहुंचा। कुछ सामग्री वहाँ डाली गयी और शेषसे उस स्थानपर, जहाँ पिताजीका देहान्त हुआ था, सायंकालको हवन हुआ।

उस समयकी और दो घटनाएँ वर्णन करने योग्य हैं। जब मृतक शरीरको जलानेकी तय्यारी हुई तब अर्थीके ऊपरके कारचोबी के दुशालेपर महाब्राह्मणोंमें झगड़ा हो गया। एक कहता था कि केवल मेरा ही अधिकार है किन्तु दो और उससे भाग माँगते थे। जबकि हमारा सारा परिवार शोक-सागरमें डूबा हुआ था उस समय इन देवताओंका बाजारियोंकी तरह श्मशानमें झगड़ना मुझे बहुत अनुचित प्रतीत हुआ और मैंने मृतक शरीरको कारचोबीके दुशाले सहित चितामें रख कर भस्म करा दिया। दूसरी घटना बड़ी ही हृदय-वेधक थी। पिताजीके देहान्तके समय मेरी एक ही सन्तान अर्थात् मेरी बड़ी पुत्री वेदकुमारी थी। वह उस समय ५ वर्षकी होगी। पिताजीको उसके साथ बड़ा ही प्रेम था। भोजनके समय उन्हींके साथ वह खाती थी। जब प्रातः अर्थी को ले चले तो उसने पूछा—"लालाजी कहाँ हैं ?" उस समय माताने बिलखकर कहा—"लालाजी तो मर गये"। विचारी कन्याने न किसीको मरते देखा था, न उसको ऐसी घटनाका ज्ञान था। सबको शान्तिसे कहती फिरी—"लालाजी मर गये"। पिताजीको सब 'लाला जी" कहकर पुकारते थे, इसलिये पुत्री कुमारी भी ऐसा ही कहती थी। श्मशानसे जब लौट कर आये तो पिताजीकी बैठकको अन्दरसे बन्द करके मैं सोनेकी चेष्टा करने लगा। उस समय वेदकुमारी नित्य आकर पिताजीसे फल आदि मिठाई खानेको लिया करती थी और वह उसकी बालक्रीडाको देख कर प्रसन्न होते और उसे प्यार किया करते थे। नियमानुसार बालिका आ खड़ी हुई। किवाड़ा बन्द

देख कर धक्का दिया। फिर पुकारा—"लालाजी खोलो!" जब किसीने न सुना तो किवाड़ेको पकड़ कर चीखने लगी—"लालाजी! कुण्डा खोलो, हाय खोलते नहीं।" रोनेका शब्द सुन कर मैं उठ खड़ा हुआ। किवाड़ा खोला तो बालिका अन्दरको गिर पड़ी। उठकर पलंगसे लिपट गयी। तब उसको पता लगा कि मरना किसे कहते हैं, और वह आपसे आप समझ गयी कि "लाला-जीके शरीरको जला आये हैं। बालिका पलंगके पावेके साथ लिपटी हुई विलाप करने लगी और मैंने भी आठ आठ आँसू रोना शुरू किया। स्त्री पुरुषोंका एक समूह एकत्र हो गया और धाड़ें मार मार कर सब रोने लगे। यदि उस समय पुत्री न रुला देती तो शायद मैं पत्थर सा बना रहता और शायद किसी बड़े रोगसे ग्रस्त भी हो जाता।

ज्येष्ठ भ्राताजीने गरुड़ पुराणकी कथा रखायी। मैंने उसी समय जुदा उपनिषदोंका स्वाध्याय आरम्भ कर दिया। सब सम्बन्धी वगैरह आये थे और रातको इकट्ठे डेढ़ सौ पुरुष भूमिपर शय्या करके सोते थे। इस अवसरपर कइयोंने दस दिनोंके अन्दर मेरा विरोध करनेका प्रयत्न किया परन्तु आगे बढ़नेका हौंसला किसी का न हुआ।

पिताजीके देहान्तपर मेरी एक प्रकारसे काया पलट हो गयी। अन्त समयमें उन्होंने मेरी सचाईपर जो विश्वास प्रकट किया, उसने मुझे सत्य पाल-नकी ओर सर्वथा झुका दिया। मैंने दृढ़ संकल्प किया कि पिताजीकी मङ्गल इच्छाके अनुकूल ही आचरण करना चाहिये। यह इसीका परिणाम था कि जब सारे भाई इस सन्देहमें थे कि जो तालियाँ पिताजीके देहान्तसे बारहवें दिन भीमाने, उनकी अंतिम आज्ञानुसार, मेरे सामने रख दी थीं, उनसे ताले खुलनेपर उन लोगोंको भी कुछ लाभ पहुँचेगा वा नहीं, तब मैंने स्वयं उन्हें जमा करके उनकी इच्छानुसार सबको सन्तुष्ट करनेके पश्चात् जो बच रहा वही लिया।

पिताजीका देहान्त १२ आषाढ़ (२६ जून) को हुआ था। एक महीना मैंने खुर्जा, बरैली और बनारसकी कोठियोंसे पिताजीका जमा किया हुआ रुपया वसूल करनेमें बिताया। बरैली और बनारसमें पुराने मित्र भी मिले, परन्तु मेरा उनके रहन-सहनसे बहुत भेद हो चुका था। फिर भी सबने मेरे साथ पुराना ही प्रेमका व्यवहार किया। भाद्रपद (अगस्त) मासमें नगद रुपया भी बाँट दिया। मेरे तीनों भाइयोंने अधिक नगदी ली और मुझे पूरा दाम लगा कर बग्घियाँ और घोड़े दिये गये जिनके कारण मेरा मासिक व्यय पहलेसे बहुत बढ़ गया। सारी सामग्रीको तलवनमें छोड़ कर मैं जालन्धर पहुँच गया।

जालन्धरमें मैंने 'सूदोंकी चौकवाली' बैठक छोड़ दी थी। मेरा परिवार अपने पितृगृह में निवास करता था, मैं भी वहीं जाकर टिका, क्योंकि वकालत-की परीक्षाके लिये फिर लाहौर जाना था और मुखतारीका काम पिताजी के देहान्त पर जालन्धरसे अनिश्चित अनुपस्थितिके कारण बन्द हो चुका था। मैं शायद उसी समय लाहौर चला जाता किन्तु दसहरेके मेलेकी मण्डीपर

तीनमेंसे दो जानवर (एक घोड़ा और एक घोड़ी) बेंच देनेका विचार था। इसलिये भी दसहरेके मेले तक ठहरना पड़ा। घोड़ेका बाँकापन और शान देख कर म्यूनिसिपैलिटीकी ओरसे इनाम तो मिल गया, किन्तु सौदा एक जानवरका भी न हुआ; इसलिये सब जानवरोंके पालनका बोझ सिरपर रख मैं लाहौरको चल दिया।

मेलोंमें वैदिकधर्म-प्रचार

यह शायद पहिली बार था कि जालन्धरमें दसहरेके मेलेपर ईसाइयोंके साथ साथ आर्यजातिकी किसी संस्थाकी ओरसे धर्मप्रचारका प्रबन्ध किया गया था। उस समय महाशय भक्तराम बी० ए० मिशन स्कूलके हेडमास्टर, जालन्धर आर्यसमाजके उप-प्रधान थे। रामलीलाका मेला उस सूखे तालाबपर लगा करता था, जिसे अब गांधी मण्डप कहते हैं। उसी तालावके ऊपर बड़े प्रसिद्ध स्थानपर आर्यसमाजकी ओरसे खेमा लग रहा था। ईसाई मिशनके मुकाबिलेमें उन्हींके स्कूलके हेडमास्टरका अपने हाथों 'ओ३म्' का झण्डा गाड़ना तथा खेमेके खूंटे ठोकना—बड़ा ही विचित्र दृश्य था। आर्यसमाजके सिद्धान्तोंका खूब प्रचार हुआ, मैं भी बोलता था किन्तु श्री देवराजजीके व्याख्यान सर्वसाधारणपर बहुत असर डालते थे। बड़ी बात यह थी कि जालन्धर प्रान्तके सबसे बड़े जमीन्दार और साहूकारके पुत्रको सादा जीवन व्यतीत करते हुए, धर्मकी सेवामें निमग्न देखकर पत्थर दिल भी पसीज कर उस ओर झुकते थे। ईसाइयोंका प्रचार उस वर्ष बिलकुल फीका पड़ गया। जब ईसाई प्रचारकके पास दो तीन आदमी मुश्किलसे रह जाते तो वह स्वयम् हमारे कैम्पमें आजाता। जालन्धर आर्यसमाजके प्रचारोंमें एक विशेषता आरम्भसे ही रहती थी। उसके कामसे किसी भी अन्य मतावलम्बी व्यक्तिको असभ्य व्यवहारकी शिकायतका अवसर नहीं मिला। जालन्धर आर्यसमाजके उस समयके पदाधिकारियोंको यह अभिमान था कि वे असभ्य विरोधियोंको भी सभ्य बनानेमें कृतकार्य होते हैं।

दसहरेके पश्चात् हम सबने पारिवारिक उपासनाका प्रचार प्रारम्भ किया। प्रत्येक सप्ताह, शायद मंगलवारको, सब भाई किसी सभासदके घर इकट्ठे होते। महल्लेवाले स्त्री पुरुष भी आ बैठते। भजन कीर्तनके पश्चात् ईश्वरकी स्तुति प्रार्थना, और तत्पश्चात् कभी कभी धर्मोपदेश भी होता था। इस प्रथाके चलानेका सारा यश श्री देवराजजीको ही मिलना चाहिये। यही क्यों, और भी हृदयपर अधिक प्रभाव डालनेवाले कार्योंका आरम्भ श्रीदेवराजजीके ही अनुकूल हृदयसे हुआ करता था।

एक विस्मृत धर्मोपदेशक

लाहौर आर्यसमाजमें संवत् १९४३ से "आटाफण्ड" बड़े जोर शोरसे चला था। लाहौरसे ही अन्य आर्यसमाजोंने भी "आटाफण्ड" चलानेकी शिक्षा ली थी।

धर्मकार्योंके लिये इस प्रकार आर्थिक सहायता एकत्र करनेकी प्रथा यहाँ तक चली कि अब तक आर्यप्रतिनिधि सभाने गिरते पड़ते भी अपने बजटसे 'आटा-फण्डको' नहीं काटा। यह आटाफण्ड कैसे चला? संवत् १६४२ की गर्मियोंमें जब लाहौर आर्य मन्दिरकी ड्योढ़ीके ऊपरवाले मकानमें साप्ताहिक अधिवेशन हो रहा था, एक साधारण लम्बा दुबला साधु आया और घुटने टेक कर बैठ गया। सत्यार्थप्रकाशकी कथा समाप्त होते ही उसने एक मर्मस्पर्शी वक्तृता दी और यह प्रस्ताव किया कि प्रत्येक आदित्यवारको आर्य सामाजिक सभासद चुटकी चुटकी आटा घर घरसे भिक्षा करके लावें और आर्यसमाजका काम चलावें। इसका प्रचार इतना हुआ कि दयानन्द कालिजकी आमदनीका यह एक सन्तोषजनक भाग बना। बहुत से घरोंमें 'धर्म-घट' रख दिये गये, गृह पत्नियाँ प्रातःकाल आटा गूंधनेसे पहिले एक मुट्ठी आर्यसमाजके निमित्त निकालकर धर्म-घटमें डालती रहीं।

यह साधु, जिसने ऐसा प्रभाव डाला, कौन था? जब साधु बोल चुका तो आरती होने पर वह बड़े प्रेमसे मुझसे मिला। लाहौर आर्य-समाजके प्रधान श्री साईंदासजीने मुझसे साधुजीका नाम पूछा। मैंने बतलाया कि इनका नाम "रमताराम" है और यह कुछ कालसे जालन्धरके श्रीमान् सर्दार विक्रमसिंह सी. एस. आई. के यहाँ ठहरे हुए हैं। आर्यसमाजसे बड़ा प्रेम रखते हैं और श्रीदेव-राजजीके और मेरे साथ इनका गहरा धार्मिक सम्बन्ध है। रमतारामजी कुछ काल लाहौरमें रहे, फिर वहाँसे न जाने कहाँ चले गये। एक बार उनकी उड़ती सी खबर एक स्थानसे आयी थी, फिर कुछ पता न लगा। रमताराम-जीका देवनागरी तथा अंग्रेजी अक्षरोंका लेख अत्युत्तम था। स्वामी योगेन्द्र-पालकी तरह वह वेद मन्त्रादि लिखते रहते थे। जालन्धरमें उन्होंने कभी सर्व-साधारणके सामने वक्तृता नहीं दी थी। लाहौरको उन्होंने हिला दिया था। उनके अन्दर धर्मके लिये बड़ी श्रद्धा थी और उनका हृदय जोशकी अग्निसे प्रज्वलित रहता था। रमतारामजी एक धूम्रकेतुकी तरह आये और वैसे ही चल दिये। न जाने कितने धूम्रकेतु आये और चले गये जिनको आर्यसमाजमें न किसीने देखा और न पहिचाना। परमात्मा करे कि ऐसे चम-त्कारोंसे भी शिक्षा लेनेका पाठ आर्य भाई पढ़ें और अपनी संशोधक शक्ति-को बढ़ाएँ।

'धर्मघट'का निर्माता कौन था?

यह ठीक है कि धर्म-घट रखवानेका प्रचार लाहौरमें पहिले पहिल स्वामी रमतारामजीने कराया किन्तु उक्त स्वामीजी इस विचित्र विचारके निर्माता न थे। यह ख्याल पहिले श्री देवराजजीके कालपनिक मस्तिष्कसे निकला था। उन्होंने जालन्धर आर्यसमाजके मन्त्रित्वके अधिकारसे अपनी अन्तरंग सभामें सबसे पहिले यह प्रस्ताव पास कराया कि सब सभासदोंके मकानोंमें

एक एक घड़ा रखा जाय जिसमें प्रातः एक मुट्ठी आटा आर्यसमाजके कामोंके लिये डाला जाय। इसका नाम देवराजजीने ही अपनी विचित्र भाषामें "चाटी सिस्टम" रक्खा क्योंकि आटा रखनेके बड़े मुंह वाले घड़े को जालन्धरमें 'चाटी' कहते हैं। देवराज जी की कल्पना-शक्तिकी यहीं तक समाप्ति न थी। उन्होंने चाटी सिस्टमके साथ "रद्दी फण्ड" भी खोल दिया। इसका मतलब यह था कि सभासदोंके घरोंमें महीनेके अन्दर जितनी रद्दी इकट्ठी हो, वह सब आर्यसमाजका चपरासी उठाकर ले जावे और उसे बेचकर एक धन जमा कर लिया जाय। जहाँ तक मुझे याद है इसी "रद्दी फण्ड" की आमदनीसे जालन्धर आर्यसमाजके पुस्तकालयके लिये पुस्तकें तथा समाचारपत्र मँगाये जाते थे।

जालन्धर आर्यसमाजमें उस समय बड़े बल तथा उत्साहसे कार्यारम्भ हो गया था। जहाँ मंगलवारको गृह-उपासना हुआ करती थी वहाँ प्रत्येक बुधवारको सायंकाल एक वाग्वर्धिनी सभा भी हुआ करती थी, इस सभामें केवल युवक ही नहीं बोला करते थे प्रत्युत अधेड़से लेकर वृद्धों तक व्याख्यान दिया करते थे।

विजयादशमीसे एक सप्ताह पश्चात् मैं लाहौर चला गया। वकालतकी परीक्षा फिरसे देनी थी क्योंकि यह मेरे लिये अन्तिम ही अवसर था। इसके पश्चात् बिना बी० ए० पास किये कोई भी वकालतकी परीक्षा नहीं दे सकता था। मैंने अपने गत वर्षके ही कुछ साथियोंके पास डेरा किया। जिस बड़े द्वारके अन्दरसे अनारकलीका बड़ा आर्यसमाज मन्दिर दिखायी देता है उसके बाईं ओरके मकानमें मैं अन्य विद्यार्थियोंके साथ ठहरा। इस मकानके ऊपरकी छतोंपर उन दिनों, वर्तमान देव समाजके प्रवर्तक पंडित शिवनारायण अग्निहोत्री अपने परिवार सहित रहते थे। उस समय तक उनका सम्बन्ध ब्राह्मसमाजके साथ ही था किन्तु उन्होंने उसी वर्षकी ग्रीष्मऋतुमें (मेरी लाहौरसे अनुपस्थिति में) लोगोंको ब्राह्म मन्दिरमें ही इकट्ठा करके लाहौर गवर्नमेण्ट स्कूलकी ड्राइङ्ग मास्टरी छोड़ स्वर्गवासी बाबू नवीनचन्द्ररायसे संन्यास धारण किया था और अपना नाम शिवनारायणके स्थानमें 'सत्यानन्द' रख लिया था। हाँ, संन्यास लेनेके पहिले और पीछे भी यह अग्निहोत्रकी छाया तकसे डरते हुए अग्निहोत्री ही बने रहे।

पाठकोंके हृदयमें स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ होगा कि जब संन्यास ही ले चुके तो परिवार कैसा? किन्तु उन्हें समझ लेना चाहिये कि यह संन्यास भी अनोखा ही था। अग्निहोत्रीजीकी पहिली धर्मपत्नी जब मरी थीं उस समय शायद उनके दो या तीन पुत्र थे। उसके पश्चात् आपने एक बङ्गाली विधवासे विवाह किया। थोड़े ही काल बाद उसका भी देहान्त हो गया, तब आपने १५०) मासिककी नौकरी छोड़कर विज्ञापन दे एक बड़ा जबर्दस्त व्याख्यान दिया और भगवे कपड़े धारण कर लिये, किन्तु बाल बच्चोंके साथ वैसा ही सम्बन्ध जोड़े रहे। इसीलिये मैंने इसे अनोखा संन्यास लिखा है।

उन दिनों अग्निहोत्रीजी थे तो ब्राह्मसमाजके ही मिनिस्टर किन्तु ब्राह्म-समाजसे अलग होनेकी तय्यारियां कर रहे थे। इसका पहिला चिन्ह इनका स्वतन्त्र चेले मूंडना था। जिन दिनोंका हाल मैं लिख रहा हूँ उन दिनों होत्रीजी-ने सबसे पहिले दो चेले मूंड़े थे। एकका नाम झण्डासिंह और दूसरेका चुन्नीलाल था। झण्डासिंह तो पहिले अमरसिंह हुए और फिर देव समाजकी बुनियाद पड़ते ही अमरदेव हो गये। ज्येष्ठ चेला होनेके कारण गद्दीके अधि-कारी वही थे किन्तु सुना गया है कि अग्निहोत्रीजीके पुत्र हरनारायणने वर्षों-की उदासीनताके पश्चात् पिताका चेला बनकर, गद्दीसे उन्हें वंचित कर दिया है। दूसरे चुन्नीलालका नाम रखा गया था ब्रह्मदास, वह ब्रह्मदाससे ईसादास बन चिरकालसे अपना स्थान रिक्त करके चले गये हैं।

इन दोनों चेलोंको अनुतापका खूब पाठ पढ़ाया जाता था। प्रातःकाल उठकर अग्निहोत्री जी तो सैरको चले जाते और इन दोनोंको रोने चिल्लानेके लिये हमारे गले मढ़ जाते। प्रातःकाल स्नान करके जब मैं सन्ध्या करने बैठता तो ऊपरसे शब्द आते "मैं पापी हूँ। मैं महापापी हूँ। हाय मर गया। गुरुजी, शरणमें लो। हाय! हाय!! हाय!!!" 'धड़ाम', गिरनेका शब्द आता और हममेंसे एक ऊपरको दौड़ पड़ता, किन्तु किवाड़ बन्द पाता, करता तो क्या करता। एक दिन इन दोनों नए चेलोंके अनुतापका विचित्र दृश्य देखा। मैं तीन चार मित्रों सहित इरावती (रावी) नदीके परले पार जहांगीरका मक़बरा देखने गया। मकबरा देखकर हम सब शाहदरा ग्राममें चले गये। आगे बाजारमें तिरमुहानी पर लोगोंका जमघट दिखायी दिया। समीप जाकर देखा तो दो मनुष्य भूमिपर लोट पोट हो रहे हैं। मैंने समझा कि कोई दङ्गा हो रहा है, किन्तु लोगोंको हँसते ठट्ठा करते देख कर कुछ अधिक सावधानतासे दृष्टि डाली तो पता लगा कि हमारे पड़ोसी झण्डासिंह और चुन्नीलालने माया रच रखी है। एक व्याकुल होकर दूसरेके पैर पकड़ कर चिल्लाता है—"भाईजी! मैं बड़ा पापी" दूसरा अपना पैर छुड़ा पहिलेके चरण घसीटकर चिल्लाता है—"नहीं भाईजी! मैं बड़ा पापी"। मैं ऐसा नहीं समझता कि वे जानबूझ कर कोई ढोंग रच रहे होंगे। उन्हें यही बतलाया गया था कि इस प्रकार गलियोंमें पापको प्रख्यात करके प्रायश्चित्तसे वे निष्पाप हो जायँगे।

इन्हीं दिनों उद्धवराम कवाडियेकी भतीजी कुमारी देवकीजी संन्यासी सत्यानन्दजीके यहाँ उनसे पढ़ने आती थीं, और बहुधा भोजन बनानेका भी काम करती और वहीं रह भी जाती थीं। ऐसे दिनोंमें गरीब झण्डासिंह और चुन्नीलाल तो चार बजे ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर गलियोंमें अनुतापका राग अलापने-के लिये चले जाते और अग्निहोत्रीजी परिवार-सहित छः सात बजे तक निद्राका आनन्द लेते रहते थे। एक दिन जब अग्निहोत्रीजी गुजरांवाले गये हुए थे, मैंने उनके हरनारायणसे छोटे लड़केकी विचित्र शोचनीय अवस्था देखी। मैं सीढ़ीके पासवाले कमरेमें दो पहरको पढ़ रहा था कि ऊपरका दरवाजा जोरसे

बन्द हो गया। कान्ति नारायणने उसको खड़खड़ाना और ऊपरवालोंको गन्दी गालियाँ देना आरम्भ किया। जब वहाँ कुछ पेश न गयी तो सड़कपर खड़ा हो कर ईंटें फेंकने लगा। जब बाहरके द्वार भी बन्द हो गये तो झपट कर ऊपरको चला। मेरा उन दिनों अग्निहोत्रीजीसे मिलनेका सम्बन्ध था। मैंने सीढ़ीमें जाकर बच्चेको दिलासा देकर चुप कराना चाहा, किन्तु वह बालक क्या था, आफत था। मुझसे छूट कर ऐसी खराब गालियाँ देने लगा कि मुझे कान बन्द कर लौटना पड़ा। तब दूसरी ओरसे मैंने झण्डासिंहको कहा कि आप हम सबपर दया करें और अपने गुरुपुत्रको अन्दर लेकर स्वयं उसकी अमृतमयी वाणीका पान करें। उन्होंने कृपा कर किवाड़ खोल कान्तिको अन्दर कर लिया। उन्हीं दिनों अग्निहोत्रीजीने "जात पाँत और उसकी खौफनाक बुराइयाँ" शीर्षकसे एक व्याख्यान दिया था, जिसे मैंने बहुत पसन्द किया था। किन्तु उसी समय वक्ताओंके गुह्य रहस्य भी मुझे ज्ञात हुए जिनका अनुकरण मैं कभी नहीं कर सकता। जो व्याख्यान अग्निहोत्रीजीने दिया, उसका बहुतसा भाग उन्होंने मेरे सामने अपने 'धर्मजीवन' अखबारके लिये लिखाया था। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि बड़े वक्ता सारी वक्तृता पहिले लिख लेते हैं और कंठस्थ करनेका भी प्रयत्न करते हैं किन्तु यदि कुछ औरका और बोल जायँ तो भी छपता वही है जो उन्होंने विचार कर लिखा हो। कुछ भी हो, मैं उस समय तक अग्निहोत्रीजीको एक देशभक्त तथा धार्मिक आदमी समझता था।

किन्तु उनके तीसरे विवाहसे उनके प्रति जो सम्मानका भाव था वह मेरे दिलसे जाता रहा। जिस रात संन्यासी स्वामी सत्यानन्द अग्निहोत्रीने तीसरी बार गृहस्थीमें प्रवेश करने की तय्यारी की और अपने संन्यासके गुरु बाबू नवीन चन्द्र रायके घरपर ही कुमारी देवकीजीके साथ विवाह पढ़वा रहे थे, उसी रात, उसी समय, पण्डित लक्ष्मणप्रसाद ब्राह्म समाजमें उनकी इस करतूतके विरुद्ध बलपूर्वक व्याख्यान दे रहे थे। उस व्याख्यानमें मैं नहीं गया था और इसीलिये मैंने एक दूसरा दृश्य देखा। रातके शायद ११ बजे थे, मैं परीक्षाकी तय्यारीमें निमग्न था कि बाहर अग्निहोत्रीके द्वारपर बहुतसे पैरोंकी आहट सुनायी दी। बाहर देखा तो अग्निहोत्रीजी रेशमी भंगवी पोशाक धारण किये श्रीमती देवकीजीको दुलहिनकी पोशाक पहिनाये साथ लेकर ऊपर चढ़ रहे हैं और उनके सुपुत्र हरनारायणजी लालटेन ऊंची किये और एक हाथ पतलूनकी जेबमें डाले कह रहे हैं—*"आइ ऐम ग्लैड टु सी इट. ह्वाट इज़ इट?" (मैं इसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। यह क्या है?) तब ऊंचे स्वरसे पढ़ने लगे—"सत्यानासी हाय! हाय!!!......चेली व्याही" इतना पढ़कर हरनारायण रुक गये और अग्निहोत्रीजी ऊपर आये। एक विज्ञापन कोई लगा गया था। अग्निहोत्रीजीने दृष्टि डाली और अपने बनावटी गम्भीर स्वरमें कहा—"इसे उतार लाओ। हमारी जिन्दगीमें यह भी एक यादगार रहेगी"।

* I am glad to see it. What is it?

दूसरे दिन सवेरेसे ही धूम मच गयी। जिस दरवाजे पर जाओ, दोनों ओर वही पोस्टर लगा हुआ है। प्रत्येक बाजार, गली कूंचेमें वही इश्तिहार —"सत्यानासी हाय! हाय!! कहाँ वह चालीस, हाय! हाय!! कहाँ यह सोलह, हाय! हाय!!.........चेली ब्याही हाय हाय! कच्चा योगी, हाय! हाय!! पक्का भोगी, हाय! हाय!! इत्यादि"—। मैंने इस विज्ञापनको बहुत ही बुरा समझा, और इसलिये मुझे यह सुनकर बड़ा कष्ट हुआ कि लोग इस विज्ञापनका मुद्रण कुछ आर्यसमाजियोंकी ओरसे समझ रहे हैं। मुझे यह विश्वास नहीं होता था कि इस कर्मके लिये अग्निहोत्रीजीके साथ मतभेद रखते हुए भी आर्यसामाजिक पुरुष ऐसी असभ्यताके भागी बनेंगे। मैंने यह दोष आर्यसमाजके गले मढ़ना जनापवाद मात्र ही समझा और श्री लाला साईंदासजीके पास पहुँचकर उनसे प्रार्थना की कि इस अपवादका खण्डन करें। लाला साईंदासजीने उत्तर दिया कि जब राय मूलराज एम० ए० ने अपनी पहिली धर्मपत्नीके देहान्तके पश्चात् दूसरा विवाह किया था तो अग्निहोत्रीजीने अपने पाक्षिक समाचारपत्र 'विरादर-ए-हिन्द" में उनके विवाहका सियापा छापा था जिसकी टेक थी 'एम० ए० बी० ए०, हाय! हाय!!" लालाजीने कहा कि राय मूलराजका केवल इतना ही दोष था कि उन्होंने ग्यारह वर्षकी कुमारीसे इसलिये शीघ्र विवाह कर लिया कि उसे सुशिक्षिता बना सकें। यदि राय मूलराजके मित्रोंमेंसे किसीने बदला लेनेके लिये अग्निहोत्रीका सियापा मुद्रित करा दिया तो हम क्या कर सकते हैं? लालाजीके इस कथनसे मेरी तसल्ली तो न हुई, किन्तु मैं चुप होकर लौट आया।

मैं समझता हूँ कि यह पहिला ही अवसर था जब कि अग्निहोत्रीजीके अन्दर आर्यसमाजके प्रति द्वेषाग्नि अधिक भड़क उठी। यह सच है कि श्री स्वामी दयानन्दजीसे दो बार (एक बार सामवेदमें कहानियोंका दावा करके न निकाल सकने पर और दूसरी बार भाई दित्तसिंहका प्रश्न न समझकर श्री स्वामीजीको ताना देनेपर) झाड़ें खानेके कारण पण्डित शिवनारायणके मनमें आर्यसमाज काँटा सा खटक रहा था, और यह भी ठीक है कि गेरुये वस्त्र पहिनकर ऋषि दयानन्दके बन्धेजका पटका बाँध श्री स्वामी सत्यानन्दके अन्दर अभिमान और दुराग्रहकी मात्रा बढ़ चुकी थी; किन्तु अनुमान यह होता है कि अन्य धर्म समाजोंकी अपेक्षा आर्यसमाजसे अधिक शत्रुताकी प्रेरक यही घटना हुई। और शायद इसी घटनाका परिणाम था कि स्वा० सत्यानन्द अग्निहोत्रीने ब्राह्मसमाज मन्दिरमें वह विषसे भरा हुआ व्याख्यान दिया जिसने सब गुप्तचरोंके लश्करसे बढ़कर आर्यसमाजको हानि पहुँचायी। उस व्याख्यानका शीर्षक था— "स्वामी दयानन्द और उनका नया पन्थ" अग्निहोत्रीजीने इस व्याख्यानकी हजारों कापियाँ उर्दू, अंग्रेजी और आर्यभाषामें छपवाकर बाँटीं।

एक समय आया था जब परमगुरुको जवाब देकर केवल देवगुरुकी पूजा ही शेष रह गयी थी; उस समय अग्निहोत्रीजीने आर्यसमाजके विरुद्ध

मुद्रित किये सारे साहित्यको जला देनेकी घोषणा की थी, किन्तु इस मनुष्य-पूजा-भञ्जक समाजपर फिर भी अग्निहोत्रीजीकी क्रूर दृष्टि बनी ही रही और भारतवर्षमें आये संवत् १९६४ (सन् १९०७) के भौंचालमें अग्निहोत्रीजीके चेलोंसे बढ़कर और किसी गुप्तचरने काम भी नहीं किया।

जालन्धर आर्यसमाजका प्रथम वार्षिकोत्सव

अमृतसर और लाहौरके आर्यसमाजोंके उत्सवोंमें सम्मिलित होनेके बाद मैंने वकालतका परीक्षा दूसरी वार दी। परीक्षासे निवृत्त होते ही मैं जालन्धर पहुँचा और स्थानीय आर्यसमाज के पहिले वार्षिकोत्सवकी तय्यारीमें लगा। मुरलीमल वाली धर्मशालासे हम सब उठकर कपूरथलाके वकीलखानेके सामने उस मकानमें आगये थे जिसकी बुनियादपर इस समय सर्दार अमर-सिंहका मकान खड़ा है। इस नये मकानका आंगन बहुत बड़ा था। इस आंगनमें शामियाने खड़े करके खूब सजावट की गयी थी। इसी उत्सवके समय जालन्धरके पौराणिक धर्म-सभाका जन्म हुआ। आर्यसमाजने तो दो वर्षोंकी लगातार कोशिशके पीछे अपने पहिले वार्षिकोत्सवका विज्ञापन दिया। किन्तु हमारे पौराणिक भाइयोंने हमारे वार्षिकोत्सवसे १५ वा २० दिन पहिले ही धर्मसभा स्थापित करके उन्हीं तिथियोंपर वार्षिकोत्सव मनानेका विज्ञापन दे दिया। एक ठठोलने उस समय कहा था कि धर्मसभावालोंके वर्ष जहाँ विस्तृतसे विस्तृत होते हैं वहाँ संकुचितसे संकुचित भी हो सकते हैं। १५ वा २० दिनोंका वर्ष तो शायद उत्तरी या दक्षिणी ध्रुवमें भी नहीं होता होगा।

इस पहिले उत्सवका नगर-निवासियोंपर बड़ा प्रभाव पड़ा। पौष १९४३ में जालन्धर आर्यसमाजका जो पहिला वार्षिकोत्सव हुआ वह कई दृष्टियोंसे स्मरणीय है। प्रथम तो स्थानीय आर्यसमाजके सब अधिकारियों और प्रतिष्ठित सभासदोंका स्वयं परमात्माका गुणानुवाद गाते हुए बाज़ारों और गलि-योंमेंसे गुजरना ही एक विशेष प्रभाव उत्पन्न कर रहा था, फिर पंजाबके कुछ श्रीमानोंका बाहरसे सम्मिलित होना, तिसपर भी नौकर चाकर रखनेवालोंका धर्मकी सेवाके लिये हाथसे मज़दूरोंकी तरह काम करना विशेष प्रभाव डाल रहा था।

बाहरसे आये हुए भाइयोंका उतारा मेरे मकान पर किया गया था। मैंने परिवारको तो अपने श्वशुरगृह भेज दिया और स्वयं समाज मन्दिरमें आसन जमाया। उत्सव नगरके दूसरे किनारे पर मनाया जा रहा था और मकान शहरके इस किनारे पर था। नित्य प्रातःकाल सारे नगरमेंसे हरिकीर्तन करते हुए आर्य पुरुष आया करते थे, जिसका बहुत ही उत्तम प्रभाव पड़ता था। इस वर्षके पश्चात् भी ८,९ वर्षों तक नगरके उसी ओर गवर्नमेण्ट हाई स्कूलके मकानमें उतारा किया जाता रहा।

जालन्धर नगरमें इस वार्षिकोत्सवने आर्यसमाजकी जड़ोंको दृढ़ कर दिया। धर्मसभाके बहुत विरोध करने पर भी श्रोतागणकी भीड़भाड़ बहुत

बढ़िया रही। सर्वसाधारण पर इसका भी प्रभाव पड़ा कि जहाँ आर्यसमाजकी वेदी पर किसी प्रकारके भी व्यक्तिगत अनुचित कटाक्ष नहीं हुए, वहाँ धर्मसभाकी वेदीसे गालियोंकी बौछाड़ होती रही। इसी वर्षसे अन्तरंग सभा नियमानुसार होने लगी और पारिवारिक उपासनामें भी नगर-निवासियोंका प्रेम बढ़ने लगा। वह समय जब आँखोंके आगे आ जाता है तो मनकी विचित्र दशा हो जाती है। सप्ताहमें ३-४ दिन अवश्य ऐसे आते थे जब कि आर्यपुरुष ८-९ बजे रातको परमात्माकी स्तुति-प्रार्थनादिके भजन गाते हुए बाजारोंमेंसे निकलते थे। सायंकाल नित्य बहुधा आर्यपुरुष समाज मन्दिरमें इकट्ठे होकर सन्ध्यादि नित्य कर्म करते और साथ ही कुछ ज्ञान चर्चा भी होती। वह ही समय था जब एक दूसरेकी शंकाओंका समाधान होता और क्रियात्मक विचार भी होते थे। जालन्धरमें जो कुछ भी आगे हुआ, उसकी बुनियाद उन्हीं दिनोंके शुद्ध विचारों पर रखी गयी थी। वार्षिकोत्सवके पश्चात् ही मैंने मकान बदल लिया और अहलूवालिया बाज़ारके अन्तमें चौमुहानी पर वह मकान किराये पर लिया जिसमें फिर मिस्टर वैस्टन हेडमास्टर टिके थे, और क्रमशः गवर्नमेंट स्कूल तथा पटवारियोंका स्कूल भी रहा था।

इस मकानमें मैं अनुमान साढ़े तीन वर्षों तक रहा और इसीलिये इसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ दे देना उपयोगी होगा। कोतवालीसे जो सड़क जिला अदालतोंकी ओर जाती है उसके बाईं ओर बस्तीकी सड़क पर यह मकान है। सड़ककी ओर एक छोटी दीवारसे घिरा आंगन है, जिसमें ढाई तीन सौ आदमी बैठ सकें। फिर सरवसर बरामदा और उसके साथ एक लम्बा कमरा बैठकका, उसके साथ एक छोटा कमरा था जिसमेंसे अन्दरको फाटक था। अन्दर उतने ही मकानोंके साथ—छोटा आंगन और उसके दूसरी ओर रसोई तथा स्नानादिके गृह थे। इस मकानके साथ ही तबेला था जिसमें मेरी दो बग्घियाँ और दो घोड़े बँधे रहते थे।

कुछ नये नट, नाट्यशालामें।

मेरे पुराने मुंशी अमीरखांका देहान्त हो चुका था, मैंने उसके पुत्रका पालन करना चाहा और इस लिये उससे काम लेने लगा। किन्तु वह अभी बच्चा था, उससे काम न चला; तब काशीरामको मुन्शी नियत किया। ये महाशय आर्यसमाजी बन चुके थे और काममें होशियार थे। इन दिनों बेकार भी बैठे थे, इस लिये इनको मुंशी बनानेसे एक पंथ दो काज सिद्ध हुए।

इस वर्ष भी कुछ नवीन नटोंका मेरे जीवनकी नाट्यशालामें प्रवेश हुआ। उनमेंसे पहिले राजकुमार मियां जनमेजय उस समय राजासुकेत 'दुष्ट निकन्दनसेन' के सौतेले भाई थे। कांङ्ड़ेके पहाड़में राजपरिवारोंके सब सभासदोंको मियां कहते हैं। यह उपाधि इन लोगोंने मुसलमानी राजके समय धारण की

प्रतीत होती है। जब आजकल मुम्बई मद्रास प्रान्त आदिके बड़े बड़े पंडित भी मिस्टर कहलानेमें अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं तो मुगलोंके दास राजपूत यदि मियाँ बनकर उपजकी लेते थे तो उन्हें कौन अपराधी समझ सकता है? राजा दुष्ट निकन्दन स्वयं बड़ा दुष्ट था। उसने अपने सगे चचा मियाँ शिवसिंहको देश-निकाला देकर उनका भंडार लूट लिया था। सहस्रों रुपयोंका धन इस लूटमें उसके हाथ आया। अपने भाइयोंको उनके गुज़ारेके अधिकारसे वंचित करके राज बाहर कर दिया। मियाँ शिवसिंह अपने छोटे भाई मियाँ ज्वालासिंह और भतीजे जनमेजय और उसके भाई सहित जालन्धर राय शालिग्रामके यहाँ आ रहे थे। मियाँ जनमेजय हम आर्यसमाजियोंकी संगतिसे आर्यसमाजके सभासद बन गये और मेरे साथ उनका पठनपाठनका विशेष सम्बन्ध हो गया।

इसी वर्ष ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दका मेरे साथ सम्बन्ध हुआ। यह महाशय विहार प्रान्तके कायस्थ घरानेमें उत्पन्न हुए थे। २५ वर्षकी आयुमें ही घरसे उपरत होकर निकल आये और कुछ महीनोंमें निश्चल दासकी पोथी हाथमें लिये हुए घूमते घूमते अमृतसरकी दिवाली देखकर जालन्धरकी गुफा पर आ उपस्थित हुए थे। उस गुफ़ामें शंकरपुरी योगी महात्माका निवास था। उनपर सर्व-साधारणकी बड़ी श्रद्धा थी। उनके देहान्तके पश्चात् उनकी समाधि वहीं बनायी गयी और साथ ही कुछ कूप और कुछ मकान रहनेके बन गये। गुफाको भी पक्का बना दिया गया। स्थान तो योगीका था किन्तु जिस समयका हाल मैं लिख रहा हूँ उसमें उस समय भोगी निवास करते थे। यह स्थान कान्चूकटियों-का गढ़ बना हुआ था। 'ऐनपुरी' जो सर्वभक्षी और मद्यप था, इस स्थानका अध्यक्ष बना हुआ था। मुझे पता लगा कि धूर्त दुराचारियोंमें एक सच्चा साधु आकर उतरा है। हम गये तो एक काले २५ वर्षके युवा साधुको भगवा ओवरकोट पहिने गुफ़ामें "विचारसागर" पढ़ते पाया। एक घण्टेकी ही बात चीतने साधुजीको हमारी ओर आकर्षित कर दिया और वे आर्यसमाज मन्दिर-में आकर रहने लगे।

इस स्थानमें ही मैं गुफ़ा वाले कान्चूकटिये साधुओंका विशेष परि-चय अपने पाठकोंको देना चाहता हूँ। ये लोग नास्तिक होते हैं या यों कहिये कि होते थे, क्योंकि इस समय पञ्जाबमें नास्तिक साधु, वेशधारी बहुत कम हैं। ईश्वर, वेद, वेदान्त, द्वैताद्वैत, किसी विचारमें भी इनकी श्रद्धा नहीं देखी जाती थी। कपड़े ये स्वच्छ, श्वेत पहिनते और प्रायः हुक्का पीने वाले होते थे। एक कान्चूकटियेकी दिनचर्याका वर्णन बड़ा ही मनोरञ्जक होगा इसलिये अपने देखे अनुसार लिखे देता हूँ। भाई देवराजके घर मैं टिका हुआ था जब एक दो कान्चू-कटिये रात काटने उनके मकानपर आये। अतिथि समझ कर उनका सत्कार किया गया और भोजन कराया गया। जब भोजनसे निवृत्त हुए तो उन्हें खटि-याकी सूझी। पहिले नवारका पलङ्ग माँगा, वह खाली न होनेपर जो खटियाँ दिखायी गयीं उनपर लेट लेटकर पहिले उन्होंने अपने नापकी खटियाँ चुन लीं;

फिर अपना स्वच्छ बिस्तर बिछाकर बैठ गये। बातचीत पर बोले—"असी तेरा वेदान्त वेद सब चुल्हे विच धक्क दित्ताए कोई अकल दी गल्ल कर।" रातके भोजनके पश्चात् अपने नापकी खटियापर बैठ कर हुक्का पी काचूकटिया सो जायगा। प्रातः उठकर पहिला काम मट्टीके हुक्केको खूब धोकर साफ़ करना, फिर चिलम तय्यार करके हुक्का गुड़गुड़ाना; शौचसे निवृत्त होनेपर पहिले जूता साफ करना। काचूकटिया जूतेसे पहिचाना जा सकता है। सप्ताहमें दो बार जूतेको तेल देना ये अपना धर्म समझते हैं। जूता साफ़ करके फिर कपड़ों-की बारी। यदि साबुन पास नहीं तो बनियेकी दूकानपर गये और हाँकलगायी "ओ! लाला-दे इक टिक्की साबुन दी। तेरा साबुन गया साड्डे कपड़े दी मैल गई" अर्थात् पुण्यकी कोई बात नहीं, एक प्रकारका सौदा है। लालाजीकी क्या मजाल कि साधुजीको मना करे, यहां तो "भेखको नमस्कार" है। गृहस्थोंसे अनोखा किसी प्रकारका भी कपड़ा क्यों न पहिने हो उसका ही श्राद्ध और तर्पण हिन्दू अपना कर्तव्य समझते हैं। शायद इसी लिये कैदियोंको पुलिसके पंजेमें जाते हुए देखकर कई हिन्दू बुढ़ियां उन्हें दूरसे नमस्कार करती हैं। साबुन लगाकर काचूकटिया केवल कौपीन धारण करके सब कपड़ोंको साबुनसे धोकर सूखने डाल देता है और दूसरा दौर हुक्केका शुरू होता है। हुक्केके तीसरे दौर तक कपड़े सूख गये और ग्यारह पर चोट लगी। तब काचूकटियेको स्नानकी सूझती है। पैर हाथ मलने मलानेमें आध घंटा व्यतीत कर साधुजी तय्यार हुए तो सौ विस्वे भोजन लिये कोई श्रद्धालु 'भेख पूजक' तय्यार बैठा नज़र आयगा। यदि कोई न हुआ तो जिस पहिले घरमें हाँक लगायी कि "चल माई तेरी रोटी गई साड्डी भुक्ख गई; लेखा बराबर है" वहां ही पांच प्रकारके भोजन तय्यार मिलेंगे।

भोजनके पश्चात् हुक्का पीकर वृक्ष तले सो जाना, तीसरे पहर फिर उठकर हुक्केके दम और फरागत, और फिर कपड़े डाँटकर सैर। बस, यहां फिर नास्तिकपनकी दलीलोंसे आवारा लड़कोंको फांसनेका समय आता था। यही काचूकटियेके दफ्तर वा समाज वा सत्संग वा कर्तव्यपालनका समय समझ लो। इस समय किसी किसी काचूकटियेके हाथमें काला नाव का सा खप्पर उसकी शानको दोबाला करता; और किसी किसी शिर पर वही शोभा-यमान होकर, उसके अविश्वासकी मुस्किराहटके साथ मिल, पूरा पश्चिमीय प्रसिद्ध कवि मिल्टनके चरित्तनायककी झलक दिखलाता था। रातको फिर भोजन, हुक्का और अपने नापकी चारपाई, और इस दृश्यपर जवनिका गिर जाती है।

स्वाध्यायका अभ्यास

पंडित गुरुदत्तके थोड़ेसे ही सत्संगने मेरी काया पलट दी। मुझे जाल-न्धर आर्यसमाजकी समाप्तिके दूसरे दिनसे स्वाध्यायका अभ्यास हो गया। पंडित गुरुदत्तकी यह साक्षी मेरे लिये बहुत उत्तेजक हुई कि ऋषि दयानन्दके

मुंशीराम वकील, जालंधर संवत् १९४५

ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी।

ग्रन्थोंमें प्रत्येक नयी आवृत्ति पर, नये भाव विदित होते हैं। जालन्धर आर्य-समाजमें भी जीवन पड़ने लगा और उसके सब कार्य नियमपूर्वक होने लगे। संवत् १९४४ के आरम्भमें वर्तमान जालन्धर आर्यसमाज मन्दिरकी भूमि में ही एक कनातके लगभग स्थान मिल गया था। उसीमें दो कच्चे कोठे बनाकर कच्ची ईंटोंका बड़ा आङ्गन घेर लिया गया और इस प्रकार उन पौराणिकोंके विरोधसे छुटकारा मिला जो सदैव किरायेके मकानोंके मालिकोंको हमें निकाल देनेके लिये भड़काया करते थे।

वकालत और सच्चाईका मेल दुस्तर

मेरी मुख्तारीका काम इस वर्षके आरम्भमें खूब चमका। उस समय जालन्धरमें फौजदारीके प्रसिद्ध धड़ल्लेदार वकील बूढ़े बीची साहब थे। उनकी भी आसपास धूम मची हुई थी। सब अभियुक्त उन्हींकी प्रायः सहायता चाहा करते थे। वे रङ्गीले चारवाकके चेले थे, इसलिये फौजदारी करनेवाली जाट आदि जातियोंमें यह प्रसिद्ध था कि जो दुनियाके सब भोगोंमें निःशृंखल नहीं है वह फौजदारीका अच्छा वकील नहीं हो सकता। मैं मद्य मांसादिका विरोधी होनेसे फौजदारीके कामसे बहुधा वंचित रहता था। अकस्मात् मुझपर विश्वास रखनेवाले एक जाट सर्दारने मुझे एक मुकद्दमेमें अभियुक्त की ओरसे भुगताया। मिस्टर बीचीने मुझे उस मुकद्दमेमें पैरवी करते देखा। उनको मेरा काम पसन्द आया और कुछ दिनों पश्चात् अपने बड़े मुकद्दमोंमें सहायताके लिये उन्होंने मुझे अपने साथ रखवाया। बस फिर क्या था, धूम मच गयी और मुख्तारीमें ही मेरी आमदनी बहुत से वकीलोंसे भी बढ़ गयी, क्योंकि मेरे पास दीवानीका भी काम काफ़ी आता था।

किन्तु यह सारी कमाई हुई प्रसिद्धि कुछ महीनोंके पश्चात् ही अप्रतिष्ठामें बदल गयी। इसका कारण यह था—मेरे पास एक मुंशी मुकद्दमा लाया। बही-हिसाबके रू से १०००) का साधारण दावा करना था। मैंने बही देखी तो १०००) की बाकी पर टिकट न था, इस लिये कह दिया कि उस साक्षी पर दावा नहीं चल सकता। दावा चलनेका एक और सीधा ढंग था, वह भी साहूकार महाशयको बतला दिया। उस समय तो साहूकार महाशय चले गये किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उसी बाकीपर अपनी ओर से टिकट लगाकर अर्जी-दावा लिखवा दायर करवा दिया। पहिली पेशीके दिन मेरे मुंशीसे मिलकर मुख्तारनामेपर मेरे हस्ताक्षर करा लिये।

इन हस्ताक्षरोंकी कहानी भी बड़ी मनोरञ्जक है। यदि प्रातः काल ही मुझसे हस्ताक्षर माँगे जाते तो मैं बही को देखना चाहता इसलिये जब मैं कचहरीके लिये बग्घीमें चढ़ने लगा तो मुंशीजीने मुख़्तारनामा पेश किया। मैंने पूछा कि बही आदि देखनी चाहिये। मुंशी साहब बोले—"हज़ूर! मामूली बही-हिसाब पर १०००) का दावा है। ५०) फीस देता है, २५) वसूल हो चुके

हैं। सिर्फ एक पेशीका काम है।" हजूर इस पर क्यों चूं चरा करने लगे थे। जिस मुकद्दमे में २०) की आशा हो उसमें ५०) मिले तो सिवाय इसके और क्या हो सकता था कि मुख़्तार साहब रासों को हिलाकर बड़ी कचहरी की राह लेते।

वड़ी कचहरीसे काम करके मुन्सिफीमें लौटा तो उसी मुकद्दमेके लिये मेरी प्रतीक्षा हो रही थी। मुन्सिफ अछरूराम साहब मेरे वड़े कृपालु थे, जवाबदावा मेरे हाथोंमें देकर कहा कि मैं विवादास्पद विषय नियत कर दूं। मुद्दालेहका जवाबदावा पढ़कर मुझे सन्देह हुआ। मैंने अपने मुवक्किल मुद्दईके मुँहकी ओर देखा और वहीका हिसाब निकाला। वस निश्चय हो गया कि मुद्दई साहबकी सब कारस्तानी है। मैंने मुन्सिफ साहबसे कह दिया कि मुकद्दमेमें जालसाज़ी होनेके कारण मैं उसमें पैरवी नहीं करूँगा और मुंशाको आज्ञा दी कि २५) प्राप्त किये हुये वापिस कर दे। मुन्सिफ साहबने अंग्रेज़ीमें बहुतेरा समझाया कि इससे मेरी प्रसिद्धि उलटे प्रकार की हो जायगी और मेरी आर्थिक दशाको हानि पहुँचेगी किन्तु मैंने एक न मानी और अपना बयान देकर घर लौट आया।

मेरी इस (सर्व साधारणकी दृष्टिमें) निर्बुद्धिताका असर दूसरे दिन ही प्रत्यक्ष दिखायी देने लगा। जो मुकद्दमे वाला मेरे पास आने को तय्यार होता, अन्य वकीलों, मुख्तारोंके मुंशी उसे यह कह कर विचलाते "अवे! अपने मुवक्किलोंका गला घुटवाने वाले मुख़्तारके पास जाकर क्या करेगा? चल ऐसा वकील कर जो अपने मुवक्किलके लिये सब फ़न फ़रेब खेलनेको तय्यार हो।" मुझे धोखा देने वाला मुंशी दूसरेही दिन चलता कर दिया गया, मेरे पास केवल काशीराम आर्यसमाजी ही रह गये थे। दूसरे मुंशीकी आवश्यकता न रही क्योंकि काम ही कम हो गया। उधर काशीरामजी भी मेरी नौकरी छोड़नेको तय्यार हो गये। वेतन मैं उन्हें १०) मासिक देता था किन्तु प्रति मुकद्दमा एक वा दो रुपये ऊपरसे लेने पर उनकी आमदनी ३५) वा ४०) तक पहुँच जाती थी। अब भूखों मरने लगे तो आर्यत्वका पक्ष कहाँ तक करते। मैंने मासिक १५) करके उनका कुछ सन्तोष किया किन्तु मेरी आमदनी ५००) से उत्तर कर १५०) के लगभग ही रह गयी।

किन्तु "सब दिन जात न एक समान"—दो मासमें ही मेरी करतूतको सब भूल गये और नये मैदानमें नई खेती वोते हुए मेरी आमदनी फिर बढ़ने लगी।

वकालतकी परीक्षामें रिश्वत

मार्गशीर्ष, संवत् १९४३ के उत्तरार्द्ध (दिसम्बर सन् १८८६ ई० के आरम्भ) में मैंने वकालतकी परीक्षा दी थी और परिणाम महीनों तक रुका रहा। इसका कारण यह था कि पञ्जाब यूनिवर्सिटीके रजिस्ट्रार मिस्टर लार्पेण्टने इस वर्ष दोनों हाथोंसे लूटना शुरू कर दिया था। गतवर्ष तो अभी साहब बहादुर नवशिक्षित थे इसलिए कोई इक्का दुक्का ही उनके काबू

चढ़ा था, इस वर्ष वे किसीको सूखा छोड़ना नहीं चाहते थे। वकालतमें पास होनेके लिये १५००) प्रति याचककी खुली शरा थी। साहब बहादुरने दलाल वा एजेंट भी रख छोड़ा था जिसका नाम गण्डासिंह था। २००) भाई गण्डासिंहकी भेंट होते ही १३००) अंग्रेज देवताकी पूजामें स्वीकार हो जाता और वकालतरूपी स्वर्गप्राप्तिकी अदृश्य हुण्डी उसी दम मिल जाती। मुख्तारीके प्रार्थियोंसे शायद १०००), बी०ए० तथा एम० ए० से कुछ कम लिया जाता था, कोई कोई एफ० ए० भी लार्पैण्टगर्दीके चक्कर पर चढ़नेसे न बच सके। कोई कोई तो अक्लके ऐसे पुतले निकले कि पास होने तक ही शान्त न हुए प्रत्युत पहिले दूसरे होनेका ठान ली। वकालतमें पहिले होने वालेने ३५००) दिये और दूसरेने २५००)। यह चढ़ावा केवल उन्हींको नहीं चढ़ाना पड़ा जो सचमुच अनुत्तीर्ण थे बल्कि जो पास थे उनके भी घर पहुँच पहुँच कर साहबके दूतने उनकी जेबें खाली कीं। यह रोग यहाँ तक बढ़ा कि मेरे कुछ मित्रोंने मुझे पत्र लिखकर लाहौर बुलाया क्योंकि गण्डासिंह मुझे ढूँढ़ता फिरता था, और कहता फिरता था कि यद्यपि मैं पास हूँ तो भी बिना १०००) दिये मुझे भी प्रमाणपत्रसे वंचित रहना पड़ेगा। मैं यह दृढ़ संकल्प करके लाहौर पहुँचा कि इस अनाचारका भण्डा-फोड़ कर रहूँगा, किन्तु मेरे पहुँचनेसे पहिले ही हिसारके प्रसिद्ध वकील लाला चूड़ामणिने गण्डासिंहकी खूब खबर लेकर सर विलियम रैट्टिगन (उस समयके वाइस चान्सलर) के यहाँ दुहाई जा मचायी। वाइस चान्सलरने उसी समय सायंकालको परिणामकी सारी फाइल सँभाल ली। लाला चूड़ामणि भाग्यशील थे; कि पहल उनकी ओरसे हुई। विश्वविद्यालय सभाने अकेले लाला चूड़ामणिको पास करके बाकी सबको फेल कर दिया, और मैं भी बलवेकी भीड़में निरपराध बालकका तरह गोलीका शिकार हो गया।

लार्पैण्ट साहब पर फिर अभियोग चला। आन्दोलन-समितिके सामने विचित्र साक्षियाँ भुगतीं। जो जो महाशय "नतीजा जब्त" होनेकी खबर सुनते ही लार्पैण्टकी कोठीपर पहुंचकर उसे धमकाने लगे उनका तो तेरह तेरह सौ रुपया, जुदी जुदी पोटलीमें बंधा बंधाया, मिल गया, किन्तु जब दिन चढ़नेपर झण्डे तलेके गण्डासिंहने पहुँच कर घबराये हुए साहब बहादुरको तसल्ली दी तो साहबने अपनी दुष्टतासे कमाये धनका बड़ा भाग मुकद्दमा लड़ने और जीवन-का शेष भाग सुखसे व्यतीत करनेके विचारसे बचा लिया। लार्पैण्टको तो अपने कियेका कुछ दण्ड मिला ही, किन्तु मुझ समेत बहुतसे निरपराधियोंको भी उसके कामोंका फल भुगतना पड़ा। इसमें भी परमात्माको मेरी कुछ भलाई ही मञ्जूर थी, क्योंकि इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण होते ही मेरी रुचि कानूनसे हटकर धर्मान्दोलनकी ओर अधिक झुक गयी। एक ओर तो अपने पेशेमें सचाईसे काम लेनेका परिणाम यह हुआ कि ५००) से १५०) की आमदनी रह गयी और दूसरी ओर इतने परिश्रमका फल यह वज्रपात। ऐसे निराशाजनक समयमें

जालन्धर धर्मसभामें पंडित दीनदयालुजीका पौराणिक मतपोषकके रूपमें आना और व्याख्यान देना मेरे लिये नयी आशाओंका केन्द्र सिद्ध हुआ। जब पंडित दीनदयालुजीने जालन्धर धर्मसभाकी ओरसे नौहरियोंके ठाकुरद्वारेके आङ्गन में आर्यसमाजके मन्तव्योंका खण्डन आरम्भ किया उस समय मैं अपने जन्म-स्थान तलवनमें था। संवत् १९४४ का शायद ज्येष्ठ मास था। मेरे पास आदमी पत्र लेकर गया जिसमें लिखा था कि आर्यसभासदोंको नगरमें मुंह दिखाना कठिन हो रहा है। पंडित दीनदयालुजीकी दूसरे पक्षको उलटे रूपमें दिखाने और उपहासमें उड़ानेकी शक्ति उस समय पूरे यौवन पर थी। मैं पत्र देखते ही चल दिया और १२ बजे अपने मकान पर पहुंच कर मैंने मुंशी काशीरामसे सारा वृत्तान्त सुना। उन्हीं दिनों लाला तेलूमल राहौं निवासीके गुणों का मुझे पता लगा। इन्होंने पंडित दीनदयालुजीके व्याख्यानोंके शब्द तक नोट कर रखे थे। शहरी सभासदोंने समाजके बाहर धनाढ्योंकी बड़ी शिकायत की जिन्होंने ऐसे समयमें सहायता न दी। सारे शहरमें प्रसिद्ध था कि आर्योंको चुल्लू भर पानी डूब मरनेको नहीं मिलता; बेचारोंके पास कोई उत्तर नहीं।

मैंने भोजन पीछे किया, सबसे पहिले पंडित दीनदयालुजीके नाम शास्त्रार्थका चैलेञ्ज लिखकर मुन्शी काशीरामके द्वारा भेज दिया और साथ ही अपने पत्रका नकल उक्त पंडितजीके हस्ताक्षरोंके लिये भेज दी। पंडितजीने टालनेका बहुत प्रयत्न किया किन्तु काशीराम भी एक मार्केका आदमी था। उसने पंडितजीके हस्ताक्षर लेकर ही उन्हें छोड़ा। इतनेपर ही सारे शहरमें चर्चा फैल गयी। अभी हुआ कुछ नहीं और सर्वसाधारणको आर्योंमें जान दिखने लगी। फिर चार घण्टोंके अन्दर ही दूसरे दिनके मेरे व्याख्यानके सैकड़ों विज्ञापन हस्तलिखित लग गये और ५½ बजे अपने बहुतसे आर्य भाइयोंको, जो कई दिनोंसे मुँह छिपाये फिरते थे, साथ लेकर मैं व्याख्यान-मण्डपमें जा पहुँचा। मेरे पहुँचते ही धर्म-सभाके प्रधान श्री लाला हरभजरायजी बहुत, सभ्यों सहित उठ खड़े हुए। व्याख्याता महाशयने समझा कि कोई प्रतिष्ठित सनातनधर्मी आये हैं। सबके बैठ जानेपर उन्होंने फिरसे एक पत्रकी व्याख्या आरम्भ की, जो उनके हाथमें था। जिस पत्रकी व्यवस्था वर्तमान व्याख्यान-वाचस्पति श्री पंडित दीनदयालुजी कर रहे थे वह मेरा ही भेजा हुआ था। पंडितजीने पत्र-लेखक पर एक हँसीकी बौछाड़ करके कुछ भाग छोड़कर पढ़ना चाहा जिससे लेखकी शृङ्खला टूटती और पंडितजीके पूर्व कथनका खण्डन होता था। मैंने निवेदन किया कि बीचमें कुछ और भी है, वह भाग भी पढ़ दिया जाय। मेरा इतना कहना था कि खलबली मच गयी। लाला हरभजजी (प्रधान धर्मसभा) ने उठकर पंडितजीके कानमें कुछ कहा। पंडितजी कुछ संभले—और बलिहारी है उनकी योग्यता की—कि मेरी एक घंटेकी उपस्थितिमें उनको सिवाय वैराग्यके और कोई विषय ही न सूझा।

पंडितजीके व्याख्यानकी समाप्तिपर एक आर्य सभासदने ऊँचे स्वरसे कह दिया कि दूसरे दिनसे पंडित दीनदयालुजीके व्याख्यानोंका उत्तर आर्य-समाज मन्दिरमें दिया जायगा। जिस प्रकार हमारे प्रधान यहाँ आये हैं उसी प्रकार उन्हें भी पधारकर सुनना चाहिये। जोशीले सनातनियोंने शोर मचा दिया "हमारी सभामें क्यों बोलते हो, अपने यहाँ बोलो—इत्यादि" इस पर उत्तर मिला—"हमने सूचना दी है, सुननेका हौसला न हो तो मत आना"। सर्वसाधारण खिलखिलाकर हँस पड़े और सभा विसर्जन हुई। सारे नगरमें ढोल पिट गया—"यह आर्य बड़े ज़बर्दस्त हैं, दूसरेके घर पहुँच कर खबर ले डालते हैं।"

भला कोई पूछे कि पहिले क्या हुआ था और अब क्या हो गया। किन्तु दुनिया भेड़ियाधसान है, जिधर एक भेड़ चल पड़े उसीके पीछे शेष भेड़ेंभी चल पड़ती हैं। और सचाई को कोई पूछता नहीं जबतक उसके फैलानेका प्रयत्न न किया जावे।

दूसरे दिन आर्यसमाज-मन्दिरमें सहस्रोंकी उपस्थिति थी। कुछ नगर-के सभ्य पंडित दीनदयालुजीको लाने गये किन्तु डेरेपर जाकर उन्हें पता लगा कि पंडितजी छावनी चले गये हैं। मैंने उस दिनका व्याख्यान समाप्त करके कह दिया कि यदि पंडितजी दूसरे दिन आये तो उनके साथ धार्मिक विषयों-पर विचार होगा, नहीं तो एक अनोखा व्याख्यान होगा। पंडितजीकी ओर-से तो कोरा जवाब आया परन्तु आर्यसमाजकी ओरसे विज्ञापन लग गये जिनमें व्याख्यानका विषय रखा गया—"चाऊ चाऊका मुरब्बा"। इस विचित्र शीर्षकको देखकर सर्वसाधारण ऐसे उत्सुक हुए कि समाज-मन्दिरकी छत और दीवारें तक मनुष्योंसे भर गयीं। पंडितजीके व्याख्यान क्रमबद्ध किसी विशेष विषय पर नहीं हुए थे, इसलिये उनका नाम यही रखकर उनके उत्तर दिये गये।

उस समय पंडित दीनदयालुजी विना कोई भेंट लिये और बिना व्याख्यान दिये ही विदा हो गये। आर्यसमाज भी कुछ घाटेमें न रहा क्योंकि उसे इस समय ३० के लगभग नये सभासद मिले। किन्तु सबसे बढ़कर लाभ मुझे हुआ। चाऊ चाऊके मुरब्बेका मज़ा सर्वसाधारणको चखानेके दूसरे दिन ही, एक सर्दार मुझे एक बड़े मुकद्दमेमें १०००) फीसपर नियत करके ५००) नकद दे गये। मुझे आश्चर्य हुआ कि दूसरी ओर जालन्धरके सबसे बड़े दो वकीलों-के होते हुए इस भोले सर्दारने मुझ मुख्तारकी क्यों शरण ली किन्तु यह आश्चर्य मेरे मुन्शीके ठीक कहानी सुनानेपर दूसरे आश्चर्यमें परिवर्तित हो गया। सर्दार साहब वकीलको देखभाल कर करना चाहते थे। कचहरीमें जाकर सब वकीलोंकी वक्तृताएँ सुनीं। अभी कुछ निश्चय नहीं किया था कि आर्यसमाज-मन्दिरमें मेरा व्याख्यान सुनने पहुँच गये। मेरी वक्तृतापर वह लट्टू हो गये और दूसरे दिन ही मुझे जा सम्भाला। कानून और मत-सम्बन्धी

विचारका कुछ सम्बन्ध न था और सर्वसाधारणको रिझाने वाले न्यायालयोंमें सदा कृतकार्य भी नहीं हुआ करते किन्तु सर्दार साहब बालकी खाल उतारने वाले दार्शनिक न थे। संसारके इतिहासकी तहमें भी विचित्र घटनाएं काम करती हैं, यदि सारे इतिहासकी तहको देखने वाला कोई त्रिकालज्ञ मिल जावे तो शायद वर्तमान समयके सारे ऐतिहासिक भण्डारको जलाकर, संसारके सब छापेखानोंको दिनरात चला एक नया ऐतिहासिक पुस्तकालय ही स्थापन करना पड़े।

आमदनी बढ़नेका पुनः आरम्भ होते ही पंडित गुरुदत्तके सत्संगका प्रभाव फिर दूर होने लगा। हां, सामाजिक संशोधनकी ओर ध्यान अधिक खिचा। मेरी धर्म-पत्नी कुछ थोड़ा लिख पढ़ सकती थीं, उनको पढ़ाने तथा पर्दे आदिकी कुरीतियोंसे निकालनेका प्रयत्न मैंने आरम्भ कर दिया। इस समय मेरी बड़ी पुत्री वेदकुमारी की आयु ७ वर्षकी और उससे छोटी अमृत-कलाकी (जिसका नाम उस समय हेमन्तकुमारी था) अनुमान ४ वर्ष की थी।

बम्बई की पहिली यात्रा

विक्रमीय संवत् १९४४ की ग्रीष्मऋतुमें मेरी धर्मपत्नीने अपने धर्म-ग्रन्थोंके पाठके अतिरिक्त मेरे अन्य विचारोंमें भी भाग लेना आरम्भ कर दिया था और अपनी बड़ी पुत्रीको स्वयं शिक्षा देना शुरू कर दिया था। झूठे पर्देके बन्धन भी उन्होंने तोड़ दिये थे और बच्चों सहित मेरे साथ भ्रमणके लिये भी जाया करती थीं। यह समय था जब मेरी धर्मपत्नीके भ्राता भक्तरामकी इङ्गलैंडयात्रा-की तय्यारी होने लगी। रायज़ादा भक्तराम वैरिस्टर आज बड़े आदमी हैं और उनकी योग्यताका सिक्का पञ्जाबके सारे न्यायालयोंपर बैठा हुआ है। किन्तु मुझे यह कहनेका अभिमान है कि वे मेरे शिष्य रह चुके हैं। मास्टर "मटरूमल" के बीसों शागिर्द डिप्टी, वकील, और जज बन जाते हैं और मास्टरजी एक इञ्च ऊपर नहीं उठते, फिर भी वे सबके उस्ताद ही कहाते हैं। भक्तराम जी से तो मेरा सम्बन्ध होनेके अतिरिक्त प्रेम भी असीम था, मैं यह कह सकता हूँ कि उस समय इनसे बढ़कर मेरा प्यारा मित्र शायद ही कोई और हो। आजकल-के आर्यसमाजियोंको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि रायज़ादा भक्तराम उस समय जालन्धर आर्यसमाजके अग्रणी चालकोंमें से एक थे और उनकी श्रद्धा वैदिक धर्मपर ऐसी दृढ़ थी कि जब विदेशको विदा करते हुए, जालन्धर आर्य-समाजके एक अधिवेशनमें उन्हें पञ्च-महायज्ञ विधि आदि पुस्तकें भेंट देकर प्रधानने अन्तिम शब्द कहे तो भक्तरामजीका उत्तर उपस्थित सज्जनोंकी आंखों-में प्रेमके आंसू भर लाया।

भक्तराम जीको बम्बईसे जहाज़पर चढ़ाने उनके बड़े भाई बालकरामजी और मैं गया था। उन्हीं दिनों कपूर्थलाके स्वर्गवासी दीवान मथुरादास जीके

पुत्र दौलतरामजी जाने वाले थे। इनके अतिरिक्त मुकुन्दलाल और जगमोहन लालजी हमारे मित्रोंके ही पुत्र थे जो दिल्लीसे मिल गये। वह समय कभी भूलता नहीं जब शायद भाद्रपदके मध्य (अगस्तके अन्त) में बादलोंसे घिरे आकाशकी भीषण शोभा देखते हुये हम सब जालन्धरशहर-रेलवे स्टेशनसे चले। दीवान रामजसजी तथा राय शालिग्राम सैकड़ों रईसों सहित छोड़ने आये थे। दीवान रामजस जीकी सरलता और अपनी धृष्टताका मुझे अबतक स्मरण है। अपने पौत्र दौलतरामके लिये सदाचारको स्थिर रखनेका उपदेश देते हुये श्री दीवान जीने कहा—"हाथ पैर धोनेको मिट्टी अवश्य जहाज़में रख लेना।"—मैंने कहा कि दो गदहे मिट्टीके जहाजमें डलवा दूंगा। अस्तु।

प्रातः दिल्ली पहुँचे और वहाँ नाना प्रकारकी मिठाइयों तथा फलादि सहित हम पाँचोने दो कमरे सेकेण्ड क्लासके रोक लिये और आनन्दपूर्वक बातचीत करते और ताश शतरञ्ज खेलते तीसरे दिन बम्बई पहुँचे। बम्बईमें बहुत से नये दृश्यों, बहुत से नये मिलापों और बहुत सी नई घटनाओंमेंसे गुजरना पड़ा जिन्होंने मुझे विशेष शिक्षा दी। हम सब दीवान मथुरादासजी के पास रिटायर्ड जज महाशय कर्सट जी (खुरशैदजी) मानिक जीके यहां उतरे। ये महाशय आठ बार सारे भूमण्डलकी यात्रा कर चुके थे और बड़े देशभक्त तथा जाति-सेवक थे। ७५ वर्षकी आयुमें आंखोंकी ज्योति कुछ कम हो जाने पर भी कभी उदास नहीं होते थे। मैंने उनका मुख सदा हँसता और माथा खुला देखा। प्रातःकाल "आशा" और सायंकाल "कल्याण" अलापते इस बूढ़ेको सुनकर मुझपर जादूका असर होता और फिर आत्मत्याग कितना! अपने जन्म भरकी कमाईकी सारी बचतसे एक कोठी बनायी थी, उसे एक लाख में बेंच कर रुपया तो "पारसी कन्या विद्यालय" के अर्पण कर दिया और स्वयं उसी मकान के नये मालिक के किरायेदार बनकर रहने लगे। इन्हीं जज मानिक जीकी पुत्री मिस मानिक जी उक्त पुत्री पाठशालाकी सेवाके लिये मृत्युपर्यन्त ब्रह्म-चारिणी रहीं। उस समय मिस मानिक जीकी आयु ५० के लगभग थी। जज मानिकने मुझे अपनी प्राचीन राग-विद्यासे पुनः प्रेम कराया।

इसी बार पहिले पहिल मैंने महाशय छबीलदास लल्लूभाईके दर्शन किये जो ऋषि दयानन्द जीके अनन्य भक्त थे और जिन्होंने ऋषिकी आज्ञाको शिरोधार्य करके अपनी ही भतीजीका विवाह निर्धन श्यामजी कृष्णवर्माके साथ कर दिया था। उस देवीके भी मैंने उन्हींके रमणीय भवनमें दर्शन किये थे जो समुद्रके किनारे पर मनोहर छवि दिखा रहा था। बम्बई समाजके पुराने मन्त्री और ऋषि दयानन्दके विश्वासपात्र भक्त महाशय सेवकलाल कृष्णदाससे भी वहीं भेंट हुई थी। आर्यसमाज मन्दिरका उन दिनों केवल चबूतरा ही बना हुआ था जिसपर मैंने व्याख्यान भी दिया था। बम्बईमें घूँघटके अभावके कारण स्त्री पुरुषोंका शुद्ध व्यवहार और पारसियोंकी साड़ीका उत्तम पहरावा देखकर मैं और बालकरामजी घरकी स्त्रियोंके लिये साड़ियाँ ख़रीद लाये थे और उनका रिवाज़ भी चलाया था।

अग्निबोटमें बैठ हम सभी अपने भाई भक्तरामको जहाजमें छोड़ने गये। भक्तरामकी आंखें दुखती थीं, तिसपर विछोड़ेका रोना। बालकरामजी भी भर आये। किनारे पर आकर खड़े हुए, तो जहाज लंगर उठाकर चल दिया। जबतक भक्तरामका रूमाल हिलता रहा तबतक टिकटिकी लगाये खड़े रहे, जब जहाज आँखोंसे ओझल हुआ उसी समय हम दोनों भी उदासीन डेरेको लौट आये।

एक बात लिखनी मैं भूल गया। कुछ पारसी महाशयोंने हमारे विलायत जाने वाले मित्रोंको सहभोज दिया था। उस समयकी एक घटना मुझे स्मरण है। भोजनके पश्चात् हमारे यजमानके युवक पुत्रने "बैंजो (Banjo) बजाना आरम्भ किया और उनकी धर्मपत्नी एक अंग्रेजी गीत गाने लगी। मैंने प्रार्थना की कि कोई स्वदेशी गीत गाया जाय। इस पर गुजराती कहरवा छिड़ गया। मैंने फिर कहा कि मेरा मतलब पारसी गीतसे था क्योंकि पारसियोंकी भाषा पारसी ही होनी चाहिये। इसपर हमारे यजमानने हँसकर उत्तर दिया— "हम सताये हुओंको जिस भूमिने अपनाया हमारा वही देश है। हम हिन्दू हैं और इस स्थानका मातृ-भाषा गुजराती है।" इस पुरानी कहानीसे सिद्ध होता है कि दादा भाई नौरोजी और अन्य पारसी महानुभावोंके अन्दर देशभक्तिका अंकुर कुछ नया नहीं था, इसकी बुनियाद शायद भारतवर्षमें पारसियों के आनेकी तिथिसे ही पड़ चुकी थी।

ऊपर वर्णित सहभोजमें बहुतसे पारसी बच्चे हमारे परिचित हो गये थे। अपने भाईको छोड़कर लौटनेपर बालकरामके आँसू बन्द नहीं होते थे। अपने कमरेमें पहुँचकर वह फूट फूट कर रोने लगे और मैंने गलेमें हाथ डालकर उन्हें धैर्य देना आरम्भ किया। यह दृश्य था जब कुछ पारसी बच्चे फाँदते हुए मेरी ओर आये। उनके लिये विलायत जाने वालेके वियोगमें रोना एक हास्य-जनक दृश्य था। सब बच्चे खिलखिलाकर हँसने लगे। बालकरामजीने झेंप-कर आँसू पोंछे और मुस्कराने लगे। बच्चोंने बड़ी मौज की। जो बड़ा आवे उसे कहें—"देखो! स्त्रियोंकी तरह रोते हैं।" बालकरामजीको शायद देर तक होश न आता यदि बच्चोंका हँसीका "छूमन्तर" शोकके जादूगरको चकनाचूर न कर देता।

भक्तरामको विदेश विदा करनेके पश्चात् हम तीन दिन बम्बई और ठहरे। इन तीन दिनोंके लिये बूढ़े जज मानिकजीने अपनी फिटन गाड़ी हमारे हवाले कर दी और प्रत्येक देखनेके योग्य स्थानके लिये पास मँगा दिये। उन दिनों एक जंगी स्टीमर (धुआँकश जहाज) भी बम्बईके बन्दरगाहपर आया हुआ था। उसपर बूढ़े नौरोजी हमें स्वयं ले गये। जहाजका कप्तान उनका मित्र था। हमारे बम्बई छोड़नेसे पहिले दिन आर्यसमाज मन्दिरमें मेरा व्याख्यान हुआ। शायद मैंने ईश्वरोपासना विषयमें कुछ कहा था, क्योंकि मुझे स्मरण है कि बम्बई आर्यसमाजके एक पुरजोश सभासदने बाहर आकर कहा— "क्या! आप जानते हैं कि बम्बईवालोंका ईश्वर कौन है? मूर्तिवाली जो

चाँदी है, यही इनका इष्टदेव है।" जब वे महाशय चले गये तो लोगोंने मुझे बतलाया कि उक्त महाशय मूर्तिपूजाका खण्डन तो बड़ी प्रबल युक्तियोंसे करते हैं परन्तु घर ठाकुरजी का सिंहासन रखा हुआ है।

एक बात मुझे बम्बईके सम्बन्धमें और याद है। जब मैं घर लौटनेके लिये रेलवे स्टेशनपर पहुँचा तो वहाँ एक पारसी महाशय पहिलेसे मौजूद थे। उन्होंने बड़े प्रेमसे मुझे हार पहिनाया और कुछ केले भेंट किये। मैं कुछ विस्मित सा हुआ तो उन्होंने कहा—"महाशय! आप विस्मित क्यों होते हैं? मैं स्वामी दयानन्दका मतानुयायी तो नहीं हूँ पर उनकी गोकरुणानिधिका भक्त हूँ। आर्यसमाज स्वामीजीके जिस उपदेशको भूला हुआ है, उसका मैं अनुकरण कर रहा हूँ।" यह कहकर उन्होंने गोरक्षा विषयके अपने ट्रैक्ट और अपीलें दीं और बतलाया कि वे गवर्नमेण्टसे गोहत्या हटानेके लिये निवेदन करना चाहते हैं। मेरे पास अब वह विज्ञापन नहीं है इसलिये कह नहीं सकता कि वह महाशय इस समय के प्रसिद्ध गोभक्त श्रीमान् जस्सावाला ही थे या कोई अन्य सज्जन।

जालन्धर लौटकर मैंने पहिलेकी अपेक्षा अधिक नियमानुकूल काम करना आरम्भ किया।

एक उदार डिप्टी कमिश्नर

वकालतकी परीक्षा अभी सिरपर कालकी तरह खड़ी थी। प्रातःकाल खूब भ्रमण करके लौटता और फिर कानूनकी पुस्तकोंके पीछे लग जाता। मैं प्रायः छावनीकी सड़कपर घूमने जाता था, जहाँ एक दिन मुझे सामयिक डिप्टी कमिश्नर कर्नल हार्कोर्ट साहब मिल गये। वे भी भ्रमण करने जाया करते थे। नित्य मेरा और उनका साथ होने लगा। धर्म विषयपर बहुत बातचीत होने लगी क्योंकि कर्नलसाहब स्वतन्त्र विचारवाले आस्तिक थे। एक दिन बातचीत में उन्हें मालूम हुआ कि मैं आर्यसमाजी हूँ। यह सुनते ही कर्नल हार्कोर्ट खड़े हो गये और बोले—"आप और आर्यसमाजी! आप तो बड़े धार्मिक आदमी हैं। आप आर्यसमाजी नहीं हो सकते।" मैंने उत्तर दिया कि मैं केवल आर्यसमाजी ही नहीं प्रत्युत स्थानीय आर्यसमाजका प्रधान भी हूँ। तब साहब बोले—"परन्तु लाहौर आर्यसमाज तो एक पोलिटिकल संस्था है, जालन्धर आर्यसमाज चाहे न हो।"—तब मैंने कर्नलसाहबको आर्यसमाजके मन्तव्य तथा उद्देश्य समझाये और बतलाया कि हम लोग आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष बनाना चाहते हैं। इसका परिणाम यह हो सकता है कि श्रेष्ठोंपर उनसे गिरे हुये पुरुष राज न कर सकें। इसपर साहब बड़े उदार भाव से बोले—"फिर हमारे यहाँ ठहरनेका कोई उचित हेतु न रहेगा।"* उन्होंने कहा कि यदि

* Then there will be no justification for us to stay here.

भारतनिवासी हमसे अधिक श्रेष्ठ मनुष्य बन जावें तो फिर हमें स्वयं बोरिया-धना उठाकर चल देना पड़ेगा।

उपर्युक्त घटनोसे पता लगता है कि उस समय भी हमारे गोरे हाकिम आर्यसमाजको सन्देहकी दृष्टिसे देखते थे।

यह सन्देह कैसे फैला ?

आर्यसमाजके विषयमें पोलिटिकल जमाअत होनेका सारा सन्देह ईसाई मिशनरियोंने ब्रिटिश कर्मचारियोंके दिलोंमें डाला था। इस विषयमें लाहौरके पुराने अंग्रेजीके मासिक पत्र 'आर्य' (The Arya) में भी ईसाई पादरियोंके ऐसे अनुचित लेखोंका वर्णन है। इस समय जो कुछेक ईसाई पादरियोंका उदार वर्ताव आर्यसमाजके साथ है उसे देखकर भी जो ईर्ष्या की अग्नि साधारण पादरियोंके दिलों में धधक उठती है उससे मेरे इस विचारको पुष्टि मिलती है कि ग़रीब हिन्दुओंको वाग्युद्धमें सदा पछाड़नेके अभ्यासी पादरियोंको जब आर्यसमाजमें पले बालकों तकसे पटकनीपर पटकनी मिलने लगी तब वे ओछी करतूतोंपर उतर आये और उन्होंने सरकारी अधिकारियों को यह विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि आर्यसमाजसे क्रिश्चियन मतको तो कम भय है; अधिक भय गवर्नमेंट को है।

ईसाई पादरियोंके डाले हुए इस सन्देहको आर्यसमाजके प्रारम्भिक नेताओंके व्यवहारसे भी कुछ पुष्टि मिलती रही। मुझे भली प्रकार स्मरण है, और इसका संक्षिप्त वर्णन मेरी उस समयकी डायरीमें भी है, कि संवत् १६४५ में जालन्धर आर्यसमाजके एक माननीय सभासद (जो लाहौरके लीडरोंके सत्संगमें दो वर्ष तक रह चुके थे) के साथ मेरा इस विषयपर विवाद हुआ था कि लाहौरी लीडर साधारण बातोंके लिये भी गुप्त कमेटियाँ करके, विना प्रयोजन, दूसरोंके सन्देहके शिकार बनते हैं। एक और भी कारण इस सन्देहका उत्पन्न करनेवाला था। भाई जवाहिर सिंह (जो खालसा कालिज कमेटीके महामन्त्री बने थे) उस समय आर्यसमाज लाहौरके मन्त्री थे, उनकी रुचि अधिकतः राजनैतिक बातोंकी ओर थी, जैसा कि उनके शाहपुरा जानेके समय के पत्रव्यवहारसे सिद्ध होता है। (देखो ऋषि दयानन्दका पत्रव्यवहार, पृष्ठ १६, १७ तथा १२०) जब जवाहिरसिंहजी आर्यसमाजसे अलग हुये और कुछ समयके पश्चात् खालसा कालिजके मन्त्री बने तब इन्होंने आर्यसमाजके साथ बहुत विरोध किया और शायद अपनी पहिली करतूतको धोनेके लिये पोलिटिकल होनेका दोष आर्यसमाजके गले मढ़ दिया।

वकालत की अन्तिम परीक्षा

वकालत का परीक्षा संवत् १६४४के मार्गशीर्ष-पौष (दिसम्बर सन् १८८७) में होनी चाहिये थी। मैंने अपने कामके साथ साथ उसकी तय्यारी भी शुरू

कर दी, और जब लाहौर आर्यसमाजका वार्षिकोत्सव समीप आया तो मैं परीक्षाकी तय्यारी करके सब पुस्तकादि सामान साथ ले लाहौर को चल दिया। २६ और २७ नवम्बर उत्सवके लिये नियत तिथियाँ थीं। २७ नवम्बर आदित्यवारको प्रातः १० बजे मेरे बड़े पुत्र हरिश्चन्द्रका जन्म हुआ। उस समय मैं आर्यसमाज-मन्दिर लाहौरमें बैठा हुआ पंडित गुरुदत्तका वह अपूर्व व्याख्यान सुन रहा था जिसने वैदिक धर्मके अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दलोंमें खलबली डाल दी थी। तीन सहस्र से अधिक जनसंख्या, और सन्नाटा ऐसा कि सुई गिरनेका शब्द भी सुनाई दे। छोटासा शरीर किन्तु मुखपर चन्द्रकी कान्ति और सूर्यके तेजकी शोभा, गम्भीर किन्तु सरल ध्वनि निकलती है "इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्"—इत्यादि। बराबर चार मन्त्रोंका ऋग्वेद मण्डल १। सूत्र ३२। मेंसे पाठ होता है। फिर एक एक शब्दका सरल, जन साधारणके समझने योग्य अर्थ होता है (इन्द्र) सूर्य कैसे (वृत्र) बादलको उठाता है, वह कैसे सूर्यको छिपा लेता है और फिर इन्द्रका वृत्रके साथ कैसा युद्ध होता है और फिर इन्द्र अपने वज्रसे कैसे वृत्रको मार गिराता है। यह दृश्य खींच कर ऋषि दयानन्दके जीवनका चित्र श्रोतागणके सामने लाया जाता है। ऋषिकी शक्तियोंका वर्णन करके उसके महान् आत्मत्यागकी घटनाका चित्र जब वक्ता खींचता है तो सैकड़ों आँखोंसे आसुओंका तार बंध जाता है। मुझे सुधि न रही कि मैं पृथ्वीपर हूँ। वक्ताके शब्द कानोंको सुनाई देने बन्द हो जाते हैं, आखें पोंछ कर देखता हूँ तो रुपयोंकी वर्षा हो रही है। दरवाजे पर एक ग्राण्डील अधेड़ जंगी जवान दानकी प्रेरणा कर रहे हैं, हैं तो सिविलके नौकर किन्तु दिखते जङ्गी जवान ही हैं। ये भाई निहालसिंह हैं जो आर्यसमाजके लिये भिक्षा माँगने वालोंमें पुराने अग्रणी थे। तार वाला उन्हें एक तार देता है जिसका लिफाफा लेकर भाई जी मेरी ओर चल पड़ते हैं। तार खोलता हूँ तो यह शुभ समाचार है कि मेरे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है। भाईजी शुभ समाचार सुनते ही झोली आगे कर देते हैं—"कुछ दिलवाइये", जेबमेंसे निकालकर १००) का नोट उनके हवाले करता हूँ और भाईजी वहींसे ऊँचे स्वरमें दानका हाल सुनाकर उसके साथ एक चुटकला जोड़ देते हैं—'ईश्वर करे, हमारे प्रधानोंके घर नित्य पुत्र उत्पन्न हुआ करें, जिससे नित्य दान मिले।"

वार्षिकोत्सवके पीछे अभी दो दिनही ठहरा था कि बहुतसे वकालतके उम्मेदवारोंकी दरखास्त पर परीक्षाकी तिथियाँ दो मास आगे जा रहीं। लोगोंके घर तो घीके दिये जले किन्तु मेरे यहाँ अन्धेरा हो गया। तीसरी बार तो परीक्षाकी तय्यारी की, अब चौथी बार तय्यारी कैसे होगी-यह चिन्ता थी। इसका परिणाम भी यही हुआ कि चौथी बार जब परीक्षाके लिये लाहौर गया तो मैंने सारा समय गप्पोंमें ही व्यतीत किया और किताबोंको हाथ भी न लगाया। जब मैं परीक्षाभवनमें गया तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरा मस्तिष्क कानूनसे सर्वथा शून्य है किन्तु प्रश्नपत्र हाथमें आते ही पुराने संस्कार जाग उठे और ग्रामोफोन-

की भाँति पुराने भरे हुए विचार लेखनी द्वारा बाहर आने लगे। उस समयकी अपनी अवस्थापर आध्यात्मिक विचार करनेसे मुझे अब पता लगता है कि जब तक मनुष्यका आचार दृढ़ न हो जावे तबतक बारबारकी निराशा मनुष्यको बड़ाही निरुत्साह बना देती है। मुझसे कोमलहृदय मनुष्य पर बार बार अकृत-कार्यता और विरोधके वज्रप्रहार होने ही चाहिये थे, नहीं तो यह निर्बल शरीर और मन आगामी भीषण घटनाओंमेंसे बचकर कैसे निकल सकता।

मार्गशीर्षके उत्तरार्द्ध (दिसम्बरके आरम्भ)में ही मैं जालन्धर लौट आया और अब आर्यसमाज जालन्धरका द्वितीय वार्षिकोत्सव मनानेकी चिन्ता उत्पन्न हुई। किरायेके मकानको तिलाञ्जलि देकर हमलोग अपने आर्यमन्दिरके वर्तमान स्थानको कच्ची ईंटोंकी दीवारसे घेरकर एक कच्चा कोठा बना उसमें आगये थे। मकानको सजानेका काम तो हो सकता था और यथाशक्ति धन भी एकत्र कर-लिया था किन्तु वार्पिकोत्सवके लिये योग्य उपदेशकोंकी आवश्यकता थी। लाहौर ही उस समय सब कुछ था और लाहौरसे हमें टकासा जवाब मिला। हमने अपने मित्र कालीबाबूको जोर देकर लिखा। वे तो आगये किन्तु और कोई उपदेशक न मिला। यह दूसरा अवसर था जब दूसरोंपर निर्भर करनेसे निराश हुए और जालन्धर आर्यसमाजमें "आत्मभरोसे" की इसे ही बुनियाद समझना चाहिये।

हमलोगोंने काम बाँट लिये। दोनों बैठकोंमें धर्मोपदेश श्रीदेवराजजी मन्त्रीने दिये। एक व्याख्यान मास्टर भक्तराम बी० ए० उपप्रधानने दिया, दो व्याख्यान मैंने और दो कालीबाबूने— इस प्रकार उत्सव भलीप्रकार मनाया गया। इसी समयसे मैंने जालन्धर आर्यसमाजके भाइयों सहित ग्रामोंमें जाकर वैदिक-धर्मके प्रचारकी प्रथा चलायी जो परमेश्वरकी कृपासे कुछ वर्षों तक बहुतही फलीभूत होती रही।

कालीबाबू वैसे तो आर्यसमाजी बन गये किन्तु आर्यसमाजके सिद्धान्तोंसे थे निरे कोरे। जब माघमें मैं पुनः लाहौर गया तो मैंने श्री लाला साईंदासजीसे शिकायत की कि कालीबाबू पने सिद्धान्त विषयमें कुछ नहीं जानते, इन्हें सत्यार्थप्रकाश पढ़नेके लिये बाधित करना चाहिये। कालीबाबूका उत्तर विचित्र था, वे बोले—"लालाजी मुझे कैसे कह सकते हैं? इन्होंने तो मुझे भाई तारूसिंह और बाबसिंह व घेलसिंहकी कहानियाँ सुनाकर आर्यसमाजी बनाया था। तुम्हारी जो मर्जी आवे कहो।" मैंने जोर दिया कि मेरे कहनेपर ही सत्यार्थ-प्रकाश पढ़ना आरम्भ कर दो तब कालीबाबूने ऐसा ही किया।

४ माघ संवत् १९४४ (१७ जनवरी, सन् १८८८ ई०) को मैं वकालतकी परीक्षा देने लाहौरकी ओर फिर चला; रास्तेमें गुरुदासपुर आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवपर उतरा। मुझे उस समाजकी दशा देखकर बड़ा कष्ट हुआ। मेरी दिन-पत्रिका (डायरी) में लिखा है—"सायंकालको गुरुदासपुर, वहाँके आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवमें सम्मिलित होनेको पहुँचा। इस समाजकी दशा

बहुत शोचनीय है। सब अधिकारी हैं तो धनाढ्य-किन्तु सब शराबी, कबाबी और शिकारी हैं। इसलिये समाजकी सेवा करनेके स्थानमें वे उलटे हानि-कारक हो रहे हैं।"

इन्हीं शराबी कबाबी वकीलोंमेंसे सवा दो वर्षके पश्चात् एकने जो करतूत जालन्धर प्रान्तमें की थी उसे यहाँ ही भुगता देना ठीक है। मैंने बड़े परिश्रमसे फिल्लौरमें आर्यसमाजकी स्थापना की थी। प्रधान और मन्त्रीको मद्य मांसकी फँसावटसे निकालकर वैदिक धर्मके सच्चे भक्त बनाया था। हमारे मन्त्री ज़ङ्गलातके महकमेमें एक बड़े ओहदेदार थे। उनके एक गुरुदासपुरी वकील मित्र (ऊपर लिखे आर्यसमाजी शराबियोंमेंसे एक) होलियोंमें फिल्लौर आ पहुंचे और न केवल हमारे स्थानिक मन्त्रीको गिराकर किरायेके समाज-मन्दिरमें शराब ही ढुलाई प्रत्युत मन्त्री और प्रधानके मना करने और बिगड़कर चले जानेपर भी वेश्याको बुलाकर वहीं मुँह काला किया। तीसरे दिन मैं एक मुक़द्दमेकी पैरवीमें फिल्लौर पहुंचा तो मेरे मित्र सय्यद आबिदहुसैन तहसीलदारने सारा हाल कह सुनाया। वेश्याने फौजदारीमें अर्जी दी थी क्योंकि शराबी वकील उसे बिना कुछ दिये रातकी रेलमें ही भाग गया था। सय्यद साहबने हमारे मन्त्री और प्रधानको बदनामीसे बचानेके लिये अपने पाससे पांच दस रुपये देकर अर्जी फड़वा दी। मैंने सय्यद साहबकी कृपाको धन्यवाद दिया किन्तु उनसे कहा कि ऐसा करनेमें उन्होंने पाप किया है। उनके लिये भी मेरा यह उत्तर नया ही था, क्योंकि वे बड़े चकितसे प्रतीत हुए। किन्तु मैंने क्या किया ? उसी समय सायँकाल व्याख्यान देनेका ढिंढोरा पिटवा दिया और वैदिक धर्मके महत्त्वका सन्देश उपस्थित सज्जनोंको सुनाकर अन्तमें घोषणा कर दी कि आर्य अधिकारियोंके पतित हो जानेसे अब फिल्लौरमें कोई आर्यसमाज नहीं है।

यह शायद पहिला ही अवसर था कि मैंने आर्यसमाजकी सेवाकी बदौ-लत एक शत्रु खड़ा कर लिया। फिल्लौरके प्रधान और मन्त्रीने अन्तको अपने कियेका प्रायश्चित्त किया और मुझे मिलते रहे। किन्तु गुरुदासपुरके वकील-साहब उसी दिनसे मेरे विरोधी हो गये। मेरे विरोधी तो हुए किन्तु आर्यसमा-जका पिण्ड उनसे छूट गया और अपनी पौराणिक जातिके महामान्य लीडर बन गये।

माघके मध्य (जनवरी मासके अन्त) में शनिवारको मैं अमृतसर आर्य-समाजके वार्षिकोत्सवमें सम्मिलित होनेको गया जहाँ मुझे देवराजजी भी मिले। परीक्षा इतनी समीप और मुझे वार्षिकोत्सवमें जानेकी सूझ रही थी। इसका कारण सर्वथा मेरा आर्यसमाजके साथ अनुराग ही न था, विशेष कारण यह था कि पढ़नेमें रुचि न थी और दिनकटी कठिन हो रही थी, इसलिये दिल बहलानेके लिये अमृतसर चला गया।

२७ माघ (६ फरवरी)को मेरी परीक्षा शुरू हुई और २६ माघ (११ फरवरी) को समाप्त हो गयी। प्रश्नपत्रोंके उत्तर मैंने अच्छे लिखे थे और परिणाम भी अच्छा

हो निकला। कुछ दिनोंके पश्चात् जालन्धर समाचार पहुंचा कि मैं परीक्षामें उत्तीर्ण हो गया हूँ।

परीक्षा समाप्त होनेके पश्चात् भी मैं एक सप्ताह लाहौरमें और ठहरा। परीक्षाके बाद मैंने पहिला उपदेश लाहौर आर्यसमाजकी वेदीपरसे दिया, जिसे श्रोताओंने बहुत पसन्द किया था; इसलिये मुझे फिर एक उपदेश देनेके लिये बाधित किया गया। इसके अतिरिक्त इन्हीं दिनों विशेष विज्ञापन देकर मेरा एक अंग्रेजीका व्याख्यान रखा गया जिसका विषय था—मैरेज; इट्स रेलिजस, मोरल ऐण्ड सोशल ऐस्पेक्ट।* इस व्याख्यानके विषयमें मेरी डायरी में लिखा है—"इस व्याख्यानमें मेरी आशाके अनुसार कृत-कार्यता न हुई। जन-संख्या केवल २०० के लगभग थी।" साथही लिखा है—"इसी दिन अग्निहोत्रीके देव-समाजका वार्षिकोत्सव प्रारम्भ हुआ। १६ और १७ फरवरी को मैंने अग्निहोत्रीके दो व्याख्यान सुने।" मैं उन दिनों गुमनाम था, अग्निहोत्रीकी प्रसिद्धि अपने यौवनपर थी; उनके व्याख्यानोंको छोड़ मुझे कौन सुनने आता।

फिर जालन्धर में

६ फाल्गुन (१८ फरवरी)को जालन्धर लौट आया। उन दिनों मुझे पितासे मिली हुई भूमिमें एकान्तनिवासके लिये मकान बनवाने और एतदर्थ उस भूमिका उपजाऊ शक्ति बढ़ाने तथा उसके कुछ भागमें वाटिका लगानेकी धुन लगी हुई थी। इसीके प्रबन्धके लिये एक निर्धन सम्बन्धीको कुछ वेतनपर नियतकर रखा था। फाल्गुनके मध्य (फरवरी मासके अन्त)में मैं उसी कामकी देखभालके लिये अपनी जन्मभूमि तलवनमें चला गया।

फाल्गुन-चैत्र (मार्चके महीने) में मैं साधारणतया अपने काममें लगा रहा। इसी मास में वकीलों और अन्य अंग्रेजी पढ़े लिखे हुओंको इकट्ठा करके मैंने एक वाग्वर्धिनी सभा (डिबेटिंग सोसाइटी) खुलवायी; जिसका मैं ही मन्त्री नियत किया गया। यह सभा कुछ महीनों चलकर ही समाप्त हो गयी। इसी मासमें दिल्लीके रायबहादुर मास्टर प्यारेलाल जालन्धर सर्कलके इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल्स बनकर आये जिनके साथ मेरा बड़ा गहरा सम्बन्ध हो गया। आर्यसमाजके सम्बन्धमें इस महीने एक ही घटना हुई जिसने उसे अनपढ़ों में प्रचारके लिये एक पुरुषार्थी सेवक दिया। लुधियानेका चिरञ्जीवलाल एक बाँका पहलवान था। वह आर्य-समाजी होकर वैतुलबाज़ी किया करता था। एक दिन प्रचारमें राहु, केतु आदिकी पूजाका खण्डन करता था कि एक ब्राह्मणने अपने यजमानसे लाया हुआ दान सामने किया और कहा-"यदि हिम्मत है तो ले।" बहादुर चिरंजी-वने उपरनेमें बँधे चावल नकदी सब ले लिया और चल दिया। ब्राह्मण हक्का-

*Marriage: Its religious, moral and social aspect.

बका रह गया और अपना माल मांगने लगा। चिरंजीव धतकार कर चल दिया। ब्राह्मणने पंडित लक्ष्मीसहाय मैजिस्ट्रेटके यहाँ दावा दायर किया। वे ब्राह्मण थे। चिरञ्जीवलालको कैदका दण्ड मिला। मेरे पास उसी समय आदमी भागा आया। लुधियानेकी अपीलें उन दिनों जालन्धरके सैशनजजके यहाँ होती थीं; मैंने अपील दायर की और चिरञ्जीवलाल बरी होकर मेरे पास पहुंच गया।

धर्मप्रचार की धुन

वैशाख संवत् १९४५ के दूसरे (अप्रैल १८८८ के अन्तिम) सप्ताहमें मैं फिर अपने ग्राम तलवनमें गया। अपने पुत्रके नामकरण संस्कारको केवल अपने दूसरे भाइयोंके आग्रहपर रोके हुए था। उनकी इच्छा थी कि मैं उसका नामकरण अपनी जन्मभूमिके गृहमें करूँ। इसलिये मैं १४ वैशाख (२७ अप्रैल) को तलवन पहुंचा। जालन्धरके दो आर्य भाई भी साथ गये थे और लुधियानेसे चिरञ्जीव लाल पहुँच गया। हमारा कुलाचार यह था कि बालकको चूड़ाकरणसे पहिले (जो तीसरे वर्ष होता है) कपड़े न पहिनाये जायँ। हमारे सबसे बड़े चाचा जीते थे, वह कट्टर सनातनी और क्रोधी थे। मेरे भाइयोंको भय था कि कहीं वे कुछ उपद्रव न खड़ा करें किन्तु मैंने उनको भी बुलवा भेजा। लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ जब कुलाचारके विरुद्ध उन्होंने अपने हाथोंसे बालकको सिले हुए कपड़े पहिनाये और उसका नाम हरिश्चन्द्र रखा। मैंने अपने जीवन में प्रायः देखा है कि यदि निरभिमान होकर सरलतासे बर्ताव किया जाय और बिना दूसरोंको चिढ़ाये अपने मन्तव्यपर दृढ़ता दिखायी जाय तो कट्टरसे कट्टर विरोधीकी दृष्टिमें भी मनुष्य माननीय बन जाता है।

तलवनमें इन दिनों चिरञ्जीवलालकी बैतुलबाज़ीकी धूम रही। जालन्धर लौटते हुए रास्तेमें नकोदर प्रचार हुआ। चिरञ्जीवलालही मेरा सबसे बड़ा विज्ञापन था। वह इस प्रकार कि मुझे उस स्थान में बैठाकर, जहाँ मैं व्याख्यान देना चाहता, चिरञ्जीवलाल बाजारमें चला जाता, जिस दूकानदारके ऊँचा मूढ़ा देखता वहीं खड़े होकर अपनी सिंहगरजसे एक बैत सुनाता, फिर कहता—"यारया, मूढ़ा कुछ चिर लइदे तो होर बैताँ सुनावाँ।" वहाँ इनकार कब था, मूढ़ेपर खड़े होकर बैतों द्वारा लच्छेदार खण्डन होने लगा। जब ५० एक आदमी जमा हो जाते तो चिरञ्जीवलाल मूढ़ा उठाकर २० कदम आगे हो जाता और मूढ़ेपर चढ़कर फिर स्वर अलापता। जब १०० हो जाते तो पचास कदम आगे चलकर पिड़ जमाया। इसी प्रकार जन-संख्या बढ़ाते बढ़ाते चारपाँच सौ मेरे सामने लाकर खड़े कर दिये और अपने श्रोताओंसे कहा:—"हुण विद्वानां दियां गल्लां सुनो, देखो कहीं अमृत वर्षा हुंदी है" लोग सब बैठ गये और मेरा व्याख्यान प्रारम्भ हो गया।

जालन्धर लौटकर मैंने वकालतके काममें जहाँ नियमपूर्वक भाग लेना आरम्भ किया वहाँ जीवन-सुधारकी ओर भी अधिक ध्यान खिंच चला। प्रातः काल शौचादिसे निवृत्त होकर मैं भ्रमण करने जाता था। उसी समय थोड़ा

दौड़ भी लेता था। यह प्रातःकालका व्यायाम था, इसमें एक घण्टा लगता। फिर स्नान करके सन्ध्या अग्निहोत्र, जिसके पश्चात् गो-दुग्ध पीता और पत्रोंके उत्तर देनेमें लग जाता। यह अभ्यास मुझे उसी समयसे है कि तुच्छसे तुच्छ और व्यर्थ से व्यर्थ पत्रको कामकी टोकरीसे तबतक अलग न किया जावे, जबतक उसका उत्तर न भेजा जाय। एक विचित्रता मुझमें और भी थी, जो अबतक है। जबतक मेज़पर पड़ा नित्यका काम समाप्त न हो जाय तबतक मन प्रसन्न नहीं होता। आठ बजे समाचार-पत्र भी पढ़ निवृत्त हो मुकद्दमे वालोंको बुलाया जाता और पौने दस बजे उनका सब काम तय्यार। मुझे १०,१२ मुक़द्दमोंकी तैयारीमें भी इससे अधिक समय कभी नहीं लगा। फिर भोजन करके कचहरी। कचहरी से अपना सारा काम समाप्त होते ही मैं घरको चल देता, अन्य वकीलोंकी तरह शिकारकी प्रतीक्षामें बार-रूममें न बैठा रहता। कभी कभी घर लौटते समय २ वा २॥ ही बजते, तब छः बजे तक शतरञ्ज चलती। हुक्का और शतरञ्ज, ये दो व्यसन अबतक मुझसे नहीं छूटे थे; और हुक्केके शान्तिप्रद धुयेंका आनन्द लेनेके लिये ही मैं शतरञ्ज भी खेलता। जालन्धर द्वाबेके प्रसिद्ध हुक़ड़्योंमें से न होते हुए भी मेरा नम्बर कुछ बहुत नीचे न था। शतरञ्ज एकबार छोड़ भी दी थी किन्तु जब एक दिन लाहौरमें आर्यसमाजके दो प्रसिद्ध नेताओंको घण्टों शतरञ्ज खेलते देखा तो घृणाका भाव दूर हो गया और मैं उसी व्यसनमें फिर फँस गया। सच है—"महाजनो येन गतःस पन्थाः," यदि सब अधेड़ और बूढ़े, जवान नेतातक समझ लें कि कोई न कोई व्यक्ति अवश्य उनका अनुकरण करेगा तब व्यसनोंके फैलनेकी बहुत कम सम्भावना हो जाय। संवत् १६४५ में कई बार मुझे इन दोनों व्यसनोंसे, विशेषतः शतरञ्जसे घृणा हुई। एक दिनकी दिन-पत्रिका (डायरी) में लिखा है—"मुझे शतरञ्जके व्यसनसे मुक्त होना चाहिये, यह मेरा बहुत समय नष्ट करता है।" फिर लिखा है—"हम शतरञ्ज खेलते रहे। समयको नष्ट करनेका बुरा ढंग।" आत्माकी इस जागृतिका परिणाम यह हुआ कि शतरञ्जका खेल चार महीनोंमें ही बन्द होगया और हुक्का भी विदा हुआ। हुक्का तो बीचमें फिर जारी होकर डेढ़ दो वर्ष चला था किन्तु शतरञ्ज सदाके लिये ही चल बसी।

सायंकाल या तो बाग़ोंमें लम्बी सैरको चला जाता और या म्युनिसिपल वाटिकामें टेनिसके लिये ठहरता। भोजनके पश्चात् कुछ भाई मेरे मकानपर आते जिनके साथ नित्य सायंकाल ईश्वर-प्रार्थना होती। इसके पश्चात् कुछ धर्मचर्चा होकर सब लोग विदा होते और मैं दस और कभी कभी ग्यारह बजे तक पढ़ता रहता। इन दिनों 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' के साथ मैंने इङ्गलैण्डके प्रसिद्ध विकासवादी लेखक हर्बर्ट स्पेन्सरके ग्रन्थ पढ़ने आरम्भ किये थे।

राजनैतिक आन्दोलन के साथ सम्बन्ध

ज्येष्ठ १६४५ में पहिले पहिल मेरा सम्बन्ध नैशनल पोलिटिकल कांग्रेसके साथ हुआ। प्रयागके पायोनीयर और लाहौरके ट्रिब्यूनका मैं बहुत पुराना

ग्राहक हूँ इसलिये नैशनल कांग्रेसके विषयमें सब कुछ पढ़ता रहता था, किन्तु इस वर्ष पहिले पहिल पञ्जावमें यह विचार हुआ कि कांग्रेसकमेटियाँ प्रत्येक ज़िलेमें बनायी जावें। हमारे मित्र कालीवाबू जालन्धर और होशियारपुरका ठेका लेकर हमारे पास पहुंचे। उन्होंने इसे भाजीवाला मामला बना लिया था। हमारे गाढ़े समयमें वे आड़े आये थे, अर्थात् जालन्धर आर्यसमाजके द्वितीय वार्षिकोत्सवपर जब सबने आनेसे इन्कार कर दिया था, तो बाहरके ये ही अकेले व्याख्याता थे। इसलिये अब अपने पोलिटिकल मिशनमें हमसे सहायता माँगना उन्होंने अपना अधिकार समझा। ४ ज्येष्ठ, संवत् १६४५ (१८ मई १८८८ ईसवी) को दिनकी बम्बई मेलसे कालीबाबू जालन्धर पहुंचे। मेरी डायरीमें लिखा है—"काली पोलिटिकल उद्देश्य लेकर यहाँ आया है, वह यहाँ कांग्रेस कमेटी स्थापित करना चाहता है। अपने साथ बाँटनेके लिये कुछ पैम्फ्लेट भी लाया है। काली विचित्र आदमी है—इसके कामका ठीक मैदान यही राजनैतिक आन्दोलन प्रतीत होता है। धर्म-सम्बन्धी काम उसके अनुकूल नहीं। बालक-रामजी भी आ गये और हम सब नेशनल कांग्रेस कमेटीके स्थापन करनेके साधनोंपर विचार करते रहे। ..एक बजे रातके एक आदमी आया और कालीको होशियारपुर ले गया।" ५ ज्येष्ठ (१६ मई) को होशियारपुरमें कमेटी बना कालीबाबू ६ ज्येष्ठ (२० मई, आदित्यवार) को जालन्धर लौट आये और आर्यमन्दिरमें उपदेश दिया। उसी दिनसे मैं और बालकरामजी कालीबाबूको उनके मिशनमें कृतकार्य करनेकी चिन्तामें लगे। ७ ज्येष्ठ (२१ मई, सोमवार) को कालीबाबूने फिर समाजमन्दिरमें व्याख्यान दिया। फिर तो उनकी सहायतामें सिरतोड़ प्रयत्न हुआ और एक बड़े आदमीकी नयी कोठीमें १० ज्येष्ठ (२४ मई, महारानी विक्टोरियाके जन्मदिवसपर) को एक बड़ी सभा बैठी। और जगहोंमें तो रईस लोग कांग्रेसका नाम सुनकर कानोंपर हाथ धरते थे, किन्तु लाला बालकरामके प्रेरे हुए जालन्धरके आनरेरी मजिस्ट्रेट, म्युनिसिपल कमिश्नर, जमींदार, सेठ साहूकार सभी कांग्रेस कमेटीकी बुनियाद डालनेके लिये इकट्ठे हो गये। कांग्रेसके उद्देश्योंके साथ सहानुभूतिके प्रस्ताव ख़ान बहादुर फज़ल करीम खाँ साहब वाइस प्रेसिडैण्ट, म्युनिसिपैलिटीने पेश किया जिसका समर्थन सनातनधर्म सभाके प्रधान लाला हरभजरायजी आनरेरी मैजिस्ट्रेटने किया। इसी प्रकार वकीलादिकोंको अलग रखकर बालकरामजीने रईसोंसे ही सारा काम कराया। मैंने दूसरे ही दिन इस अधिवेशनकी रिपोर्ट लिखकर 'ट्रिब्यून' के लिये भेजी जो मुख्य लेखके स्थानमें छपी और सारे पञ्जाब-में जालन्धरके जलसेकी धूम मच गयी। किन्तु जिस मकानमें दिनको हमारा जलसा हुआ था उसके विषयमें मेरी डायरीमें लिखा है—"रातको उस मकानके अन्दर शराबियोंमें खूब जूतम पैज़ार हुई। वाह! कांग्रेसकी मीटिङ्गका कैसा शुभ परिणाम निकला!" इससे पता लगेगा कि उस समय भी राजनीतिको धर्मके प्रभावसे अलग करना मैं अधर्म समझता था।

१७ ज्येष्ठ, संवत् १९४५ (३१ मई सन् १८८८ ई०) के 'ट्रिब्यून' में कांग्रेस सम्बन्धी सम्मेलनका हाल छप गया। वकीलोंके कमरेमें धूम मच गयी। उन दिनों सर सय्यद अहमदका व्यवस्था-पत्र कांग्रेसके विरुद्ध निकल चुका था। जालन्धरमें भी एक अलीगढ़-पार्टी खड़ी हो गयी थी जिसके मुख्य नेता वहांके एक नये मुंड़े हुए वकाल थे। इनके बाप दादाने कभी गो-मांसका स्पर्श भी नहीं किया था, किन्तु अलीगढ़के पक्षपातका पहिला परिणाम यह हुआ कि इन्होंने गो-मांस खाया। किन्तु सृष्टि-नियम भी विचित्र है; गो-मांस खाते ही इनके हृदय-शूल उठा और उनके घर वालोंने भी उस शूलको पापका फल बतलाया—अस्तु। अलीगढ़-पार्टीको कांग्रेस पार्टी वालोंने खूब छेड़ना शुरू किया; परिणाम यह हुआ कि अलीगढ़ियोंने सब मुसलमान सभ्योंको, दोके अतिरिक्त, कांग्रेसके पक्षसे जुदा कर लिया। दो पक्षपातहीन मुसलमान भाई, जिनकी ओर मैंने इशारा किया है, श्री ख्वाजा शाह मुहम्मद साहेब वकील और श्री पीरदादखाँ साहेब मुख्तार थे। ये दोनों सदैव मेरे मित्र रहे और इनके लिये मेरे मनमें बड़ा ही आदरका भाव था।

इस वर्ष (१८८८ ई०) कांग्रेसका वार्षिक अधिवेशन प्रयागमें होने वाला था। वहाँके लाट महोदय सर आक्लैण्ड कालविनने विरोध भी किया था और उसपर कांग्रेसके जनरल सेक्रेटरी मिस्टर ह्यूमने उनको लताड़ भी खूब बतलायी थी। उस विरोधको दूर करनेके लिये पञ्जाबमें बम्बईके महाशय अलीमहम्मद भीमजी भेजे गये थे। उनका पहिला व्याख्यान शायद सितम्बरमें हुआ था, जब मैं जालन्धरमें उपस्थित न था। उस समय अलीगढ़ पार्टीने बड़ा विघ्न डालनेका प्रयत्न किया। बाज़ारकी उस तिमुहानीपर जहाँ इस समय शराब वालेकी दूकान है महाशय भीमजीका व्याख्यान होने वाला था। पास ही "फ़ख़रे-कौम" मुन्सिफ फख़रुद्दीन साहबका मकान था। आपने काफ़ी गाने वालोंकी मजलिसकी ठान ली। एक ओर लोग व्याख्यान सुननेको जमा और दूसरी ओर साथ ही सारंगी, तबला, ताऊस और रागियोंके गले फाड़नेका शोर शराबा,—भला व्याख्यान क्या होता? इसपर जब मुसल्मान रईसोंको लानत मलामत की गयी तो सूबेदार मेजर ग़ुलामहुसैन साहबने बालकरामजी द्वारा महाशय भीमजीको फिर बुला भेजा। एक बड़े मैदानमें उनका व्याख्यान ठहराया गया। मैंने ही अधिवेशनका सारा प्रबन्ध किया था। पहिले तो डेढ़ हजारसे अधिक पुरुष इकट्ठे हुए जिनमें ५० के लगभग मुसल्मान सज्जन थे, किन्तु फिर श्रोताओंने उठना आरम्भ कर दिया और ७०० के लगभग जनसंख्या रह गयी। इसका भी एक विशेष कारण था जिसका वर्णन पाठकोंके लिए बड़ा मनोरंजक होगा। जालन्धरमें लिखित विज्ञापनोंके अतिरिक्त हम लोग जलसों की सूचना डुगडुगी द्वारा भी दिया करते थे। डुगडुगी पीटने वालेको "अली-महम्मद" और लेक्चर आदि शब्द सब भूल गये और उसने मन घड़न्त हाँक लगानी शुरू कर दी—"ढप! ढप!! ढप!!! बोल, ख़लक़ ख़ुदा दी, मुल्क

मल्का दा, हुकुम कम्पणी वहादुर दा ! होर आर्यों दा लश्कर भी आयगा । ठीक चार बजे लाला सालिगराम दी मण्डी विच पण्डित भीमसैन दा समाज होवैगा ! सव लोग हाज़िर हो जाओ ।"

इस हाँकको सुनकर बूढ़े बनिये ब्राह्मण भी टेढ़ी कमरको लठियाका सहारा दिये चल दिये । "चलो ! वड़े स्वामीका चेला पण्डित भीमसेन आया है । वड़ा उत्तम धर्मोपदेश होगा । यह दुर्लभ समय फिर कब मिलेगा ! " इसी प्रकारकी किम्वदन्ती करते सैकड़ों सनातनी पहुंच गये । परन्तु जब लम्बा चोगा और खोजोंवाली पगड़ी धारण किये महाशय अलीमुहम्मदके मुंहसे अंग्रेजी रिपोर्टों के हवाले निकलने आरम्भ हुए तो इन बूढ़ोंकी आखें खुलीं और शनैः शनैः कांग्रेस और राजनीतिसे अनभिज्ञ सव पंछी उड़न्छू हो गये ।

कांग्रेसके साथ अपना सम्बन्ध जतलाकर उसकी एक वर्षकी कहानी एक स्थानमें ही समाप्त करना उचित समझकर वीचकी आवश्यक घटनाएं मैं छोड़ गया था । अव उनको क्रमशः लेता हूँ ।

मेरी डायरीसे पता लगता है कि मई १८८८ ई० (वैशाख-ज्येष्ठ, संवत् १६४५) में ही मैंने वर्णव्यवस्था पर एक लघु-पुस्तक लिखनी आरम्भ कर दी थी । १८ ज्येष्ठ (१ जून) की डायरीमें लिखा है—"पैम्फलेटका थोड़ा सा भाग ही लिखा था कि आँधी चल पड़ी और काम बन्द करना पड़ा" । यह वही लघु-पुस्तक है जो पहिले पहल मैंने उर्दू में छपवा कर मुद्रित की था ।

२० ज्येष्ठ संवत् १६४५ (३ जून सन् १८८८ ई०) का दिन विशेष स्मरणके योग्य है । जा वड़ा मकान मैंने आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जावकी सेवामें अर्पण कर दिया है और जिसे वेचकर सभाने २० हजार रुपये गुरुकुलके स्थिर कोषमें जमा कर दिये हैं उसकी आधार-शिला उसी दिन रखी गयी थी । मेरे मकानकी वुनियाद पड़नेसे पहिले सड़ककी दूसरी ओर इसी भूमिके सामने समाज-मन्दिरको कच्चा आंगन घिर चुका था । तव अपने नैत्यिक कामोंका अङ्ग मैंने यह भी बना लिया कि नित्य सायंकालको अपनी नई इमारतका काम देखकर ही समाज-मन्दिरमें प्रवेश करता । सायंकालकी सन्ध्या भी प्रायः समाज-मन्दिरमें होती और नित्य नये भगवेंपोश साधुओंसे भेंट होती । भारत-वर्षके आधेसे अधिक साधु जालन्धरके सोढल आदि स्थानोंमें घूमने आते हैं । आर्यसमाजमें सायंकालकी इसी ज्ञानचर्चाने मुझे भारतवर्षके आधेसे अधिक साधुओंसे परिचित करा दिया था ।

एक दिन जून (ज्येष्ठ-आषाढ़) मासमें नास्तिक रोड़े साधुओंका गुरु मुकद्दमा लेकर आया । उसकी हंसी उसी प्रकारकी थी जैसी इंग्लैण्डके प्रधान-कवि मिल्टनने खुदाके विपक्षीकी उपमामें लिखी है । अश्रद्धाकी स्वयं मूर्ति होनेके साथ ही यह मेलाराम किसी भी बुराईमें कम नहीं मालूम होता था । इसको मिलनेके पश्चात् ही मुझे रोड़े साधुओंके आचरणोंका अधिक हाल मालूम हुआ ।

संवत् १९४५ (सन् १८८८) का ग्रीष्मऋतुमें ही आर्यधर्म-प्रचार के लिये हमारे, कपूथला राजधानी पर धावे आरम्भ हुए। पहिली वार १६ आषाढ़ (३० जून) को, जब मैं आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब के अधिवेशनके लिये लाहौर जानेकी तय्यारी कर रहा था, कपूर्थलेसे एक आर्य भाई व्याख्यानको निमन्त्रण देने आये। मैं लाहौरके स्थानमें उन्हींके साथ चला और कपूर्थले पहुंचकर चिरञ्जीवलालको बाज़ारमें भेज दिया, जहाँ उसने अपनी खड़ी बोलीकी बैंतो द्वारा हलचल मचा दी। चिरञ्जीवलालकी बैतुल बाजीने ही विज्ञापनका काम दिया जो दूसरे प्रातःको व्याख्यानके लिये था।

दूसरे दिन (आदित्यवार को) प्रातःकाल ४ बजेसे ही वर्षाका आरम्भ हुआ। मेरी डायरी में लिखा है—"भाई देवराज मूसलाधार वर्षामें ही भीगते हुए साढ़े छः बजे पहुँचे। कैसा महत् आत्मसमर्पण! ८ बजेके पश्चात् कुछ बादल उड़े। देवराज जीने बड़ी जन-उपस्थितिमें नई सरायके अन्दर व्याख्यान दिया। मैंने मूर्तिपूजा विषयपर मास्टर पोल्होमलके साथ शास्त्रार्थ किया। लाला धूमामल जीकी बग्घीमें हम जालन्धर लौटे। जालन्धर समाज-मन्दिरमें मैंने ईश्वरोपासनाके पश्चात् सत्यार्थप्रकाशकी कथा की। फिर सुना कि लाहौरके अग्निहोत्रीका शिष्य रामजवायामल आया है। कुछ आर्य्य भाइयोंको लेकर उसे सुनने गया। यद्यपि उसका गुरु हमें गालियां देना ही अपना धर्म समझता है, तथापि वह हमारा भाई है। जब हम पहुँचे, एक भी श्रोता न था। हमारे जानेपर रामजवायाने ईश्वरप्रार्थना की और हमीं लोगोंको व्याख्यान सुनाया।" मालूम होता है कि इस समयके देवगुरु भगवानने, जो उस समय परम गुरुकी उपासनाका ढोंग भी रचता था, आर्य्यसमाजको मसालेदार गालियाँ देनी आरम्भ कर दी थीं।

कपूर्थलेमें वैदिक धर्म-प्रचारके बड़े भारी विरोधी रियासतके अकौण्टैण्ट जनरल मिश्र अछरूमल थे। ये महाशय वैसे तो सदाचारी थे किन्तु कट्टर सनातनी होनेके कारण आर्य्यसमाजके पूरे शत्रु थे। इनके मकानकी दीवारपर आर्य्यसमाजके अधिवेशनका विज्ञापन लगाने यदि कोई जाता, तो उसे मारकर भगा देते, यदि कभी आंख बचाकर लगा ही जाता तो सारी दीवारको पानीसे धुलवा डालते। १७ श्रावण (२ अगस्त) को एक आर्य्य भाईकी माताके देहान्त पर मैं उसका अन्त्येष्टि-संस्कार कराने फिर कपूर्थले गया। दीवान मिश्र अछरू-मलने फिर बड़ा विरोध किया। किन्तु श्मशानभूमिमें मृतककी अर्थीके साथ चार पांच सौके अनुमानसे नर नारी पहुँच गये। इसपर संस्कारका बड़ा धार्मिक प्रभाव पड़ा और अन्तिम ईश्वर प्रार्थना तथा उपदेशको सुनकर कइयोंने वैदिक धर्म ग्रहण किया। इस बार दीवान अछरूमलने कहला भेजा—"अबके तो मौतके कारण छोड़ दिया, फिर आवेंगे तो कैद करा दूँगा।" इसी चैलेञ्जको स्वीकार करके मैं कई बार फिर कपूर्थले गया किन्तु दीवान साहब-की धमकी कार्यमें कभी भी परिणत न हुई।

अशान्तिमें शान्ति

जुलाईके महीनेमें ही मेरे सबसे ज्येष्ठ भ्राताका एक मुकद्दमा था। एक मुसल्मानने उनपर मस्जिदका कुछ स्थान अपने तवेलेमें मिला लेनेका झूठा अभियोग चलाया। जब तवेला बन रहा था तो मुसल्मानने धमकी दी कि यदि उसको २००) न दिये गये तो वह धार्मिक भावोंपर आक्रमण करनेके दोषमें दावा कर देगा। भाई साहेबने मेरी सम्मति पूछी। मैंने उन्हें कहा कि झूठेकी धमकीकी परवाह न कर सत्यपर आरूढ़ रहना चाहिये। मेरी इस सम्मतिका यह फल हुआ कि वेचारे दो तीन महीनों तक अभियोगमें घिसटे फिरे। मैंने कानूनी पैरवी तो की किन्तु जब सनातनी ब्राह्मण मैजिस्ट्रेटको मुसल्मानने धमकी दी कि वह उनपर हिन्दूका पक्षपात करनेका दोषारोपण करेगा तो मजिस्ट्रेटने विना सबूतके ३०) जुर्माना कर दिया। डिविज़नल जजके यहां भी यही सिद्ध हुआ कि दावा झूठा है और वह भूमि भी भाई साहेवके ही कब्जेमें रही किन्तु मुझे उन दिनों बड़ा मानसिक कष्ट रहा। मेरी डायरीसे पता लगता है कि जून और जुलाईके आषाढ़-श्रावण महीनोंमें चित्त बड़ा अशान्त रहा, किन्तु २८ जुलाई (१२ श्रावण) को जब लाहौर गया तो उस बड़े नगरसे अशान्तिके स्थानमें शान्ति लाया। मेरी डायरीमें लिखा है—"पंडित गुरुदत्तको मिला। मुक्ति विषयमें उनके साथ बहुत बातचीत हुई। सर्व मुख्य नियमोंमें उनकी मेरे विचारोंके साथ सहमति है। दूसरे दिन आदित्यवारको लाहौर आर्य समाजके साप्ताहिक अधिवेशनमें सम्मिलित हुआ। उपस्थिति ३०० से अधिक थी। वहांसे लाला सांईदासके मकानपर पंडित गुरुदत्त सहित गया, जहां सामाजिक नियमोंपर परस्पर विचार होता रहा। प्रिय गुरुदत्तको मिलकर मुझे नया धार्मिक बल मिलता है।"

सन् १८८८ का सितम्बर मास (भाद्रपद-आश्विन, संवत् १९४५) मैंने अपने ग्राम तलवनमें व्यतीत किया। नैतिक सत्संगके अतिरिक्त मैंने एक कन्या पाठशाला भी खुलवा दी किन्तु अध्यापिकाकी अयोग्यताके कारण जालन्धर लौटते हुए उसे बन्द करना पड़ा। अपने कुटुम्बमें बहुतसे सामाजिक संशोधनोंका भी प्रयत्न किया। अच्छे कामोंके लिये जहां एक कौड़ी देनेका भी अभ्यास न था वहां सामूहिक शक्तिसे काम करना और उसके लिये धन व्यय करना भी मैंने यथाशक्ति अपनी पुरानी बिरादरी वालोंको सिखाया। मासके अन्तिम अर्धभागमें एक अताईका नुसखा लेकर मैंने यूनानी जुलाब लिया जिसने मुझे बहुत निर्बल कर दिया। उसी अवस्थामें १५ आश्विन (१ अक्तूबर) को मैं तलवनसे चल दिया। कुछ स्वस्थ होनेपर इसी मासमें एक नये कामकी बुनियाद डाली गयी जिसने मेरे चिरकालके विचारको क्रियामें परिणत कर दिया। जिस संस्थाका नाम इस समय

कन्या महाविद्यालय जालन्धर

है उसके संस्थापनकी कथा बहुत हा साधारण किन्तु शिक्षाप्रद है। जिस समय-का मैं वृत्तांत लिख रहा हूं उस समय जालन्धरमें एक पहाड़ी वृद्धा स्त्री रहती थी, जिसे 'माईलाड़ी' कहकर लोग पुकारते थे। जो कुछ भी अक्षरा-भ्यास हिन्दीका हिन्दू महिलाओंका था, वह इसी माईकी कृपाका परिणाम था। मेरी धर्मपत्नीने भी इसी माईसे कुछ पढ़ा था। इस माईको कुछ विशेष लालच देकर ईसाइयोंने अपनी पुत्री पाठशालामें रख लिया। यह अपनी शिष्या स्त्रियोंकी लड़कियोंको लिहाज़ मुलाहज़ेके दबावसे ईसाई पुत्री पाठशालामें ले जाया करती थी। इसी प्रकार मेरी बड़ी पुत्रीको भी उन्हींकी पाठशालामें बैठाया गया। २ कार्तिक, संवत् १९४५ (१९ अक्टूबर १८८८) की डायरी में लिखा है—"कचहरीसे लौटकर जब अन्दर गया, तो वेदकुमारी दौड़ी आयी और जो भजन पाठशालासे सीखकर आयी थी, सुनाने लगी—'इकबार ईसा, ईसा, बोल, तेरा क्या लगेगा मोल। ईसा मेरा राम रसिया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया,'—इत्यादि। मैं बहुत चौकन्ना हुआ। तब पूछनेपर पता लगा कि आर्यजातिकी पुत्रियोंको अपने शास्त्रोंकी निन्दा करनी भी सिखायी जाती है। निश्चय किया है कि अपनी पुत्री पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिये।"

तीसरे दिन आदित्यवार था। आर्यसमाजके साप्ताहिक अधिवेशनमें रायबहादुर बख्शी सोहनलाल प्लीडर भी सम्मिलित थे। हम दोनों घरको इकट्ठे लौटे। मैंने बख्शीजीसे आर्यपुत्री पाठशालाकी बात छेड़ी, वे पहिले हीसे तैयार मिले क्योंकि उनको भी पता लग चुका था कि उनकी लड़कीको क्या पढ़ाया जाता है। फिर क्या था, मैंने उसी रात बैठकर एक अपील लिखी और दूसरे दिनसे ही चन्दा लिखाना शुरू हो गया। मेरी डायरीसे पता लगता है कि मध्य-कार्तिक (अक्टूबरके अन्त) तक मैं बराबर चन्दा इकट्ठा करता रहा। १७कार्तिक (३ नवम्बर, दिवाली) को ऋषि दयानन्दका मृत्युदिवस था। मैंने उसी दिन प्रातः काल अपने घरमें बृहत् हवन कराया। ४७ महाशय उपस्थित थे। वहाँ कन्या पाठशालाके लिये फिर अपील की गयी। रातको समाजमन्दिरमें ऋषि दया-नन्दके जीवनपर मैंने ही व्याख्यान दिया। इन्हीं दिनों एक दूसरे बड़े लाभकी बुनियाद डालनेका विचार उपस्थित हुआ। धर्म-सेवाके लिये जहां अन्दरसे उत्साह उत्पन्न होने लगा वहां साथ ही साथ साधन भी प्राप्त होने लगे। इन्हीं दिनोंमेंसे, एक दिन राजमजदूरोंको साप्ताहिक वेतन बाँटना था, पास फूटी कौड़ी न थी। बड़ी चिन्तामें था कि तीसरे पहर तक १३०) की आमदनी हो गयी। मेरी डायरीमें लिखा है—'मनुष्यको कभी निराश न होना चाहिये, परमात्मापर दृढ़ विश्वास रखना चाहिये।' मुझे इन दिनों अपने विचार सर्वसाधारणतक पहुं-चानेके लिये किसी साधनकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। आवश्यकता प्रतीत होते ही परमात्माने मार्ग दर्शा दिया और ऋषि-उत्सवके दूसरे दिन ही

'सद्धर्म प्रचारक'

साप्ताहिक उर्दूपत्रके निकालनेका विचार दृढ़ हुआ। दूसरे ही दिन पच्चीस पच्चीस रुपयोंके १८ हिस्सेदार पैदा हो गये और प्रेसका सामान क्रय करनेकी सूझने लगी। सभी जालन्धरी हिस्सेदार आये थे। इस समयसे चैत्र संवत् १९४६ के अन्त तक सब प्रबन्ध होता रहा और १ वैशाख १९४७ को प्रचारकका पहिला अङ्क निकला।

एक बृटिश शासकसे भेंट

इन्हीं दिनों शिक्षा-समितिके प्रधान सर चार्ल्स एचीसन महोदय अपने कमीशनका काम समाप्त करके जालन्धरमें अपने सम्बन्धी, मैकवर्थ यङ्ग, कमिश्नर को मिलने आये थे, जो सर मैकवर्थ यङ्ग बनकर पीछे पञ्जाबके लाट साहब बने थे। उन्हें मिलने जालन्धरके रईस आग्रहपूर्वक मुझे भी साथ ले गये। उस मिलापका हाल मेरी डायरीमें लिखा है—"रईस लोग तो प्रशंसायुक्त अत्युक्तियों-पर ही भेंट समाप्त करना चाहते थे परन्तु मैंने स्कूलों और कालिजोंमें फ़ीस बढ़ानेका विषय छेड़ दिया। सर चार्ल्सने मुझे रोकनेके लिये कहा—"मैं तो फ़ीस बढ़ानेका पक्षपाती हूं, जब गवर्नमेण्ट अपनी प्रजाके भोजनका प्रबन्ध नहीं करती तो शिक्षाका प्रबन्ध करना उसके लिये किसी युक्तिसे भी सिद्ध नहीं हो सकता।" मैंने उत्तरमें कहा—"मनुष्य स्वभावतः भोजनका सामान एकत्र करनेको बाधित होते हैं, किन्तु छोटे बच्चोंकी तरह वे अभी शिक्षाके लाभोंसे परिचित नहीं। इसलिये दयालु माताकी नाईं गवर्नमेण्टको शिक्षाके लिये लोगोंको उत्साहित करना चाहिये।" मेरी डायरीमें लिखा है कि सर चार्ल्स-ने इसपर विषयको बदल दिया और नगरके समाचार पूछकर सबको विदा किया। इन दिनों मालूम होता है कि अपने नित्यकर्मोंमें नियम-बद्ध होनेके कारण मेरी मानसिक दशा अच्छी रहने लगी थी। समाजके साप्ताहिक जल्सोंमें उपदेशादिके अतिरिक्त घरपर कई सज्जनोंको सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थ भी मैं पढ़ाता था; कन्या पाठशालाके लिये आन्दोलनके अतिरिक्त आर्य-पत्रिकाके लिये लेख भी भेजा करता था और रातको शयनसे पहिले मेरे मकानपर आर्य-भाई हरिकीर्तनके लिये भी जमा होते थे।

लाहौर आर्यसमाजका बारहवाँ वार्षिकोत्सव

हम लोग लाहौर आर्यसमाज मन्दिरको एक तीर्थस्थान समझते थे और बड़ी श्रद्धासे वहाँके वार्षिकोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये यात्रा किया करते थे। ७ मार्गशीर्ष (२३ नवम्बर) को नगर-कीर्तन था, उस दिन रातको हम सब अपने घरोंसे चलकर रेलवे स्टेशन पर पहुंचे। ट्रेन दो बजे प्रातः चलती थी। हम दस ग्यारह आर्य भाई पहिले तीसरे दर्जेके मुसाफिरखानेमें गये। भाई देवराजने आँखें बन्द कर लीं और वेदमन्त्रका उच्चारण करके परमेश्वरकी स्तुतिके पश्चात्

बल तथा ज्ञानके लिये प्रार्थना की। आंख खोलते ही पता लगा कि जनसंख्या अच्छी इकट्ठी होगयी है। मैंने पौन घण्टे तक धर्मोपदेश दिया और दो बजे की ट्रेनसे लाहौर चल दिये। सारा प्रातःकाल भजनोंमें बिताया। जिस स्टेशनपर रेल पहुंचती, हमारे भजनोंको सुनने चुपचाप सब खड़े हो जाते। सन्ध्यासे रास्तेमें ही निवृत्त होकर ७ बजे प्रातः लाहौर पहुंचे। उन दिनों लाहौरमें घोड़े से ट्राम चलती थी। एक ट्राम भर कर भजन गाते हुए उतारेके स्थानपर पहुंचे। वहांसे लाहौरके बाजारोंमें भजन गाते हुए समाजमन्दिरमें पहुंचे।

इस उत्सवमें ही मास्टर दुर्गाप्रसाद जीका सोलह संस्कारोंपर व्याख्यान सुनकर मेरा प्रेम उनके साथ अधिक हो गया था। किन्तु सबसे बढ़कर पंडित गुरुदत्तका व्याख्यान था जिसके विषयमें मेरी डायरीमें लिखा है—"इस व्याख्यानकी क्या उपमा दूँ? ऋषि दयानन्दके उपदेशोंके पश्चात् यही एक व्याख्यान सुननेमें आया है।"—यह उत्सव इसलिये भी स्मरणीय रहेगा कि मैंने पहिले पहल पंडित गुरुदत्तके व्याख्यानके पश्चात् ६ मार्गशीर्ष, संवत् १६४५ (२५ नवम्बर १८८८) के ११ बजेसे हुक्का पीना छोड़ दिया था। १० मार्गशीर्ष (२६ नवम्बर) की डायरीमें लिखा है कि सारा दिन तम्बाखू नहीं पिया। ११ मार्गशीर्ष (२७ नवम्बर) को लिखा है—"तम्बाखू छोड़नेसे बड़ा लाभ होगा। अभी पता लगता है कि बहुतसी सुस्ती दूर हो गयी।"—इसके कुछ दिन पीछे भूख अधिक लगनेका लेख है। लाहौरसे लौटकर मैं अपने ग्राम तलवनमें गया। इन दिनों ही सांसारिक ऐश्वर्य तथा सांसारिक मानके सञ्चय करनेका विचार यद्यपि शिथिल हो चुका था किन्तु पर्याप्त धन इकट्ठा करके मानसिक जीवन व्यतीत करनेके विचार दृढ़ हो रहे थे। इसीलिये जहाँ जालन्धरवाले बंगलेके नकशोंमें उपासनालयके साथ साथ पुस्तकालयके बड़े कमरेकी, बुनियाद रखी गयी थी, वहां विचारके लिये एकान्त निवासार्थ ग्रामसे दूर अपनी भूमिपर वाटिका तथा आश्रम बनानेका काम भी हो रहा था। तीन दिवस जन्मभूमिमें धर्मप्रचार कर तथा नई वाटिकाकी हरियावल देखकर जालन्धर लौट आया।

इस वर्ष जालन्धर आर्यसमाजका वार्षिकोत्सव भी बड़ी धूमधामसे हुआ। केवल धूमधाम ही न थी, जालन्धर-निवासियोंका कायापलट हो गया। उत्सवसे पहिले एक तो मैंने विविध स्थानोंमें विशेष धर्म सम्बन्धी व्याख्यान दिये फिर पण्डित लेखरामजी 'आर्यपथिकसे प्रचार कराया। जालन्धरके पौराणिक पण्डित भी ऐसे काबू चढ़े कि एक विशेष अधिवेशनमें पण्डित देवीचन्द्र न्यायाचार्य तथा वृद्ध पण्डित रामदत्त तक बालविवाहका खण्डन कर गये।

ब्राह्ममुहूर्तमें हरिकीर्तन

जब कभी मैं नवयुवक आर्यसमाजियोंसे पुराने समय, अर्थात् संवत् १६५१ (सन१८६४) की धर्म तथा सदाचारमें श्रद्धाका वर्णन करता हूं तो उनके मुख-

पर अविश्वासकेसे चिन्ह दिखायी पड़ते हैं और कोई कोई तो स्पष्ट कह देते हैं कि उस समय सब ढकी ढकाई बात थी इसलिये वह पुराना समय स्वर्णीय ज्ञात होता है। किन्तु मेरा अनुभव यही है कि जिस समयका मैं वर्णन कर रहा हूं उस समय कमसे कम जालन्धरी आर्यों में श्रद्धाकी मात्रा बहुत बढ़ी हुई थी। यह स्वयंसिद्ध सचाई है कि जिस समय आराम लेकर सब इन्द्रियां स्वस्थ होती हैं उस समय (ब्राह्म मुहूर्तमें) मनुष्यके आत्मापर बुराई वा भलाई दोनोंका प्रभाव, प्रबल पड़ता है। इसी सचाईको अपना पथदर्शक मानकर कुछ जालन्धरी आर्य हाथोंमें एकतारा ले चार बजे प्रातः घरसे निकलते और आशाके शक्तिदायक अलापके साथ वैराग, श्रद्धा, भक्ति और ईश्वर-स्तुति-के भजन गाना आरम्भ करते थे। हमारे कामका ढंग यह था कि एक मुहल्ले वा गलीके बीचोबीच खड़े होकर एक भजन पूरा करते और एकतारा पर स्वर छेड़ते आगे चल देते। जहां तक मुझे याद है पांच वर्षों तक हम लोग अपने वार्षिकोत्सवसे डेढ़ दो महीने पहिले ऐसा ही अमल करते थे। कई बार हमारे साथ लाहौर ब्राह्मसमाजके प्रसिद्ध सभासद लाला काशीराम तथा बाबू अविनाशचन्द्र मजूमदार भी सम्मिलित हुआ करते थे। प्रातःकालके हरिकीर्तन के समय भी कभी कभी विचित्र घटनाएं होतीं। कभी किसी माताको कहते सुनता—'बेचारा बड़ा भला फकीर है, केवल भजन गाता है, मांगता कुछ नहीं' और जब फिर दर्वाजा खोलकर उसके निकलते निकलते मैं चल देता तो आवाज आती—"ऐ भाई! खैर लेजा!" किन्तु जब मैं लौट कर भीखके लिये आंचल फैलाता, तो देवीको विस्मित देख कर बतला देता कि मैं आर्यसमाज-का भिक्षु हूं और इसलिये फेरी डालता हूं कि नर नारी धर्म-पिपासा बुझानेके लिये आर्य-मन्दिरमें एकत्र हों। कई देवियां तो हमें भिखमंगे समझ कर ही अनाज, पैसा, दुअन्नी, चौअन्नी, आँचलमें डाल जातीं। मुझे याद है कि एक सवेरेकी भीखकी कमाई १०) से कुछ अधिक मैंने उत्सव-निधिमें दी थी। वे दिन कैसे स्वच्छ और सुन्दर थे, और उन्होंने मेरे आत्माकी उन्नतिमें क्या किया, उसे स्मरण करके कभी कभी हृदय मुग्ध हो जाता है और मुझे पश्चात्ताप होता है कि ऐसी शान्तिदायक सेवासे पृथक् होकर क्यों पत्थरोंसे टकरानेका कठिन काम पकड़ लिया।

शायद यह प्रातःकालको नगरकीर्तन बहुत वर्षों तक चलता किन्तु जब कुछ विरोधियोंने ढोलक गलेमें डालकर प्रातः रासलीला और आर्यसमाज को गालियोंके भजन गाने आरम्भ किये और पञ्जाबी वाग्-व्यवहारके अनुसार हरिकीर्त्तनके स्थानमें "धम्मड़ धस्सा" मच गया तो जालन्धर आर्यसमाजके धर्म्मप्रचारका एक बड़ा अंग शिथिल हो गया।

जालन्धर आर्यसमाजका तीसरा वार्षिकोत्सव

यह उत्सव मेरे लिये सदा स्मरणीय रहेगा। पहिला कारण तो यह है कि उसी उत्सवपर सबसे पहिले नगरकीर्त्तनकी शक्तिका मैंने अनुभव किया।

लाहौर आर्यसमाजके उत्सवके पश्चात् जहां पहिले संन्यासी स्वामी स्वात्मानन्दजी आर्यसमाजको मिले वहां श्री स्वामी अच्युतानन्दजी पंडित गुरुदत्तकी विद्वत्ता और उनके धर्मभावके काबू चढ़कर अपनी बड़ी मण्डलीको छोड़ (जिसके वह महन्त थे) शुद्ध वैदिक धर्मकी शरणमें आ चुके थे। इन सब स्वामियोंको साथ लेकर लगभग ४० आर्य भाइयों सहित १० पौष, संवत् १९४५ (२५ दिसम्बर १८८८) के मध्याह्नोत्तर पंडित गुरुदत्तजी रेलपरसे उतरे। स्वर्गीय लाला साईंदास और लाला हंसराजजी बी० ए० भी साथ ही उतरे किन्तु रातका ट्रेनसे ही अजमेर पधार गये। उन्हें परोपकारिणी सभाके सम्बन्धमें पूरा भाग लेनेकी लगन थी और गुरुदत्तको वैदिक धर्मके प्रचारकी। मुझे उन दिनों पता ही न था कि धार्मिक समाजमें भी राजनीतिके लिये स्थान हो सकता है और इसलिये अजमेरसे पत्रपर पत्र प्राप्त होनेपर भी मैं जालन्धर आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवकी तय्यारीमें लगा रहा।

नगरकीर्त्तन क्या था, सारे नगर-निवासियोंके लिये प्रेम और शान्तिका सन्देश था। बाजेके साथ 'ओ३म्का' झण्डा लिये जालन्धरके एक प्रसिद्ध रईस, उनके पीछे पंडित गुरुदत्त संन्यासीमण्डल सहित वेदमन्त्रोंकी अमृत-वर्षा करते जा रहे हैं, और उस साधुमंडलके पीछे गृहस्थोंके कई दल हरियशगायन करते हुए जा रहे हैं। आँ! आँ! ऊँ! ऊँ! का अलाप बलाप कुछ नहीं और नाहीं बाँह हिलानेसे काम, किन्तु नगर-निवासियोंपर प्रभाव ऐसा, कि सारे बाजारोंमें शान्तिका राज्य दिखायी देता था।

दूसरी स्मरणीय बात उतारेके स्थानमें पहुंचकर सब भाइयोंका सन्ध्या करना था जिसके पश्चात् सबने इकट्ठे होकर हवन किया। फिर स्वामी स्वात्मानन्दजीने संध्याकी विधि और उसके लाभोंपर व्याख्यान दिया और बहुत रात जाते तक आर्य भाई संन्यासी महात्माओं तथा पंडित गुरुदत्त जीसे धर्म विषयक निर्णय करते रहे।

संन्यासियोंको संध्या अग्निहोत्रमें सम्मिलित होते देख मुझे सन्देह हुआ था। मैंने पंडित गुरुदत्त जीसे अपनी शङ्का प्रकट की। पंडित गुरुदत्त जीने कहा कि जो संन्यासी, महात्मा, योगी हैं और सांसारिक वासनाओंसे सर्वथा मुक्त, अल्पाहारी तथा उच्चकोटिके साधनसम्पन्न हैं उनके लिये इन बन्धनोंसे सर्वथा मुक्तिका विधान है। किन्तु जो संन्यासी दिन रात गृहस्थोंकी सेवामें लगे हुए सब प्रकारके भोजन-छादनमें फंसे हुए हैं उन्हें दो काल संध्या तथा अग्निहोत्र करना ही उचित है। इसी समय उन्होंने श्वेताश्वतरोपनिषत्का निम्नलिखित प्रमाण भी दिया था—

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्ण प्रसादं स्वर सौष्ठवंच।
गन्धः शुभो मूत्र पुरीषमल्पं योग प्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥

शायद यही कारण है कि पंडित गुरुदत्तके सत्संगमें रहे हुए सर्व संन्यासी

महात्मा दोनों काल संध्या करते हैं जिस अवस्थामें उनसे कम साधनों वाले अन्य पुरुष संध्या करनेमें अपना अपमान समझते हैं।

तीसरी विशेषता यह थी कि इस उत्सवने सर्वसाधारणको निश्चय करा दिया कि आर्योंमें वेदशास्त्रके जाननेवाले प्रगल्भ विद्वान् विद्यमान हैं।

११ पौष, संवत् १६४५ (२६ दिसम्बर १८८८) के प्रातः स्वामी अच्युतानन्दजी महाराजका धर्मोपदेश संस्कृत भाषामें हुआ। इस व्याख्यानके लिये पौराणिक पण्डितोंको निमन्त्रणपत्र मैंने अपने हाथसे लिखकर भेजे थे। स्वामीजीने नवीन वेदान्तका खण्डन करके जब वैदिक मतकी स्थापना की, तो एक पौराणिक पण्डित, जिसके हाथमें उक्त स्वामीजीका ही पुराना उपनिषद्-भाष्य था, बोला—"इसमें क्या लिखा है, और अब क्या अनर्थ कर रहे हो"—स्वामीजीने उत्तर दिया-"वह भी तो मेरा ही ग्रन्थ है, अब आंखें खुलने पर मैंने ही उसका संशोधन किया।" पौराणिक पण्डित चुप हो गया। तीसरे पहर प्रश्नोत्तर (शङ्का-समाधान) का समय था। पहले जालन्धरके प्रसिद्ध वेदान्ती मौनीजीको लोगोंने वेदीके सामने कुर्सी पर शास्त्रार्थके लिये बैठा दिया। आर्यसमाजकी वेदीपर श्री पण्डित गुरुदत्तजी आ विराजे। मौनीजीको प्रश्नकी आज्ञा हुई, किन्तु वह तो मौनीजी ही निकले। मौन साधके बैठे रहे, कुछ भी न बोले। तब उन्हें संकेत किया गया कि कुर्सीसे नीचे आ जायँ, जिससे दूसरोंको शंका समाधानका समय मिले। किन्तु मौनीजी ऐसे जमे कि जड़-भक बन गये। तब उन्हें स्पष्ट कहकर नीचे बैठाया गया। इसी समय किसीने नियोग और विधवा-विवाहपर प्रश्न किये। स्वामी स्वात्मानन्दजीने बड़ा उत्तम समाधान किया। बालविधवाके विवाहको पण्डित गुरुदत्तजीने ऐसी प्रबल युक्तियों और प्रमाणोंसे सिद्ध किया कि करतार पुर (जिला जालन्धर) के एक प्रसिद्ध साहूकारने अपनी बालविधवा पुत्रीके विवाह कर देनेका दृढ़ संकल्प धारण किया। भाई देवराजजीके पिता राय शालिग्रामजी भी उसी समयसे बाल-विधवा विवाहके पक्षपाती हुए थे।

सायंकाल पण्डित गुरुदत्तका व्याख्यान था। जालन्धरमें उनकी धूम थी। बड़े बीची साहब, स्पैन्सर साहब, वकील और कुछ अन्य अंग्रेज सुनने आये थे। पंडित जी बड़ी गम्भीर भूमिका बाँध रहे थे। पंडित जीकी भूमिका सर्वसाधारण अनपढ़ोंके लिये शुष्कसी प्रतीत होती थी, किन्तु सर वाल्टर स्काटके उपन्यासोंकी तरह जो भद्रपुरुष आध घण्टेकी (उनके लिये नीरस) भूमिकाका सहन कर लेते उनको फिर पौन घण्टे तक स्वर्गके झकोलोंका आनन्द आता। मैं किसी कामके लिये उठा और प्रबन्ध एक और महाशयके सुपुर्द हुआ। लोगोंने उन्हें तङ्ग किया कि पण्डित गुरुदत्तका कुछ समय बाबू बेचाराम जीको देकर अन्तिम अपील उनसे करायी जावे। स्थानापन्न सभापतिने लिखकर दिया—

"आपके पश्चात् बाबू बेचारामजी अपील करेंगे।" संस्थाके दास गुरुदत्तने पाँच मिनटमें ही व्याख्यान समाप्त करके सबको आश्चर्यमें डाल दिया।

पण्डित गुरुदत्तका गुरुत्व

बेचाराम बाबूके हाथ पैर मारने और भाषाकी बेजोड़ गढ़न्त पर कुछ जोशीले आर्यसमाजी तो प्रसन्न हुए किन्तु जितने अंग्रेज और अन्य सुशिक्षित पुरुष आये थे वे उठकर चले गये। उन अंग्रेज भद्रपुरुषोंने पीछे मुझसे शिकायत की कि ऐसी विशाल भूमिकाके पश्चात् न जाने कैसा सारगर्भित व्याख्यान होना था जिससे उनको वञ्चित रखा गया। १३ पौष (२८ दिसम्बर) को प्रातःकाल ही सब स्वामियोंको देवराज जी अपने यहां ले गये किन्तु पंडित गुरुदत्त जी लाला बालकरामको साथ ले मेरे यहाँ पहुँचे। वहाँसे दुग्धपान करके एक बड़ा चक्कर काटते हुए हम तीनों लाला देवराजके मकानको चल दिये। बालकराम जीको प्रश्नों द्वारा दूसरोंकी सम्मतियाँ जाननेका बहुत अभ्यास था। बहुतसे अन्य प्रश्नोंके पश्चात् आपने पूछा—"पण्डित जी! नैशनल कांग्रेसके बारेमें आपकी क्या राय है? पंडित जी चलते चलते खड़े हो गये और बोले "नैशनल कांग्रेसके बारेमें मेरी क्या राय है? अच्छा, एक बड़े मैदानमें लकड़ियोंका एक ढेर लगाइये और उनमें आग लगा दीजिये। उस ढेरके चारों ओर ऊँचे मीनारोंपर पानीके नल लगा दीजिये। फिर एक ओर तो भड़की हुई आगमें इन्धन डालते जाइये और दूसरी ओर पानीके नलकोंमेंसे सीधी धारा उस ज्वालापर छोड़ते जाइये। यह है नैशनल कांग्रेस जिसका उद्देश्य कांस्टिट्यूशनल एजिटेशन (वैध आन्दोलन)* है।" लाला बालकरामने दूसरा प्रश्न न पूछा और हम सब देवराजकी हवेलीमें पहुंच गये।

उसी दिन राय रामदयालुजी इञ्जिनीयरने दूसरे दिनके लिये भी पंडितजी को उनके साथियों सहित भोजनका निमन्त्रण दिया और प्रार्थना की कि पंडित जी का एक व्याख्यान अवश्य कराया जावे क्योंकि पहिला व्याख्यान अधूरा छूटनेसे शिक्षित दलको शान्ति नहीं हुई। पंडितजीने उत्तरमें कहा—"मुझे कोई नई बात सुनाने के लिये सूझी नहीं फिर कैसे कह सकता हूं कि व्याख्यान दूंगा या नहीं।" इंग्लैण्डके प्रसिद्ध वक्ता जान ब्राइट (John Bright) की नाईं पंडित गुरुदत्त बिना आवश्यकता और अनुभवके बोला नहीं करते थे। अस्तु!

देवराजजीके यहाँ सबने इकट्ठे भोजन किया और फिर विविध विषयोंपर बातचीत होती रही। मध्याह्नोत्तर मैं और बालकरामजी धर्म-सभाके जल्सेमें जो जुआखानेके मैदानमें हो रहा था, जानेके लिये तय्यार हुए। पंडित गुरुदत्तने भी चलनेकी इच्छा प्रकट की। शायद बालकरामजीने उन्हें मना करके कहा—"पंडित जी! व्याख्यानोंकी रिपोर्ट हम आपको देंगे। आप हमारे शिरोमणि लीडर हैं, आपको हम नहीं ले जायँगे"। पंडित जीका उत्तर बड़ा बढ़ाया था। संन्यासी स्वामियोंकी ओर संकेत करके बोले—"गद्दीपर इन सबको बैठने दो, मुझे तो सुननेमें ही आनन्द आयगा" यह कहकर हमारे साथ हो लिये,

---

* Constitutional agitation

दशोपानषद्का गुटका हाथमें था। जलसम पहुंच, एक ओर खड़े हो गये। एक पंडित मूर्तिपूजाका मण्डन कर रहे थे, कुछ देर तक सुननेके पश्चात् पंडित जीने कहा—"लीजिये! अब जन-साधारणके लिये सन्देश सूझ गया, अब आपका जी चाहे तो नोटिस दे दीजिये।" मेरे इशारा करते ही उसी जन-समुदायमेंसे २५ आर्य्य भाई इकट्ठे हो गये। सबको कह दिया कि सभा विसर्जन होते ही निकलने वालोंको पंडित जीके व्याख्यानकी सूचना देते जायँ। सभा विसर्जन हुई और काम शुरू हो गया। हम लोग तो दूसरी ओरसे समाज मन्दिरको चले और जन-समुदायने सीधा आर्य्य-मन्दिरका रास्ता लिया। हमारे पहुँचते पहुँचते चार पाँच सौ आदमी इकट्ठे हो गये। एक भजन समाप्त होनेपर आँख उठायी तो दो सहस्रकी भीड़ दिखायी दी। राय शालिग्राम, वजीर कर्मचन्द्र मण्डीवाले, पंडित जविन्दलाल म्युनिसिपल कमिश्नर आदि नगरके बड़े बड़े प्रतिष्ठित सज्जन कुर्सियों और बेञ्चोंपर शोभायमान थे। पंडित गुरुदत्तने शनैः शनैः भूमिका उठाकर परमात्माका निरूपण किया और फिर आत्माके साथ उसके सम्बन्धका चित्र खींच निराकार पूजनके मण्डनमें ही मूर्तिपूजाका खण्डन कर दिया। फिर जब जनताके लिये प्रेमके भावसे प्रेरित होकर कहा—"मुझे बड़ा कष्ट होता है, मेरा हृदय विदीर्ण हो जाता है जब मैं देखता हूँ कि मेरे पिताके ही पुत्र, मेरे भाई, चेतनके पुत्र होते हुये, जड़का पूजन करते हैं" तो उस समय लोगोंके दिल भर आये। वजीर कर्मसिंहका, अन्य सामग्रीके अतिरिक्त, एक मनसे कम बोझकी मूर्तियाँ न होंगी जिनका वह नित्य पूजन किया करते थे। उन्होंने राय शालिग्रामसे कहा—"कलसे मैं मूर्तिपूजा कदापि न करूँगा।"

पंडित जीके पश्चात् औरोंके भी व्याख्यान हुये। स्वामी प्रकाशानन्दने हँसाते हँसाते लोगोंको लोट पोट कर दिया, किन्तु पंडित गुरुदत्तके व्याख्यानका अन्ततक बड़ा प्रभाव रहा। इस प्रभावका पता उस वाक्यसे लगता था, जो अकस्मात् धर्मसभाके स्तम्भ, पंडित जविन्दलालके मुँहसे आर्य्यसमाज-मन्दिरसे बाहर होते ही निकला। उन्होंने अपने साथियोंसे कहा—"आज मूर्तिपूजा दी 'बो काटे' हो गई।" सचमुच जैसे उस्तादके ढील देनेपर अनाड़ीके हाथ की तुक्कल कटकर नाककी सीधपर चल देती है वैसे ही उपस्थित सज्जनोंके मनोंसे मूर्तिपूजा पलायन कर गयी।

पंडित गुरुदत्त चौमुखी चलते थे

१३ पौष (२८ दिसम्बर) की रातको मैं भाई देवराजजीके यहाँ ही सोया था। १४ पौष (२६ दिसम्बर) को प्रातःकाल स्नान सन्ध्या वन्दनादिसे निवृत्त होकर पंडित गुरुदत्तजीको उनके नियत स्थानमें न पाया; पूछनेपर पता चला कि पण्डित जी दो बजेसे ही स्नान करके एकान्त स्थानमें दर्वाजे बन्दकर अपनी योग-क्रियामें निमग्न हैं। ८ बजे जब किवाड़ खुले तो मुझसे एकान्तमें बातचीत हुई। मैंने

पण्डितजीसे पूछा तो पता लगा कि जबतक एकान्तमें न्याली काम न कर लें तब तक वे अपना अभ्यास नहीं कर सकते। मैंने निवेदन किया कि यदि पूरा अभ्यास जारी रखते हुए बढाना है तब तो उन्हें व्याख्यान लेखादिका कार्य बन्द कर देना चाहिये और यदि यह काम जारी रखना है तो अभ्यासको साधारण अवस्थामें लौटाकर कुछ काल वहीं स्थित करना चाहिये। पण्डितजी मेरे साथ सहमत होते हुए बोले—"मुंशीरामजी! जानता मैं भी सब कुछ हूं किन्तु एक ओर तो अभ्यासका आनन्द नहीं छोड़ा जाता और दूसरी ओर जब सज्जन पुरुष आ घेरते हैं तो उन्हें कोरा जवाब देना मेरी शक्ति से बाहिर हो जाता है"। मैं इस सरल उक्तिका क्या उत्तर दे सकता था? किन्तु अबतक भी कभी कभी रातको एक सर्द आह दिलसे निकलती है; और हृदय पुकार उठता है "हा! गुरुदत्तके मूर्ख मित्रो तथा अन्धे श्रद्धालु भक्तो! यदि तुम जानते कि अपने पूज्य पण्डितजीको दो दो बजे रात तक पठन पाठन और शंका-समाधानके लिये जगाकर तुम उन्हें मौतके मुंहमें धकेल रहे हो तो तुम्हें कितना अनुताप होता?" किन्तु इसमें भी शायद परम पिताकी ओरसे हमारे लिये शिक्षा थी जिसे यदि हम समझते तो कृतार्थ हो जाते।

१४ पौष (२६ दिसम्बर) के सवेरेकी दो घटनाएं मुझे याद हैं। भाई देवराजके कचहरीवाले कमरेमें तीन खिड़कियोंवाले ऊंचे चबूतरे पर संन्यासीमण्डल बैठा हुआ है और उस बड़े दालानके एक ओर एक चारपाई पर पण्डित गुरुदत्तजी लेटे हुए हैं। उनका एक चेला (चौधरी रामभजदत्त) चारपाईकी पाटी पकड़े नीचे बैठा है। गुरु शिष्यमें कुछ गोष्ठी हो रहा है। अकस्मात् मेरा बुलावा होता है। "मुंशीरामजी! इधर आइये" मैं जाकर चारपाई पर बैठ जाता हूं— "कहिये, क्या आज्ञा है?" पण्डितजीने प्रश्न पूछा—"सच कहिये, क्या एक आदमी वकालत करते हुए कन्सेन्शस (Conscientious, पुण्यात्मा) रह सकता है?" मेरे उत्तरमें एक पलकी देर न थी—"मेरा अनुभव यह है कि नहीं रह सकता"। इसपर पण्डितजीने अपने शिष्यसे कहा—"देखो, जिनका तुमने दृष्टान्त दिया था, जब वे भी मानते हैं कि एक धार्मिक मनुष्यके लिये यह पेशा ठीक नहीं तो तुम मुख्तारीका ख्याल क्यों नहीं छोड़ देते। तुम स्वयं शिक्षा ग्रहण कर कहीं शिक्षक बनो, इस प्रकार तुम सैकड़ों युवकोंको सदाचारी बना सकोगे।" रामभजदत्तने अपने गुरुकी आज्ञाको शिरोधार्य समझकर सिर झुका दिया और उसी समयसे मुझे इस युवकके साथ विशेष प्रेम हो गया। प्यारे गुरुदत्त! यदि तुम्हें अकाल मृत्युका ग्रास न बनना पड़ता तो न जाने वीर रामभजदत्त सांसारिक प्रलोभनोंसे सुरक्षित किस उच्च पदको प्राप्त होता। किन्तु—

होइ है सोइ जो राम रचि राखा!!

एक दूसरी घटना दूसरा रंग लिये हुए थी जिसका वर्णन गुरुदत्तकी सत्यप्रियता तथा निर्भयताका परिचय देगी। यह वही व्यसन था जिसका अनुकरण करते हुए मैंने भी बीसों शत्रु बना लिये हैं। बिजवाड़ा ग्राम

(श्री महात्मा हंसराजजीकी जन्मभूमि) के श्री लाला ठाकुरदास रईस धर्म-सभाके जल्सेपर आये हुए थे। वे हमारे स्वामियोंके दर्शनार्थ आये। भाई देवराजने उनपर काम करना आरम्भ किया—"देखिये लालाजी! देवीको जगन्माता कहते और फिर उसके स्थानपर बकरे भैंसे काटते हैं। क्या यही सनातन धर्म है? इत्यादि"। लाला ठाकुरदासजी बूढ़े अनुभवी पुरुष थे, बातको टाल गये। कुछ देरके पश्चात् देवराजजीसे पूछा—"भलाजी, हमारे यहांके चिरञ्जीव हंसराजजी तो आपमें बड़े माननीय हैं।" देवराजजीको और क्या चाहिये था, फिर अलाप शुरु कर दिया—"हंसराजजी तो महात्मा हैं। हम सबमें शिरोमणि हैं। भला बतलाइये कि सनातनधर्म सभामें उनके त्यागका कोई मुकाबिला करनेवाला है? लालाजी, सनातनधर्म हमारा है, वह नहीं जिसे आप समझते हैं।" लाला ठाकुरदासजी बड़ी सरलतासे बोले हमारे "चिरञ्जीव हंसराजजी मांस खाते हैं, फिर जो आचरण अपना एक शिरोमणि महात्मा करता हो, वह पाप कैसे हो सकता है?" बस, फिर क्या था, दो तीन पलके लिये तो सन्नाटा छा गया। स्वामी अच्युतानन्दजीने पण्डित गुरुदत्तको सम्बोधन करके पूछा कि ऐसे घोर आक्षेपका खंडन क्यों नहीं करते? पंडितजीने उत्तर दिया "पांच दिन हुए तब तो खाते थे, अब छोड़ दिया हो तब तो मुझे ज्ञात नहीं।" यह उत्तर अपने अन्दर कितना साहस रखता था, यह बतलानेका आवश्यकता नहीं। यद्यपि ऐसे उत्तरोंने पंडित गुरुदत्तके शत्रुओंकी संख्या बहुत बढ़ा दी थी और अन्तको वह दिन आया कि जिस दयानन्द कालेजकी कृतकार्यताके लिये गुरुदत्तने किसीसे कम परिश्रम नहीं किया था उसके निर्माणकर्ताओंमेंसे उनका नाम ही उड़ा दिया गया।

लाला ठाकुरदास बजवाड़ीके कथनने मुझे बहुत विस्मित किया। मेरे स्वप्नमें भी उस समय तक यह नहीं आसकता था कि एक मनुष्य आर्यसमाजका सभासद होता हुआ भी मांसाहारी हो सकता है। श्री महात्मा हंसराजजीके आत्मत्यागके लिये तो वही श्रद्धा मेरे मनमें स्थिर रही किन्तु मांस-भक्षणके विषयने लाहौरी आर्य-लीडरोंपरसे मेरी श्रद्धा कम कर दी।

उसी शामको धर्म-सभाके जलसेमें पण्डित गुरुदत्तजी फिर गये। दीवान रामजस सी. एस. आइ. कपूर्थले वाले भी वहां उपस्थित थे। वे उठकर आये और पंडित गुरुदत्तजीको हम लोगों सहित अन्दर ले गये। दीवानजीने एक लंबी वक्तृतामें पण्डितजीसे पूछा कि जब दोनों सभाकी माननीय धर्म-पुस्तक एक है तो क्या मेल असम्भव है? पण्डितजीने उत्तर दिया कि असम्भव तो नहीं है किन्तु यदि आप, आज रातको मेरा व्याख्यान सुनें और कल मुझे अपना आशय प्रकट करनेके लिये दो तीन घण्टे दें तो बहुत कुछ हो सकेगा। श्री दीवानजीने प्रतिज्ञा की कि ऐसा ही करेंगे। किन्तु जब आर्यमन्दिरके पास बग्घी पहुंची तो उसके खड़े होते ही मिश्र अछरूमलजीने दीवानजीके पैर पकड़ लिये और कहा—"यदि अब भी तुम उस आर्यका व्याख्यान सुनने जाओगे तो

तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप लगेगा"। दीवानजी मजबूर होकर चले गये और पण्डित गुरुदत्तने अपना अन्तिम व्याख्यान दिया।

पण्डित गुरुदत्तके सत्संगसे इस बार मुझे बड़ा लाभ हुआ। जहाँ मैंने एक अपूर्व नया मित्र बना कर धर्म-प्रचारमें नया उत्साह प्राप्त किया वहां पण्डित गुरुदत्तके मेरे विषयमें सन्देह दूर होगए और उनको मेरे साथ बहुत प्रीति हो गयी। पण्डित गुरुदत्तको न जाने किसने यह विश्वास दिलाया था कि जालन्धर वालोंको, मेरे कारण, ब्राह्मो स्पिरिट है। शायद उनको यह विश्वास इसलिये हुआ हो कि हम जालन्धरियोंका वैयक्तिक प्रेम कुछ ब्राह्म-समाजी भाइयोंके साथ था और वे हमारे उत्सवोंके सङ्कीर्तनमें सम्मिलित हुआ करते थे। पण्डित गुरुदत्तने अपनी भूल मानकर जो दो शब्द कहे थे, उनने हम दोनोंको हमेशाके लिये एक ग्रन्थीमें बांध दिया। पण्डितजीने कहा—"यदि मैं यहां न आता तो शायद हमेशाके लिये एक सहकारीको खो बैठता।"

जालन्धर आर्य्य-समाजके इसी वार्षिकोत्सवपर मैंने उपन्यास-पठन (नाव्हेल रीडिंग) को हमेशाके लिये नमस्ते कह दी थी। उससे पहिले एक वर्षसे मैं इस दुर्व्यसनको त्यागनेका प्रयत्न कर रहा था। किन्तु कृतकार्यता न होती थी। शतरञ्जकी तरह इसने भी बहुत सा समय व्यर्थ खराब कर रखा था। परमेश्वरकी दयासे इसके पश्चात् दोनोंने पिण्ड छोड़ दिया।

इस वार्षिकोत्सवपर बहुत नये सभासद आर्य्यसमाजको मिले। पंडित छज्जूराम जी वकील इसी समय आर्य्यसमाजमें प्रविष्ट हुए थे। वे चार पाँच महीनोंके पश्चात् ही आर्य्यसमाजसे पृथक् हो गये किन्तु उनके बिछोड़ेने भी आर्यसमाज जालन्धरके गौरवका प्रमाण दिया। पंडित छज्जूराम और सब सिद्धान्तोंमें तो आर्यसमाजके साथ सहमत थे परन्तु वेदको ईश्वरीय ज्ञान माननेमें उन्हें संकोच था। उनका त्यागपत्र १० वैशाख, १६४६ विक्रमीके सद्धर्म प्रचारकमें छपा है। शिक्षाप्रद होनेके कारण मैं उसका अनुवाद यहाँ देता हूँ—"आप मेरा नाम आर्यसमाजके मेम्बरोंके रजिस्टरमेंसे खारिज कर दीजिये। संक्षिप्त कारण इस प्रार्थनापत्रका यह है कि मैं तीसरे नियमपर पूरे तौरपर विश्वास नहीं रखता और मैं यह नहीं चाहता कि जबतक मेरा पूरा विश्वास न हो, अपने आपको भी आक्षेपोंका लक्ष्य बनाऊँ और समाजकी सुकीर्त्ति बढ़ाने का साधन होनेके स्थानमें उलटा प्रभाव डालूं। मैं यह भी प्रकट करना चाहता हूँ कि यद्यपि एक नियमपर मेरा विश्वास नहीं है परन्तु मैं बहुतसे अन्य विषयोंमें आर्य्यसमाजके सभासदोंके साथ सहानुभूति रखता हूं, और रखता रहूँगा"। कैसा स्वर्णीय समय था, जब इस प्रकार सचाईका राज्य था, और कहाँ आजका समय कि दुराचारी और आपापन्थी आदमी भी मुंह छिपाकर समाजसे पृथक् होनेके स्थानमें अपना जत्था खड़ा करके समाजमें दन्दनाते और उलटे कोतवालको डांटने वाले चोरके सदृश समाजको कलंकित करते रहते हैं।

इसी समय मेरे दो बड़े भाई और कुछ अन्य सम्बन्धी आर्यसमाजमें प्रविष्ट हुए जिसके कारण मुझे वैदिक सिद्धान्तोंपर चलनेमें अधिक सुगमता हो गयी।

एक अन्तिम लाभ इस उत्सवका एक जैन साधुका आर्य-धर्ममें प्रवेश था। पूजमोनी रिख (पुज्य मुनि ऋषि) नकोदरमें रहता था। मेरे दो व्याख्यान सुन उसकी रुचि वैदिक धर्मकी ओर बढ़ी; अपने दलमें ही शास्त्रार्थ करके जालन्धरमें आ गया। १३ पौष (२८ दिसम्बर) को दो बजे दिनके उसका प्रवेश-संस्कार करके नाम 'ब्रह्मचारी ऋषि' रखा गया।

इस प्रकार यह वार्षिकोत्सव मेरे लिये अनगिनत आशीर्वादकी वर्षा करके समाप्त हुआ।

कृतकार्यताका मद

जालन्धर आर्य-समाजके तृतीय वार्षिकोत्सवकी कृतकार्यताने मुझे ऐसा उन्मत्त कर दिया कि कुछ दिनों तक सब आर्यसमाजी कामोंसे उदासीनताको मैंने अपना अधिकार समझ लिया। उन दिनों मेरे आत्माका क्या आदर्श था, यह जतलानेके लिये मैं अपनी डायरीका अनुवाद नीचे देता हूँ। अनुवाद इसलिये कि उस समय तक कालिजी शिक्षाका प्रभाव दूर नहीं हुआ था और मैं अंग्रेजीमें ही डायरी रखनेका अभ्यासी था।

"ओ३म्—अब सन् १८८६ का आरम्भ है। पहले महीने (जनवरी) के २५ दिनों तक मैंने वास्तवमें कुछ नहीं किया—कुछ भी नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे समाजने जो कृतकार्यता इस उत्सवमें प्राप्त की है उसने मेरी शक्तियोंको सर्वथा शिथिल कर दिया। इस वर्ष हमारे समाजपर परम पिता परमात्माकी बड़ी कृपा हुई है। उसके अनुग्रहके आधिक्यने मुझे विवश कर दिया। यह आश्चर्यकी बात है कि हमसे पापियोंका स्थापन किया हुआ समाज उन्नत हो रहा है। किन्तु जब सोचता हूँ कि उसी परम पिताका सब अनुग्रह है तो आश्चर्य दूर हो जाता है। हे प्रभु! मुझे सब प्रकारका पापकाम-नाओंसे बचाइये; मुझे सत्यकी ओर ले चलिये और वह मेधा प्रदान कीजिये जिसकी खोजमें प्राचीन ऋषि कई जीवन अर्पण कर देते थे। हाँ, सचमुच उत्सवकी कृतकार्यताने मुझे शिथिल कर दिया था, जिससे मैंने आज सायं-काल ही मुक्ति उपलब्ध की है।"

फिर डायरीमें लिखा है—

"शुक्रवार २५ जनवरी—प्रातः उठकर कलका बचा पायोनियर अखबार पढ़ा। फिर स्नान सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर कुछ बहुत ही आवश्यक पत्र लिखे। १० बजे कचहरी गया और न्यायाधीशोंकी कृपासे १ बजे कार्य समाप्त करके समाजमन्दिरमें गया। वहाँ अलावलपुर ग्रामका एक पत्र मिला। व्याख्यानके लिये निमन्त्रण था। उत्तर भेज दिया कि दूसरे दिन आऊँगा। इमारत बन रही है। एक घण्टा समाजका काम किया। तब देवराज जी आकर

मुझे अपने यहां ले गये। वहां वज़ीर कर्मसिंहजी (जिन्होंने मूर्तिपूजा छोड़ दी थी) के साथ बड़ी उत्तम चाय पी। फिर कम्पनीबागमें गया और सर्दार प्रतापसिंह (अहलूवालिया सी. एस. आइ.) और राजकुमार मियां जनमेजयके साथ टेनिसकी तीन बाज़ियां खेलीं। छः बजे घर लौटा। सन्ध्याके पश्चात् सुस्ती छोड़ देनेका प्रण किया, फिर भोजनके पश्चात् ६ बजे तक पढ़ता रहा।

धर्म-प्रचारकी लगन

१३ माघ (२६ जनवरी) को जालन्धर आर्यसमाजके अन्य सभासदों सहित अलावलपुर चल दिया। ३ बजे हम सब अलावलपुर पहुंचे। लोग प्रतीक्षामें बैठे थे, ३½ बजे आर्यसमाजके नियमोंपर व्याख्यान आरम्भ होगया। १½ घण्टे तक मैंने आर्यसमाजका उद्देश्य समझाया, जिसके पश्चात् शंकासमाधानके लिये समय दिया गया। बहुत से प्रश्न हुये जिनका प्रेमपूर्वक उत्तर देकर उसी शामको ७½ बजे जालन्धर लौट आया।

इसके तीसरे दिन १५ माघ (२८ जनवरी) की डायरीमें लिखा है—

"गौरीशंकर आज आया, जिससे बातचीत करनेपर पता लगा कि लसाड़ा ग्राममें हमारे कामके लिये बड़ा मैदान है। बहुत से प्रतिष्ठित ग्राम-निवासी हमारे सिद्धान्तोंके साथ सहानुभूति रखते हैं। गृहस्थ मुझे अपने अन्तरात्माकी आवाज़ सुननेसे रोकता है, नहीं तो बहुत काम हो सकता। फिर भी जो कुछ कर सकता हूं उसके लिये परमात्माको धन्यवाद है।"

इन दिनों अहर्निश वैदिक धर्मको फैलानेकी ही धुन लगी रहती थी। १६ माघ (२६ जनवरी) को दिनरात वर्षा होती रही। कचहरीके कामके अतिरिक्त शेष समय मैंने नये ब्रह्मचारी मुनिऋषिको दिया। उसे ब्रह्मचर्यके नियम समझाकर उससे प्रतिज्ञा ली कि वह विवाहके समय तक बराबर इन नियमोंके अनुकूल चलता रहेगा। इस ब्रह्मचारीने जैनधर्म सम्बन्धी अपनी सब पुस्तकें आर्यसमाज जालन्धरको भेंट कर दी थीं और जब आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाबकी रजिस्ट्री होकर लाहौरमें वैदिक पुस्तकालय खोला गया उस समय वे सब हस्तलिखित पुस्तकें उस पुस्तकालयमें रख दी गयीं। मुझे ज्ञात नहीं कि अब उन स्मरणीय पुस्तकोंकी क्या दशा है।

ब्रह्मचारीसे निबट कर मैंने कई भद्र पुरुषोंको सन्ध्याकी विधि समझायी। इस प्रकारका समय-विभाग नित्य ही रहता था। १७ माघ (३० जनवरी) को प्रातः काल ही अजमेरसे पत्र मिला जिसमें लिखा था कि पौराणिकोंने जालन्धर शहर आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवके विषयमें बहुत कुछ असत्य अपवाद फैलाया है। मैं उसी समय लाहौरकी 'आर्यपत्रिका' के लिये उत्सवका हाल लिखने बैठ गया। फिर कचहरीमें जो भी समय खाली मिलता रहा उसमें यही काम जारी रहा और मुझे चैन न आया जबतक कि उस लेखको समाप्त करके चार बजे डाकमें न डाल दिया।

१६ माघ संवत् १९४५ (१ फरवरी १८८६) के दिन जालन्धरमें गप्प उड़ी कि सनातनधर्म महामण्डलका लाहौरमें बड़ा विजय हुआ है। आर्य-समाजके व्याख्यान बन्द कर दिये गये हैं। जब अपने सभासदोंके लाये हुए इस समाचारपर मुझे विश्वास न आया तो दूसरे दिन वे एक जालन्धरके अनपढ़ ब्राह्मणको ले आये जिसने आंखों देखी साक्षी इस प्रकार दी——"कमिश्नर साहबने आर्यां ते सनातना पंडितां नूं बुलाके शास्त्रार्थ कराया सी। खलकत बेशुमार सी। मैं वी सबकुछ देखदां ते सुणदां सी। दुहां पासियाँ दी गल्लाँ सुणके कमिश्नर साहबने आख्या कि आर्यसमाज मञ्जूर नहीं, हमान्नूं सनातनधर्म मंजूर है।" इस वेतुकी हांकको सुन कर मुझे तो हंसी छूटी किन्तु हमारे सभासद मेरे पीछे ही लगे रहे। तब उसी रातकी रेलमें मैं लाहौर चला गया। वहांका हाल मेरी २१ माघ (३ फरवरी) की वृत्तान्त-पञ्जिकामें इस प्रकार लिखा है:—

"साढ़े सात बजे समाजमन्दिरमें पहुंचा। वहां चिरञ्जीव भी था। वहां पता लगा कि जो किम्वदन्तियां फैलायी गयी थीं और जो कुछ 'कोहनूर' में निकला था वह सब गप्प है। उसी समय सनातनमण्डलके उत्तरमें बाबू मुन्नालाल और स्वामी स्वात्मानन्दजी के व्याख्यान हुए। तब एक बड़े विद्वान् संन्यासी स्वामी महानन्दजीने अपनी सेवा आर्यसमाजके अर्पण की। स्वामीजीके बहुत साधु शिष्य हैं और उनकी विद्याकी पंडित गुरुदत्तने स्वयं प्रशंसा की। उस समय २० अन्य महाशयोंने समाजमें प्रवेशके लिये प्रार्थना-पत्र दिये। यह भी सुनाया गया कि ३५ नये सभासद पहिले प्रविष्ट होचुके हैं। उस समय उत्साहकी लहर चल रही थी। सभा ११ बजे विसर्जित हुई।

भोजनके पश्चात् मैं भी लाला साईंदासजीके यहां गया। वहां स्वामी-गण, लाला हंसराज, लाला मुल्कराज और चिरञ्जीव भी थे। अन्य आवश्यक कार्य उपस्थित हो जानेके पश्चात् मैंने यह विषय उपस्थित किया कि लकार-के फकीर बनते हुए आर्य समाजियोंको पुरानी संकुचित जातियोंमें विवाह-सम्बन्ध परिमित नहीं रखना चाहिये, प्रत्युत गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्थाको व्यवहारमें लाना चाहिये। लाला साईंदासजीने उस समय मुझे परम अत्याचारी (एक्सट्रीम रैडिकल *) की उपाधि दी। वहांसे पंडित गुरुदत्तके पास गया। वे मुझे पंडित-सभामें ले गये, जहां पंडित दीनदयालुजीके मुख-से मूर्तिपूजाका विचित्र मंडन सुना। फिर ८½ बजेकी ट्रेनसे जालन्धर लौटा।"

इन दिनों आर्यभाइयोंको पता लग गया कि मैं धर्ममें राज़ीनामेका सर्वथा विरोधी हूं। इसका एक और उदाहरण मैं अपनी डायरीमेंसे उद्धृत करता हूं।

"५ फरवरी १८८६ मंगल। वसन्तका दिन। प्रातः सन्ध्या अग्निहोत्र करके अन्य सभासदोंको साथ लेता हुआ समाजमन्दिरमें पहुंचा। प्रथम भजन हुए फिर सामूहिक हवन किया गया, इस समय वेदमन्त्रोंका पाठ वास्त-

---

* Extreme radical

समें अनुकूल तथा प्रभावशाली था। फिर ११½ बजे तक अलग होकर प्रीति-भोजन आरम्भ हुआ। सब भाइयोंने मिलकर सहभोज किया जिससे बजे निवृत्त हुए। इसके पश्चात् ४ बजे तक अन्तरङ्ग सभा होती रही। अत्यन्तावश्यक विषय इस अधिवेशनमें एक रामगोपाल नामी पुरुषकी शुद्धिका था, जो कुछ कालसे मुसलमान हो गया था। अन्तरंग सभाने बड़ी निर्बलता दिखायी और उसे स्वयं शुद्ध करनेके स्थानमें अमृतसर भेज दिया।"

यहां यह बतलानेकी आवश्यकता है कि अमृतसर आर्यसमाज एक नत्थूराम पंडितको फांसे हुए था जो स्वयं दक्षिणा लेकर पतितका हरिद्वार भेज देते थे और वहांके पंडेको (ब?) खिला गोबर मलकर स्नान करानेके पश्चात् शुद्धिपत्र दे देते थे, जिसपर अमृतसरके आर्यसमाजकी "बूबेशाही" मोहर लग जाती थी। कहां वह समय और कहां आज, जब कि आर्यसमाजमें जन्मके ईसाई मुसलमानादि भी बेधड़क सम्मिलित हो सकते हैं।

धर्मपरायणताका पहला दृश्य

१४ माघ (२७ जनवरी) को आदित्यवार था। उस दिनके वृत्तान्तमें अपने साप्ताहिक अधिवेशनमें सम्मिलित होनेका हाल लिखते हुए मैंने लिखा था—

"देवराजने 'सत्य' पर बड़ा उत्तम और शिक्षाप्रद व्याख्यान दिया। आजके व्याख्यानमें कुछ विशेष बल था।" मुझे स्मरण है कि उन दिनों देवराजजीपर धर्मका एक विशेष रंग चढ़ा हुआ था। शायद यह व्याख्यान किसी आने वाली घटनाकी सूचना थी। देवराजजीके पिताने उन्हें स्पष्ट लिख दिया था कि यदि आर्यसमाजका प्रचार करना है तो बर्मा आदिकी ओर चले जायं, जालन्धरमें रह कर अपने पिताको मित्रोंसे उलाहना न दिलायें। देवराजजीके सपुर्द अपने परिवारकी रियासतका खजाना था, परन्तु उन्होंने सब हिसाब ठीक करके अपने निज जेब खर्चके डेढ़ सौ रुपये लिये और बर्मा जानेके लिये कलकत्ते चल दिये। तब पिताको होश आया और उन्होंने आदमी भेज कर उन्हें लौटा मंगाया। उधर मैंने नित्य किसी न किसी पासके ग्राममें जाकर वैदिकधर्मका प्रचार आरम्भ कर दिया। इससे राय शालिग्रामजीको भी पता लग गया कि आर्यसमाजके प्रचारका काम किसी विशेष व्यक्तिपर ही निर्भर नहीं है।

देवराजजीके इस अपूर्व साहसका परिणाम यह हुआ कि धर्मके कार्योंमें उनके रास्तेकी रुकावटें दूर हो गयीं। पिताजीकी दृष्टिमें उनका गौरव बढ़ गया और वे बेधड़क काम करने लग गये।

इस अन्तरमें अन्तरंग सभाके अन्दर शुद्धि-विषयक आन्दोलन मैंने जारी रखा और बहुतसे सभासदोंको अपनी सम्मतिके अनुकूल कर लिया किन्तु देवराजजीके लौटनेपर मामला ही स्पष्ट हो गया क्योंकि वे अब "समयके न आने" के ढकोसलेसे मुक्त हो चुके थे। इन दिनों मेरा अधिक समय

समाजके अन्दर प्रचार कामोंमें लगता था क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि कोई भाई भी देवराजजीकी अनुपस्थितिको अनुभव करे। प्रेस और समाचारपत्र चलानेके विचारने मेरा पत्र-व्यवहार भी बढ़ा दिया था, किन्तु इन सब बढ़े हुए कामोंके साथ एक ओर तो मैंने भूमिका लिख कर एक भजन-पुस्तकका आरम्भ कर दिया और दूसरी ओर हर्बर्ट स्पेन्सरकी पुस्तकोंके साथ ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्यका स्वाध्याय भी आरम्भ कर दिया।

इधर यह सब कुछ हो रहा था और उधर अपने ग्राम तलवनसे दो मील दूर अपनी भूमिमें लगवानेके लिये फलोंके वृक्ष भेज रहा था क्योंकि इस समय यही विचार था कि एकान्त सेवनके लिये वहां एक छोटासा बंगला बनवाया जावे।

इन सब कामोंके अतिरिक्त अपनी प्रस्तावित पुत्रीपाठशालाको भी नहीं भूला था, क्योंकि ६ फाल्गुन (२१ फरवरी) को राय बहादुर मास्टर प्यारेलाल इन्सपैक्टर आफ स्कूलसको मिलकर उसके विषयमें बातचीत की थी।

'सद्धर्मप्रचारक'का जन्म

जालन्धर आर्यसमाजके तीसरे वार्षिकोत्सवसे पहिले ही समाजके बढ़ते हुए कामको देख कर अपना एक प्रेस खोलकर समाचारपत्र चलानेका विचार हो रहा था। उन दिनों जालन्धर और होशियारपुरके आर्यसमाजियोंका भाईचारेका सम्बन्ध था, इसलिये महाशय रामचन्द्र भी हमारे विचारके साथ सहमत थे। उन्होंने मुझे लिखा कि यदि आर्यसमाजकी ओरसे समाचारपत्र चलानेके लिये कोई कम्पनी बनायी जावे तो एक हिस्सा वह भी लेंगे, इसपर मैंने दो हिस्से स्वयं लेकर कुल १६ हिस्से २५) पच्चीस रुपयेके स्थिर किये। श्री लाला रामकृष्ण (वर्तमान प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब) जालन्धरमें वकालत करने आ चुके थे और स्थानीय समाजके उप-प्रधान नियत हो चुके थे। वे भी हिस्सेदार हुए। लाला देवराज और लाला शालिग्राम वैश्य (प्रसिद्ध भण्डारी, गुरुकुल कांगड़ी), कपूर्थलेके लाला शरणामल इत्यादिने भी हिस्से लिये।

प्रश्न तो पहिलेसे ही हो रहा था, किन्तु जब लाला देवराजजी चले गये तब सभासदोंको और भी अधिक जोश आया। २ फाल्गुन संवत् १९४५ (१४ फरवरी सन् १८८९) को हिस्सेदारोंकी एक बैठक हुई। कपूर्थलेसे लाला गोविन्द सहायको बुलाया गया था; इन्हींके द्वारा प्रेस आदिका सौदा हो रहा था। उसी शामको सब कुछ निश्चित होकर गोविन्दसहाय जीको ५०) बयाना दिया गया।

निश्चय यह हुआ कि इसका नाम सद्धर्मप्रचारक रखा जाय, और प्रथम वैशाख संवत् १९४६ विक्रमीसे "सद्धर्मप्रचारक" नामी डेमी छोटे आठ पृष्ठोंका एक उर्दू साप्ताहिक पत्र निकालना शुरू किया जाय। लाला देवराज और मैं सम्पादक नियत हुए। कचहरीमें प्रकाशन-पत्र (डिक्लैरेशन) देनेका काम मेरे सुपुर्द हुआ, इसलिये मैं ही मैनेजर नियत हुआ।

अखबारकी नीतिके विषयमें बड़ा झगड़ा पड़ा करता है। उसका फैसला यह हुआ कि सारी नीतिका निर्भर सम्पादकोंपर रखा जाय। उसमें कोई भी हिस्सेदार हस्तक्षेप न करे। यह सब बातें तय करके ४ फाल्गुन (१६ फरवरी) को मैंने यन्त्रालय तथा पत्रकी नीति आदिके विषयमें एक लेख लिखा। प्रेस आदिके आनेपर वही छपाईका पहिला नमूना था, जो हमने सर्वसाधारणके सामने रखा। मैंने उस लेखकी बहुत ढूंढ की किन्तु वह कहीं भी न मिला। इसमें शक नहीं कि 'प्रचारक' के पहिले अङ्कके एडिटोरियलमें देवराज जीने और मुख्य लेख 'सद्धर्मप्रचारक' में मैंने प्रचारककी भविष्य नीति तथा उद्देश्य लिख दिये थे। परन्तु पहिले विज्ञापनमें कुछ अधिक शब्द होंगे क्योंकि जब चैत्रके उत्तरार्द्ध (मार्चके अन्त वा अप्रैलके आरम्भ) में विज्ञापन, बंटनेके लिये मेरे साथ फीरोज़पुरके जल्सेपर गये तो उन्हें पढ़ते ही लाला साईंदासजीने जालन्धरियोंको एक्सट्रीम रैडिकल पार्टी (गरम उदार दल) की उपाधि दे दी थी।

जबसे प्रेसका खोलना निश्चित हुआ तभीसे मैंने स्वाध्यायकी ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया। रातको तो डेढ़ वा दो घण्टे पश्चिमीय विद्वानोंके ग्रन्थ पढ़ता। उन दिनों हर्बर्ट स्पेन्सरके ग्रन्थोंके अतिरिक्त ड्रेपरकृत कनफ्लिक्ट बिट्वीन रेलिजन एण्ड साइन्स, बेनकृत एजूकेशन पेज़ ए साइन्स, गीज़ोकृत हिस्टरी आफ सिविलिज़ेशन, ल्यालकृत एशियाटिक स्टडीज़* आदि तथा इसी प्रकारकी अन्य २० से अधिक पुस्तकें छः मासमें पढ़ीं; ओर प्रातःकाल १½ घण्टे तक सत्यार्थप्रकाश और वेदभाष्यका स्वाध्याय होता। पहले पढ़ी हुई लघुकौमुदीका पुनरावृत्ति भी आरम्भ हुई। यही कारण था कि जब संवत् १९४२ (सन् १८८५) के पश्चात् पहिली बार लाला लाजपत रायने मेरा व्याख्यान फीरोज़पुर आर्य समाजके जल्सेपर सुना तो पूछा था "यह इतनी उन्नति संस्कृतमें कब की?"

प्रेस जब दो सालोंमें भी अधिक घाटेपर चला और १५) प्रतिहिस्सा बढ़ा देनेपर भी घाटा रहा और रामकृष्ण जीसे व्यवहार-निपुण महाशयको प्रबन्धका कार्य देने पर भा प्रेस चलनेकी कोई सूरत दिखायी न दी तो सब हिस्सोंका रुपया मैंने दे दिया और प्रेसका स्वतन्त्र स्वामी बन गया। यह बात मैं भूला नहीं कि कुछ हिस्सेदारोंने अपने हिस्सेके रुपये मुझसे वापिस नहीं लौटाये।

'प्रचारक' का आर्यसामाजिक-जगत्पर क्या प्रभाव रहा? इसने वैदिक धर्मकी क्या सेवा की? सदाचारके फैलानेमें इसने क्या भाग लिया? और समाचारपत्रोंकी लेखनशैलीके संशोधनका इसने कितना काम किया?—इसका इतिहास कोई सद्धर्म-प्रचारकके ऐसे ही प्रेमी लिख सकते हैं जिन्होंने पहले अंकसे अबतकके सब अंक सुरक्षित रखे हैं।

---

*Draper's Conflict between Religion and Science, Bain's Education as a Science, Guizot's History of Civilization, Lyal's Asiatic Studies.

सद्धर्म-प्रचारक यन्त्रालय खुलनेके दिनों आलस्यका नाम न था। पहिले तो हमेशा किसी न किसीकी शङ्काओंका समाधान करता फिर कोई ऐसी सभा (आर्य-सामाजिक व अन्य) न थी जिसकी बैठकमें सम्मिलित न होता। प्रातः सायंके स्वाध्यायका वर्णन कर ही चुका हूं और इन कामोंके साथ ही एक बाल विधवाके विवाहकी भी चिन्ता थी, उसके लिये भी यत्न होता। २२ फाल्गुन (६ मार्च) की डायरीमें लिखा है—"कचहरीसे लौट कर देवराज जीके यहां गया और उन्हें ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकाका एक कठिन स्थल समझाया। वहाँसे लौटती बार एक घण्टा समाज मन्दिरमें ठहरा, जहां परमात्मा और जीवात्माके स्वरूप-भेदपर दो भाइयोंको उपदेश दिया। फिर ब्रह्मचारी मुनि ऋषिको आध घण्टा पढ़ाकर धर्म-सभाके जल्सेमें गया। वहां व्याख्यानोंमें वेदकी महिमाका ही वर्णन था, कोई पन्थाई झगड़ा न था। जालन्धर आर्य समाजके निष्पक्ष भावका प्रभाव पौराणिकोंपर भी पड़ रहा है। धर्म-सभा-मंदिरसे अपने निवास-स्थानको गया जहां मेरी संध्यामें पण्डित बुढ्ढा मल नूरमहलके बड़े साहूकार सम्मिलित हुए। यह वृद्ध महाशय ऐसे प्रभावित हुए कि अग्निहोत्रमें भी भाग लिया। चलते हुए ५०) हमारी भावी पुत्री पाठशालाको दान दे गये। सत्यार्थप्रकाशके स्वाध्यायके पश्चात् मैं ६½ बजे सोनेकी तय्यारी कर रहा था कि मेरे बुलाये हुए रलाराम अपील-नवीस टाण्डासे पधारे और उन्होंने वैसाखीराम साहूकारकी बाल विधवा पुत्रीसे मेरे समझाने पर विवाह करना स्वीकार किया।"

होलीकी छुट्टीपर समाज-मन्दिरमें हवन आदिके पश्चात् सहभोज हुआ। कपूर्थलेके लाला धूमामल भी सम्मिलित थे। उपदेशकोंका अभाव अनुभव करके इस समय निश्चय हुआ कि जालन्धर आर्य-समाजकी ओरसे एक उपदेशक पाठशाला खोली जावे। मैं तो पहिले ही ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द तथा ब्रह्मचारी मुनि ऋषिको पढ़ाया करता था। मैंने भी इस भावी उपदेशक विद्यालयका एक अवैतनिक अध्यापक बनना स्वीकार किया। यह उपदेशक विद्यालय कुछ दिनों ही चलकर बन्द हो गया।

कन्या गुरुकुलकी धुन

सद्धर्म-प्रचारकके दूसरे अङ्कसे ही मैंने एक लेखमालाका आरम्भ कर दिया था जिसका शीर्षक था "अधूरा इन्साफ (न्याय)"। इस लेखमालामें मैंने स्त्रियोंको सुशिक्षिता होनेका पुरुषोंके साथ समानाधिकार जतलाते हुए लिखा था—'स्त्रीको आत्मिक विद्याका वैसा ही अधिकार है जैसा पुरुषोंको, इसलिये जिस प्रकार पुत्रोंको, पवित्र वेदकी आज्ञानुसार, पहिले छोटी आयुमें माता पिताका अधिकार है कि शिक्षा दें और जब यज्ञोपवीत संस्कार हो जावे तो तत्काल ही लड़का गुरुकुलमें भेजा जाना चाहिये, वैसे ही लड़कियोंके साथ भी बर्ताव होना चाहिये"। उस समय मैं दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज-

को ही पुत्रोंके लिये गुरुकुल समझता था इसलिये कन्या गुरुकुलको स्थापित करनेके लिये फीरोजपुरकी पुत्री पाठशालाको उन्नत करनेका प्रस्ताव मैंने पेश किया था। उन्हीं दिनों कंण्टक निवासी लाला धनपतरायने मेरे लेख पढ़कर अपनी पुत्री भगवान देवीका स्वयंवर रचनेका नोटिस दिया था और फीरोजपुरकी पुत्री पाठशालाके साथ आश्रम खोलनेका विचार भी उठा था। आन्दोलन तो इन विषयोंपर बहुत हुआ किन्तु जहाँ कुमारी भगवान देवीके स्वयंवरका शोर मचकर अन्तको एक ब्राह्मण देवताकी कृपासे कुमारीजीका विवाह एक सन्तान रखनेवाले धनाढ्य रंडवेके साथ हो गया वहां फीरोजपुरका प्रस्तावित आश्रम कन्या गुरुकुलका आभासमात्र भी न बन सका।

सत्यार्थ प्रकाशकी कथा

जहाँ धर्मप्रचारके लिये इन दिनों मैं बाहर जाया करता था वहाँ अपनी जातिकी प्राचीन कथा-विधिको पुनर्जीवित करनेका विचार भी मेरे अन्दर काम करने लगा। १० ज्येष्ठ संवत् १९४६ (२४ मई सन् १८८९) से सूदोंके चौकमें सत्यार्थप्रकाशकी कथाका आरम्भ कियागया। जब पहिले दिन कथकड़ बनकर मैं आसनपर बैठा और कथा शुरू की तो केवल २०,२५ आर्य भाई ही मेरे सामने बैठे हुए थे। बाजारका चौगान बड़ा था, इसलिये दूकानें दूर दूर थीं। दूकानदार दूकानोंपर हुक्के गुड़गुड़ाते रहे और हमारी दरीपर न आये, किन्तु जब मैंने ऊंचे स्वरसे वेद मन्त्रोंको पढ़कर उनकी व्याख्या पञ्जाबी बोलीमें आरम्भ की तो शनैः शनैः गुड़गुड़ी हाथमें लिये बहुतसे लाला लोग मेरे समीप आ बैठे। दूसरे दिन उपस्थिति सौके लगभग थी और चार दिनोंके पीछे दो ढाई सौ तक पहुंच गयी। लोग बड़ी श्रद्धासे हमारी धर्म-कथा सुनने लगे और हुक्का आदिका उस स्थानमें लाना बन्द कर दिया। इस प्रकार एक माससे अधिक कथाकी शृंखला चलकर बन्द हो गयी। मुझे एक कार्यविशेषके लिये अपने ग्राममें जाना पड़ा। पीछे पण्डित श्रीपतिजीको व्यासकी गद्दीपर बैठाया गया। पण्डितजीने ईश्वरप्रार्थना ही करायी थी कि आँधी आ गयी और सर्व श्रोतागण उठ खड़े हुए। बस फिर लौटनेपर कुछ न बन सका। वर्षा-ऋतु भी आ गयी थी, जिसके कारण बाहर बैठना कठिन हो गया।

एक आर्यवीर परीक्षामें

जिस चौक सूदोंमें कथा होती थी वहीं जालन्धर धर्मसभाके मन्त्रीकी दूकानें थीं। उनकी दूकान लाला शालिग्राम आर्य (वर्तमान प्रसिद्ध गुरुकुल कांगड़ीके भण्डारी) के भाइयोंके पास किरायेपर थी। धर्मसभाके मन्त्रीका नाम लाला चलन्तराम था। उन्होंने भण्डारीजीके भाइयोंसे कहा कि यदि वे अपने भाईको आर्य-समाजसे अलग न करा लेंगे तो उनसे दूकान छीन ली जायगी। भाइयोंने मिन्नतें कीं, समझाया कि आर्यसमाजमें जाना छोड़ देवें, परन्तु बहादुर शालि-

ग्रामने एक न सुनी। घर छोड़कर समाज-मन्दिरमें डेरा लगाया परन्तु फिर भी निर्दयी धर्म-समाजीने दूकान खाली करा ही ली। तब भाई शालिग्रामको फिर घर ले गये। धर्म-समाजीने तो समझा था कि जब अपनी पैंठकी दूकानसे अलग होंगे तो इनका अनाज न विकेगा और यह सब भूखों मरेंगे। परन्तु मारनेवालेसे रक्षा करनेवाला ज्यादा बलवान होता है। उस समय न बिका हुआ गेहूं कुछ दिनोंके बाद बड़े मंहगे भाव बिका और शालिग्रामके भाइयोंको दुगना लाभ हुआ जिससे उनकी श्रद्धा भी आर्यसमाज और वैदिकधर्मपर बढ़ गयी।

जिन दिनों भण्डारीजी घर छोड़कर आर्यसमाज-मन्दिरमें आ टिके थे उन्हीं दिनोंसे इनके अन्दर देवनागराक्षर और संस्कृत भाषा जाननेका अनुराग अधिक हो गया। मुझसे आर्य-सिद्धान्तोंके विषयमें वे ऐसे प्रश्न किया करते जिनसे मुझे अपनी डायरीमें यह लिखना पड़ा कि इन्हें व्याख्यानदाता बननेका बड़ा चाव है और संस्कृतका शौक ऐसा हुक हुआ कि शायद बीस बार संस्कृत व्याकरणको छोड़ छोड़ कर फिरसे घोटना आरम्भ किया।

श्री पूर्णानन्दजीका प्रवेश

श्री पूर्णानन्दजी भी आर्यसमाजमें उन्हीं दिनों प्रविष्ट हुए। किस प्रकार अपने देश सिन्धसे लड़कपनमें ही ये निकले, किस प्रकार साधुवेशमें विद्या-प्राप्तिका प्रयत्न करते रहे और अन्तको किस प्रकार यह जालन्धर पहुंचकर वहाँके प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित देवीचन्द्रजीसे विद्याध्ययन करने लगे, इन सब प्रश्नोंका उत्तर पंडित पूर्णानन्दजीने पीछे दिया। मैं केवल इतना ही जानता हूं कि जब आर्यसमाज जालन्धर शहरको पहिला वार्षिकोत्सव मनाया जाता था तब मैंने एक युवक साधुको दीवारोंपर लगे वेदमन्त्रादिकी अशुद्धियोंपर कटाक्ष करते देखा। पूछनेपर पता लगा कि इस युवक साधुका नाम "टीकमानन्द" है। जालन्धरकी पढ़ाईसे असन्तुष्ट होकर इस युवक साधुने काशीका रास्ता लिया। वहां वैशाख संवत् १९४६ के उत्तरार्द्ध (सन् १८८९ ई० के मई मासके आरम्भ) में आर्य-समाजके उपदेशक स्वामी रामानन्दजीका व्याख्यान कार्माइकल लाइब्रेरी हालमें सुनकर साधु टीकमानन्दने वैदिकधर्मको ग्रहण किया। इससे पहिले कई साधु आर्यसमाजमें सम्मिलित हुए थे परन्तु किसीने भी आर्य-ग्रन्थोंके पठन-पाठनमें अधिक रुचि न दिखायी थी। इस नये साधुने मतपरिवर्तन करते ही स्वामी रामानन्दसे प्रार्थना की कि वे उसकी पढ़ाईका प्रबन्ध कर दें। स्वामी रामानन्दने टीकमानन्दको "पूर्णानन्द" तो बना दिया किन्तु उनके आर्यग्रन्थ पढ़नेका काशीमें प्रबन्ध न करा सके। तब आर्यसमाजोंमें उपदेशक विद्यालय खोलनेका आन्दोलन करते हुए दोनों संन्यासी महोदय ज्येष्ठके आरम्भ (मई मासके अन्त) में जालन्धर पहुंचे और ३ ज्येष्ठ (२७ मई) के सायंकाल दोनोंके व्याख्यान आर्यसमाज-मन्दिरमें हुए।

उपदेशक क्लासका झगड़ा

जब १६ वैशाख संवत् १९४६ (२ मई सन् १८८९ ई०) को स्वामी रामानन्दजी अपने नये शिष्य पूर्णानन्दजीको लेकर जालन्धर आये थे तब उन्हीं दिनों वहां "द्वावा उपदेशक मण्डली" खोलनेका विचार पक्का हो चुका था। इस मण्डलीके दो विभाग सोचे गये थे—एक 'संङ्गीत-मण्डली' और दूसरी 'उपदेश-मण्डली'। १३ ज्येष्ठ (२७मई) को स्वामी रामानन्दने बाल संन्यासी टीकमानन्दके 'पूर्णानन्द' बननेका हाल सुनाया और पूर्णानन्द जीने भी कुछ कहा। स्वामी रामानन्दने काशीमें उपदेशक पाठशाला खोलनेका विचार प्रकट कर मुझसे सहायता मांगी। मैंने उन्हें कहा कि काशी तो पौराणिकोंका गढ़ है, उपदेशक पाठशालाका चलना कठिन है, क्यों न लाहौरमें प्रयत्न किया जाय जहां दयानन्द कालिजसे भी अच्छी सहायता मिल सकती है। स्वामी रामानन्द जीको मेरी सम्मति पसन्द आयी और वह लाहौर चले गये। वहां पंडित गुरुदत्तजी तथा उनके सहायकोंने भी सम्मति दी और उपदेशक-क्लासकी अपीलपर अपने हस्ताक्षर कर दिये। स्वामी रामानन्दजी पूर्णानन्द जीको साथ लेकर ५ आषाढ़ (१६ जून) की दोपहरकी रेलसे मेरे पास लौट आये। स्वामी रामानन्दजी तो चन्दा जमा करने चल दिये किन्तु पूर्णानन्द जीको सन्तोष न हुआ। वे एक दिन भी व्यर्थ गंवाना नहीं चाहते थे। उसी समय पता लगा कि स्वामी पूर्णानन्द जीके एक पुराने परिचित विद्वान् कपूर्थलेमें पढ़ाया करते हैं। स्वामी पूर्णानन्दजी पढ़नेके लिये उन्हींके पास जानेको तय्यार हो गये। इस सम्बन्धमें १७ आषाढ़ १९४६ के सद्धर्म-प्रचारकमें जालन्धरका निम्न समाचार निकला था-"स्वामी रामानन्दजी होशियारपुर २१ जूनके प्रातः उपदेशक क्लासके आन्दोलनके लिये गये थे, वहांसे लौटकर २५ जूनको लाहौर चले गये। अबतक ३०) मासिक चन्दा लिखा चुके हैं। ईश्वर कृतकार्य करें। स्वामी पूर्णानन्द जी जालन्धर-समाजकी ओरसे दर्शनोंकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये कपूर्थले भेजे गये।"

पाठक काषाय-वस्त्रधारियोंमें स्वामी और साधुका भेद देखकर कुछ विस्मित से होंगे। परन्तु उस समय, न जाने क्यों, जहां पुराने प्रविष्ट भंगवे-पोशोंको आर्यसमाजमें स्वामीकी उपाधि मिलती थी वहां नयोंको साधु ही कहा जाता था। साधु पूर्णानन्दजी भी जब सानपर चढ़कर इस्पात सिद्ध हुए तो उन्हें भी श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ही कहा जाने लगा।

जिनके टेढ़े प्रश्नपर उपदेशक क्लासका आन्दोलन आरम्भ हुआ वह तो विद्याध्ययनके लिये अलग जा बैठे और सारा बखेड़ा मेरे गले पड़ गया। उन दिनों पण्डित गुरुदत्तजी लाहौरकी सामाजिक व्यवस्थासे अप्रसन्न थे। एक ओर तो उनकी यह शिकायत थी कि दयानन्द कालिजके बोर्डिंग हाउसमें मांसके 'बावरचीखाने' हैं और दूसरी ओर राय मूलराजसे वेदों और वेद-

कर्त्ता परमात्मा तकको जवाब देनेवाले आर्यसमाजके अगुआ बने हुए हैं। उन दिनों राय नारायणदास एम. ए. बहादुर पण्डित गुरुदत्तके अनन्य भक्त थे। उन्हींकी चेष्टापर भक्त ईश्वरदास एम. ए. के स्थानमें एकसम्मेलन हुआ जिसमें पंडित गुरुदत्तजीने स्पष्ट शब्दोंमें उपर्युक्त विषयोंपर अपनी सम्मति प्रकट की। विस्तारपूर्वक उस सम्मेलनका वर्णन उचित स्थानपर होगा; यहां जतलानेसे यह तात्पर्य है कि पण्डित गुरुदत्तसे राय मूलराजके सब अनुयायी उपर्युक्त कारणसे रुष्ट हो चुके थे। इसीलिये जब उपदेशक क्लासके आन्दोलनको दयानंद कालिजके अधिकारियोंने टाला, और मैंने अपनी स्वतन्त्र सम्मतिसे 'प्रचारक' में लिख दिया कि जबतक दयानन्द कालिज कमेटी उपदेशक क्लासको अपने अधीन खोलना स्वीकार न करे तबतक उक्त कार्यके लिये धन श्री पण्डित गुरुदत्तके नामपर भेजा जाया करे, तब राय मूलराज और उनके अनुयायी गुरुदत्तके पीछे हाथ धोकर पड़ गये। कभी गुरुडमकी बुनियाद डालनेका दोष उनपर लगाया, कभी कालिजकी "प्रिन्सिपलशिप" का अभिलाषी उन्हें बतलाया। तात्पर्य यह कि जितने मुंह उतनी बातें पण्डित गुरुदत्तके सम्बंधमें गढ़ी जाने लगीं।

पंडित गुरुदत्त तो अपनी प्रकृतिके अनुसार इन सब लाञ्छनोंका उत्तर मौन साधकर देते थे, किन्तु मुझे उचित उत्तर देनेके लिये बाधित होना पड़ा। तीन वर्षों तक यह झगड़ा खूब चला, जिसका वृत्तान्त प्रचारकके १, २, ३ भागोंमें बड़ा ही शिक्षाप्रद है। आर्यसमाजमें घरू युद्धका यह झगड़ा प्रस्तावमात्र था और इसलिये जब कभी आर्यसमाजका इतिहास लिखा जाय उस समय प्रचारकके प्रथम तीन वर्षों की फाइल उस इतिहासकी पूर्तिमें बड़ी सहायता देगी।

यहांपर स्वामी रामानन्दजीके विषयमें इतना ही लिख कर समाप्त करता हूं कि उपदेशक क्लासके लिये बहुत साधन एकत्र करा तथा पर्याप्त मासिक लिखानेके पश्चात् उक्त स्वामीजी बीमार हो गये। उनकी अवस्था ऐसी बिगड़ गयी कि सिविलसर्जनने भी रोग असाध्य कहकर इलाज छोड़ दिया, तब मेरे मित्र राजकुमार जनमेजयके पुराने हकीम शेरअलीके इलाजसे स्वामी जी उठ बैठे। इसी इलाजके कारण मैंने पूर्ण श्रद्धासे हकीम शेरअलीको भी पंडित गुरुदत्तजीके इलाजके लिये भेजा था जिसका आश्चर्यमय वर्णन आगे आवेगा। स्वामी रामानन्द जी बीमारीकी खटियासे उठकर जो संवत् १९४६ वि० के अन्तमें गये तो फिर मुझे उनके दर्शन ही न हुए।

पंडित गुरुदत्तके अन्तिम दिवस

संवत् १९४६ का बड़ा भाग मैंने पंडित गुरुदत्तजीके सत्संग तथा दूरसे ही उनकी सेवामें बिताया। मैं लिख चुका हूं कि श्रद्धालु भक्तोंने श्रद्धासम्पन्न गुरुदत्तको दिन रात घेर कर उनके स्वास्थ्यको बिगाड़ दिया था। साथ ही विरोधी लोग मांसका झगड़ा छेड़कर अहिंसक गुरुदत्तको बड़ा कष्ट देते थे और वह सब कुछ सहते थे।

इस सम्बन्धमें एक कहानी बड़ी मनोरञ्जक है जिससे गुरुदत्तकी अपूर्व वाक्‌चातुरीका पता लगता है। एक बार एक एम. ए. महाशय, जो एक बड़े सरकारी पदाधिकारी थे और साथ ही प्रेमचन्द रायचन्द स्कालर * भी पंडित गुरुदत्तके पास आकर बोले- 'पंडित जी! आयुर्वेदका क्या बनाओगे? शुश्रुतमें तो मांस-भक्षणकी खुली आज्ञा है।" उत्तर मिला-"कुछ है तो, परन्तु क्या आप शुश्रुतके उपदेशानुसार आचरण करोगे?" एम० ए० महाशय चकित होकर पूछने लगे-"क्या आप मांस भक्षण को ठीक मानने लग गये?" उत्तर मिला-"मैं ठीक मानने लगा या नहीं, इससे कुछ प्रयोजन नहीं। परन्तु यदि मांस खाना हो तो उत्तम ही खाना चाहिये। सो सबसे उत्तम मांस मनुष्यका मांस ही है। मनुष्योंमेंसे भी यदि एम. ए. का हो तो अत्युत्तम, और फिर यदि प्रेमचन्द रायचन्द स्कालरका कहीं मिल जाय, तो सोनेपर सुहागा। अतीव उत्तम भोजन होगा।" एम० ए० महाशय नमस्ते कहकर रफ्फूचक्कर हो गये।

उन दिनों एक ओर तो पंडित गुरुदत्तको क्षय-रोगका प्रारम्भ था और दूसरी ओर उनके विरुद्ध विचित्र प्रकारके प्रवाद फैलाये जा रहे थे। कभी कहा जाता कि वह दयानन्द कालिजके प्रिंसिपल-पदके अभिलाषी हैं, कभी कहा जाता कि भंगवे धारण कर लिये हैं और गुरु बनना चाहते हैं, कभी यह गप्प उड़ायी जाती कि वह सारे उपदेशकोंको वशमें करके मनमानी चलाना चाहते हैं। बड़ी बात यह थी कि जिन लाला साईंदासजीने बड़े यत्नसे गुरुदत्तको आर्यसमाजका रत्न बनाया था, जिनका सचमुच गुरुदत्तके साथ पिता पुत्रका सम्बन्ध था, उनको लोग बराबर भड़काते थे। एक बार शायद ज्येष्ठ, १६४६ के अन्तमें लाहौर पहुंच कर यह सब बातें सुनीं। पंडित गुरुदत्तजीके पास गया और अपनी प्रकृतिके अनुसार उनसे सीधे प्रश्न पूछे। मुझे वे प्रश्नोत्तर अभी तक याद हैं।

मैं—' पंडितजी! यह आपके प्रति क्या जनश्रुतियां फैल रही हैं? लोग कहते हैं कि आप दयानन्द कालिजके प्रिन्सिपल-पदके अभिलाषी हैं और मुझे कालिज कमेटीके एक अधिकारीने बतलाया है कि आपने कालिजके प्रोफेसर-पदको इस लिये स्वीकार नहीं किया कि आप प्रिन्सिपल बनना चाहते हैं।"

पं० जी—"मेरी तो कोई अभिलाषा प्रिन्सिपल बननेकी नहीं। जिस कालिजके लिये मैंने स्वयं धन दिया और भिक्षा मांगी उससे वेतन कैसे लूं? मुझे निकम्मा समझ कृपा करके अधिकारियोंने साइन्सका प्रोफेसर बनाना चाहा था। मैंने उत्तर दिया कि वेतन लेकर तो काम करूंगा नहीं—हां, दो तीन घण्टे वैसे ही पढ़ा दिया करूंगा, परन्तु साइन्स नहीं प्रत्युत वेद। उन्होंने मुझसे वेद पढ़वाना माना नहीं और बात समाप्त हो गयी"। उसी समय मास्टर दुर्गाप्रसादजी आगये जिन्होंने बतलाया कि पंडित गुरुदत्तको पता नहीं है परन्तु उन्होंने (मास्टर दुर्गाप्रसाद) लाला लालचन्दजी-प्रधानसे कहा था कि

* Prem chand Raychand scholar

वैदिक कालिजका प्रिन्सिपल वेदका जानने वाला ही होना चाहिए। फिर मैंने पूछा—"क्या आपने न्यासियोंका वेश धारण कर लिया है?" उत्तर मिला—'अब धन तो पास है नहीं और गर्मियोंके दिन हैं, धोबीको बहुत पैसे क्यों दूं? मैंने घर पहिरनेका कुर्ता रंग लिया है जिसे नित्य धो लेता हूं।" मैंने फिर पूछा—'यह बहुतसे भंगवेपोश चेले क्यों मूंडे हैं?" इसपर पंडितजी कुछ दुःखी हुए और बोले—"मुंशीरामजी! यह संन्यासी महात्मा सब मेरे गुरु हैं। इनके विषयमें ऐसा प्रवाद सुनकर मुझे खेद होता है।"

गुरुदत्त जीके पास होकर मैं लाला साईंदासजीकी सेवामें गया और उनको सब कुछ कह सुनाया। फिर मैंने कहा—"लालाजी! गुरुदत्त आपके पुत्रवत् हैं। पिता पुत्रमें लोग तो द्वेष फैलानेका प्रयत्न करते हैं, आप क्यों नहीं स्वयम् गुरुदत्तसे स्पष्ट बातचीत करते।" श्रीलाला साईंदासजीको मेरी बात पसन्द आयी और वह मेरे साथ पंडित गुरुदत्तके मकानको चल दिये। यदि उस दिन पंडित गुरुदत्त घर होते तो शायद आर्यसमाजका इतिहास भी बदल जाता, परन्तु वह बाहर भ्रमणको चले गये थे। मैं जालन्धरको चला आया और जब दूसरी बार लाहौर गया तो रोगी गुरुदत्त, मित्रोंके अनुरोध पर मरी पर्वत पर सर्दार उमराव सिंह मजीठियाके अतिथि बनकर चले गये थे।

पंडित गुरुदत्तकी अकाल मृत्यु

मरी पर्वतसे; हितैषियोंके रोकते हुए भी, पंडित गुरुदत्त अपने प्रिय समाजोंमेंसे एक (पेशावर आर्यसमाज) के वार्षिकोत्सवमें सम्मिलित हुए। ऐसे कर्मवीरके लिये विश्रामके कुछ अर्थ ही न थे। पेशावरसे अधिक बीमार होकर लाहौर लौटे। तब मुझे पंडित गुरुदत्तके दर्शन लाहौर आर्यसमाजके उत्सवपर हुए। इन्हीं दिनोंमें दयानन्द कालिज कमेटीका भी अधिवेशन हुआ करता था। और किसी कार्यमें तो पंडित जी सम्मिलित न हो सके; केवल कालिज कमेटीके उत्सवपर पहुंचे। अभी अधिवेशन आरम्भ होनेमें देर थी, पंडित गुरुदत्त निर्बलताके कारण बेञ्चपर लेट गये। उसी वर्षसे दयानन्द कालिजमें आर्यग्रन्थकी शिक्षापर बल दिया जाने लगा था।

यह पहिला वर्ष था, जब लाहौर आर्यसमाजके उत्सवकी वेदी वेदज्ञ गुरुदत्तकी विद्यमानतासे वञ्चित रही। पंडित गुरुदत्तका स्थान लाला लाजपतरायने लिया और व्याख्यानोंका क्रम ही बदल गया। इसके पश्चात् पंडित गुरुदत्तका रोग बढ़ता गया। पंडित जी अपने पूर्णभक्त रामनारायणदास जीके यहाँ गुजरांवाले पहुँच गये। डाक्टर फतहचन्द सिविलसर्जन बड़े योग्य वैद्य समझे जाते थे, उन्हींकी कोठीमें पण्डित गुरुदत्तकी चिकित्सा शुरू हुई। डाक्टर फतहचन्दने बड़ी सेवा की, भोजन तक अपने हाथसे बनाकर खिलाया, परन्तु रोगका पता न लगा। तब लाहौर मेडिकल कालेजके प्रसिद्ध डाक्टर मलरोनीको बुलाया गया। पंडित गुरुदत्तने पहिले उन्हींकी परीक्षा लेनी आरम्भ की और जब उनकी

योग्यताका विश्वास होगया तो विश्वासपूर्वक उनसे शरीर-परीक्षा करायी। डाक्टर मलरोनीकी सम्मतिमें रोग क्षय (थायसिस) न था। परन्तु उन्होंने यह कहा "गुरुदत्तका मस्तिष्क दिन रात काम करता है। ऐसा उद्योगी पुरुष मैंने कभी देखा नहीं। यदि इनको स्वस्थ करना हो तो किसी ऐसे वायुमण्डलमें ले जाओ जहां मस्तिष्क काम करना ही छोड़ दे।" आर्यपुरुष यह सुन कर प्रसन्न तो हुए कि क्षयरोग नहीं परन्तु डाक्टर मलरोनीकी चेतावनीपर किसीने भी ध्यान न दिया।

संवत् १९४६ के अन्ततक मैं पंडित गुरुदत्तकी शारीरिक अवस्थाके कारण कोई और काम न कर सका। लाहौरमें पहुंचते ही जालन्धरसे हकीम शेरअलीको इलाजके लिये भेजा गया था। उनकी औषधका अद्भुत चमत्कार, पंडित गुरुदत्तकी जालन्धरके लिए तय्यारी, कुपथ्यके कारण फिर बीमार होना, फिर पंडित जनार्दनकी चिकित्सा और उससे निराश होकर फिर अंग्रेजी इलाज, रोगका भयानक रूप धारण करना और "शान्तिसरोवरमें स्नान" की उत्कण्ठा-पूर्वक विद्या तथा बुद्धिके अवतार गुरुदत्तका प्राण त्याग करना, ऐसी घटनाएं हैं जिनका वर्णन हो नहीं सकता। यद्यपि पंडित गुरुदत्तका जीवन लिखा जा चुका है परन्तु उनके पवित्र जीवनसे जो शिक्षा ली जा सकती है उसका अन्तरीय सार अब तक सर्वसाधारणके सामने नहीं आया। वह सार भी सर्वसाधारणके सामने रखा हुआ, निस्सार ही सिद्ध होगा क्योंकि ऐसे महान् आत्माके साथ सम्बन्ध हुए बिना उसके जीवनका वास्तविक रहस्य प्रकट नहीं होता।

पंडित गुरुदत्तको तीन आर्यसमाजोंसे बड़ा प्रेम था-पेशावर, क्वेटा और जालन्धर। तीनोंसे प्रेमका प्रेरक कारण एक ही था। तीनों आर्यसमाजोंमें सभासदोंके सदाचारपर बड़ा बल दिया जाता था। पंडित गुरुदत्तकी मृत्यु ५ चैत्र संवत् १९४६ (१९ मार्च १८९०) के दिन हुई। १ चैत्र १९४६ (१५ मार्च १८९०) के प्रचारकमें लिखा है—"क्वेटा आर्यसमाजकी योग्य अन्तरङ्ग सभाने निश्चय किया है कि आगेके लिये मद्य-मांसका सेवन करने वालोंको समाजकी सभासदीमें न लिया जाय और वर्तमान सभासदोंको नोटिस दिया गया है कि १ जुलाई तक इन नियमविरुद्ध आचरणोंसे मुक्ति लाभ करें। क्वेटा समाजकी यह रिपरिट सराहनीय है। अन्य आर्य-समाजोंको भी इसका अनुकरण करना चाहिये।"

पेशावर आर्यसमाजमें सदाचारपर इतना बल था कि यदि कोई सभासद निर्बलताके कारण किसी आचारमें शिथिल हो जाता तो आज कलकी तरह कुछ लुंगाड़े साथ मिलाकर भलेमानसोंकी पगड़ियां उतारना शुरू न कर देता, प्रत्युत प्रार्थनापत्र पेश कर देता कि जबतक वह नियम पालनमें दृढ़ न हो जाय उसका नाम चन्दा देने वाले सहायकोंमें लिखा जाय; और जालन्धर आर्यसमाजमें तो नवप्रविष्ट आर्यकी दस महीनों तक परीक्षा करके उसे आर्यसभासद बनाया जाता था।

पंडित गुरुदत्तके कार्यों का वर्णन इस लेखमालामें आगे भी कभी कभी आवेगा। परन्तु उनकी योग्यताका एक दृष्टान्त देना यहां आवश्यक है। अपनी मृत्युके एक वर्ष पहिले तक पंडित गुरुदत्त ही दयानन्द कालिजके लिये धन एकत्र करनेके अद्वितीय साधन थे और इस कालिजकी उन्नतिका बड़ा आधार उनपर था। परन्तु आज उस संस्थामें उनका नामलेवा भी कोई नहीं। सच्चे शास्त्रार्थोंके वह भीष्म थे परन्तु आज इसको कोई जानता भी नहीं। किन्तु एक काम है जिसपरसे गुरुदत्तका नाम मिटानेकी शक्ति किसी व्यक्तिमें भी नहीं है। वह वैदिक मेगज़ीनके तीन अंकोंके लेख हैं जिन्होंने फ्रांस और इङ्गलैण्डमें हलचल मचा दी थी। जब जीवात्मा विषयक उनका पहिला लेख निकला था तब जालन्धरके बड़े योग्य अंग्रेजीदां लोगोंको भी उसके समझनेके लिये वार वारवार उस लेखकी आवृत्ति करनी पड़ी थी और अब तक योरप और अमेरिकामें आर्यसमाजके उच्च विचार फैलानेका गुरुदत्तके लेखोंके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। जो उपनिषद् व्याख्याका क्रम पंडित गुरुदत्तने अंग्रेजीमें आरम्भ किया था उसको भी आगे ले चलने वाला कोई उत्पन्न न हुआ। वैदिक मेगज़ीनका नाममात्र के लिये पुनरुज्जीवन किया गया, परन्तु उसे सचमुच वेदोंका प्रचारक बनानेमें अभी बड़ी मञ्जिलें बाकी हैं।

एक वर्षकी कठिन परीक्षा

पण्डित गुरुदत्तकी मृत्युसे पहिले ही मेरी धार्मिक परीक्षा आरम्भ हो गयी थी। स्त्री-शिक्षाके भक्त लाला देवराजके बड़े भाई श्री बालकरामजी मेरे बड़े मित्र थे। उनका उल्लेख इस लेखमालामें कई वार आ चुका है। इसका कारण शायद यह भी था कि मेरी धर्मपत्नीको उनके सब भाइयोंमेंसे यही अधिक प्यार करते थे। जिन निर्बलताओंमें बालकरामजीके साथ मैं सहकारी रह चुका था उनसे स्वयं मुक्त होनेपर मैं उनको भी उनसे मुक्त कराना चाहता था इसलिये उनसे बड़ा गाढ़ा सम्बन्ध था। संवत् १९४६ का श्रावण मास मेरे लिये बड़ा कष्टदायक सिद्ध हुआ। एक ओर तो प्रस्तावित उपदेशकश्रेणी-के झगड़ोंको सामने रखकर पण्डित गुरुदत्तके विरोधी उनपर कटाक्ष करते थे जिसका अज्ञात साधन वे मुझे बना लेते थे। मैंने कहीं लिख दिया कि जबतक उपदेशकश्रेणीका खोलना दयानन्द कालिज कमेटी वा आर्यप्रतिनिधि सभा नियमपूर्वक स्वीकार न करले तबतक उक्त श्रेणीके लिये धन पण्डित गुरुदत्तके पास भेजा जाय। फिर क्या था, शोर मचाकर आकाश और पाताल एक कर दिया गया। मनुष्यपूजाकी बुनियाद पड़ रही है, गुरुदत्तकी आधार-शिला रखी जा रही है—इत्यादि। यह कोलाहल वे लोग मचाते थे जो सब संस्थाओंको अपने स्वार्थका साधन बनानेका प्रयत्न कर रहे थे और उन्होंने संगठनके सब नियमोंको पांव तले रौंद डाला।

दूसरी ओर उसी महीने अनावृष्टिके कारण गर्मी बहुत पड़ी। मुझे अच्छी तरह याद है कि उस श्रावणकी तीन चार रातें ऐसी भयानक व्यतीत हुईं कि नगरकी घनी बस्तीसे व्याकुल होकर मेरे कई मित्र मेरे खुले अहातेमें आते और रातको दो दो बार मेरे ठण्डे पानीके कूपपर स्नान करनेके लिये डोलको खटखटाते रहते।

ऐसी अवस्थामें प्रचारकका संपादन तथा साथ ही आर्यसमाजका अन्य कार्य और इसपर इमारत बननेके कारण धन कमानेकी आवश्यकता कचहरीको घसीट रही थी और सबसे बढ़कर हैज़े का आक्रमण,—विचित्र दशा हो रही थी। यह अवस्था थी जब श्रावणके अन्तिम दिवस १४ अगस्त, १८८६ ई॰ की रातको लाला बालकरामका देहान्त हो गया। आर्यसमाज जालन्धरने अनावृष्टिके चिन्ह देखते ही बड़े बड़े यज्ञोंपर बल दिया था। बज़ाज़े वाले बड़े चौकमें जिस दिन हवन हुआ, उस दिन पूर्णाहुति पड़ते ही, मूसलधार वर्षा होने लग गयी। हम लोगोंने उठकर शामियानेके बीचमें बांसकी चोब लगा हवनकुण्डकी रक्षा की और दो घंटेतक हरिकीर्तनसे बाज़ारको गुंजा दिया। यज्ञकी तय्यारीके समय जो दूकानदार विरोध कर रहे थे वे हम लोगोंके धर्म-प्रेमकी नुमाइशको देख आपसे आप खिंच आये और हमारा साथ देने लगे। सारे शहरमें धूम मच गयी कि आर्योंके हवनने अनावृष्टिको दूर कर दिया और १५ स्थानोंसे हवनके लिये वहीं निमंत्रण मिल गया।

वर्षा तो हुई परन्तु हैजा साथ ही फूट निकला, और बालकरामजीकी अकाल मृत्युने शहरमें भूचाल डाल दिया। वकील और रईस बाहरको भागने लगे और आर्यपुरुष अपने कर्तव्यको समझते हुए बीमारोंकी सेवामें लगे रहे।

बालकरामजीके देहान्तपर मेरे सारे परिवारको कष्ट हुआ। मेरी धर्मपत्नी बड़ी लज्जावती थीं और इसलिये उनमें दिखलावेका लेशमात्र भी स्वभाव न था। दुःखको प्रकट करनेसे, रो पीटकर, कुछ कालमें शान्तिसी आजाती है, परन्तु हृदयकी गहराईमें कष्टको अनुभव करने वालेकी सहनःशक्तिका कुछ पारावार ही नहीं। सौभाग्यवती शिवदेवीको जो दुःख हुआ उसे घरका कोई भी व्यक्ति, उनकी माता वा मेरे अतिरिक्त, न समझ सका।

जिस समय बालकरामजीकी मृत्यु हुई, उनके पिता घर न थे और सबसे छोटे भाई पिताके साथ गये हुए थे। भक्तरामजी उस समय इङ्गलैण्डमें बैठे बैरिस्टरीकी तय्यारी कर रहे थे। घरमें केवल देवराज ही थे, जिनका कोमल हृदय व्याकुल हो जाता यदि मैं पास न होता। दिन रात मुझे उनके पास रहना पड़ा। इसी समय मुझे छूटा हुआ हुक्केका रोग फिरसे आ लगा। पृथ्वीपर सोनेका कभी अभ्यास न था। श्री देवराजजीकी बिरादरीके सबलोग आकर ज़मीनपर सोते थे; मुझे भी भूमिपर सोना पड़ता था। तीसरी रातको पेटमें असह्य पीड़ा होने लगी। बहुत यत्न किये, जो औषधियां थीं, उनसे काम लिया गया; ज़ीरेका तेज अर्क मिला उसका भी सेवन किया परन्तु दर्द दूर न हुआ। तब उपस्थित वैद्यने चिलममें कुछ रखकर दम लग-

पाया. जिससे पीड़ा दूर हो गयी। सम्भव है कि पीड़ा-निवृत्ति अन्य औषधियों-का ही परिणाम हो, परन्तु मुझे स्वयं हुक्का पीने वाले डाक्टरने निश्चय दिलाया कि जिस व्यक्तिने वर्षों हुक्के की गुलामी की हो उसे अपनी पाचनशक्तिकी सहायताके लिये हुक्के की शरण फिरसे लेनी चाहिये। दूसरे दिनसे ही हुक्केबाज़ीका आरम्भ हो गया, परन्तु दूसरी बार जो दो वर्षोंके पश्चात् इस व्यसनको तिलांजलि दी, तो आजतक यही नहीं कि इस व्यसनका नाम नहीं लिया प्रत्युत इसकी बदौलत बहुतसे और व्यसनोंसे भी मुक्ति लाभ की।

इस मौतपर भी आर्यसमाजके सभासदोंने विचित्र शान्त अवस्थाका दृश्य दिखाया। बालकरामजी म्यूनिसिपल कमिश्नर थे, आनरेरी मजिस्ट्रेट थे, सब राष्ट्रीय सभाओंके उत्तेजक थे, इसलिये उनकी मौतपर जहां एक दिन मण्डी बन्द रही, म्यूनिसिपल बोर्ड स्कूल बन्द रहा, यहां तक कि सनातनधर्म-सभाने भी इसी शोकमें अपनी सभाका साप्ताहिक अधिवेशन बन्द कर दिया, वहां आर्यसमाजका साप्ताहिक अधिवेशन बराबर हुआ और मैंने ईश्वर-प्रार्थना करके पूर्ववत् ही उपदेश दिया। जालन्धर आर्यसमाजमें उन दिनों कुछ विचित्र ही भाव काम करते थे जिनका अब प्रायः आर्यसमाजोंमें अभाव सा देख पड़ता है।

श्री बालकरामजीकी अकाल मृत्युने मेरी धर्मपत्नीको बहुत उदास कर दिया था, इसलिये सितम्बरकी छुट्टियोंमे उन्हें दोनों पुत्रियों तथा हरिश्चन्द्रको साथ लेकर मैं हरिद्वार पहुँचा। हरिद्वारमें कुछ वर्षों पहिले मैं केवल एक दिन रहकर ऋषिकेश देखने गया था। यह उन दिनों सचमुच तपोभूमि थी, अब मालूम हुआ है कि अच्छा खासा शहर बस गया है। १८ वर्ष गुरुकुलमें रहते हुए मैं अब तक एक बार भी ऋषिकेश नहीं गया। एक दिन १८८९ के सितम्बर (संवत् १९४६ के भाद्रपद) में मेंह बरसतेमें हम सब हरिद्वार पहुंचे। हरिश्चन्द्रकी आयु उस समय दो वर्षकी थी। हम कपूर्थलेकी हवेलीमें उतरे थे। हमारे आँगनके सामने ही गङ्गा बहती थी। हरिश्चन्द्रने कुञ्जियोंका गुच्छा खेलते खेलते जोरसे गङ्गामें फेंक दिया। जब ढूंढ़ पड़ी तो गंगाकी ओर बेपरवाहीसे हाथ बढ़ा कर बोला "वह गयीं, कुञ्जियाँ बह गयीं।" हम सब हंस पड़े और घर लौटनेपर हमें सब ताले तुड़वाने पड़े। हरिश्चन्द्रकी निरपेक्षता बहुत पुरानी है। मेरे 'आर्य समाज' नामरूपी वज्र-प्रहारपर भी पंडाजीने आही घेरा। हमारा पंडा था भलामानस; बोलाः—"मुझे तो सेवा करनी है चाहे कुछ देना वा न देना।" पंडे यात्रियोंको चारपाईपर सोनेसे मना किया करते हैं। हमारे पंडेने चारपाइयां ला दीं। नित्य घरसे बांसका आचार तथा दही लाकर देने लगा। पांच दिन इतना सुख पहुंचाया जो २०) व्यय करनेपर भी न मिल सकता। मैंने चलते समय ५) भेंट किये जिसे उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। मैंने तो समझा कि पण्डाजी घाटेमें रहे परन्तु पण्डानीजीने मेरी धर्मपत्नीके पास पहुंचकर ५) और वसूल कर लिये।

अब तो पण्डाजीका हौसला बड़ा बढ़ गया। उन्होंने खोलकर वही सामने रख दी और बोले—"यजमान! आप आर्य समाजी हैं तो हम भी आपसे मूर्ति पूजाके लिये नहीं कहते, परन्तु यह तो लिख दीजिये कि इस यात्रामें मैंने आपकी सेवा की थी। मैंने लिख दिया—"हरिद्वारमें सैरके लिये आया, यदि यहां पण्डे और बन्दर न हों तो स्थान बड़ा रमणीय, और निवासके योग्य है।" उस समय पंडाजीने बड़ी प्रसन्नतासे समझा कि मैदान मार लिया है, परन्तु जब पीछेसे किसीसे पढ़वाया होगा (क्योंकि प्रायः पण्डोंके लिये काला अक्षर भैंस बराबर होता है) तो मुझे खूब सुनायी होगी।

मैं अपने एक वृद्ध सम्बन्धीको साथ लाया था जिनके साथ परिवारको अपने ग्राम तलवन पहुंचाने भेज दिया और मैंने मेरठकी ओर प्रस्थान किया। डाकूर रामचन्द्रजी मेरे पुराने परिचित तथा सम्बन्धी भी थे, उनके यहां मैंने डेरा किया। इसी समय "रामचन्द्र वैश्य, लालाका बाजार, मेरठ, से मिला। इनका नाम, लालाका बाजारसे अलग, समझमें ही नहीं आ सकता था। शोक कि यह महाशय अब मर चुके हैं। उस समय वह देव-समाजी गुरु अग्नि-होत्रीके बड़े चेले थे। डाकूर भी उन्हें अग्निहोत्री कह कर पुकारा करते थे। मुझसे मिलकर वह आर्यसमाजकी ओर झुक गये और उसके पश्चात् दूसरे वर्ष ही अपनी धर्मपत्नी सहित पञ्जाबमें दौरेके लिये आये थे। मेरठमें पहुंचकर मैंने २३ भाद्रपद (८ सितम्बर आदित्यवार) को स्थानीय समाजमन्दिरमें "अमर-जीवन" विषयपर उपदेश दिया। बड़ा चबूतरा था जिसपर दरियां बिछ गयीं। चारो तरफ लैम्पोंकी रोशनी भी हो गयी। उपस्थिति २५ की थी, एक एककी लाइन बन गयी। स्थान ४०० तकका समेट लिया और श्रोता केवल २५ बैठे। अन्य लैम्प तो बड़े उत्तम परन्तु उपदेशककी चौकीपर एक बड़ी मैली पुरानी लालटेन थी जिसके शीशोंपर मट्टी चढ़ी हुई थी और अन्दर धुन्धला सा दिया जल रहा था। जब लैम्प लानेको कहा गया तो उत्तर मिला—"यह श्री स्वामी दयानन्दजीके समयकी लालटेन है, यह न बदलेगी'। अस्तु। एक नये पण्डित नौकरीके लिये बुलाये गये थे, उनकी परीक्षा होनी थी। वह ईश्वरोपासनाके लिये बैठाये गये। उनको परीक्षा देनी थी इसलिये एक एक शब्द व्याकरणकी रीतिसे सिद्ध करते करते उन्होंने बहुत समय ले लिया। तत्पश्चात् मैंने अपना कथन कह डाला। भजनोंका कोई प्रबन्ध न था। अन्तमें एक वेद मंत्र बोलकर अधिवेशन समाप्त हुआ करता था। परन्तु उस समय नये पण्डितजी किसी कार्यके लिये चले गये थे। सब एक दूसरेका मुंह ताकने लगे, तब एक भद्र-पुरुषने कहा—'चन्द्रभानजी! आप भी तो ब्राह्मण हैं, मंत्र बोल दीजिये। तब पता लगा कि सभा-विसर्जनका मंत्र ब्राह्मण कुलोत्पन्नको ही बोलना चाहिये। इससे पांच मास पश्चात् यही लीला मैंने राजा साहब मण्डाके यहां देखी, जो सायंकालकी संध्याके लिये उस समय तक नहीं उठा करते थे, जबतक पंडित विद्यासागर जी एक विशेष श्लोक चेतावनीका न बोल देते थे।

मेरा उपदेश सुनकर युवकोंने आग्रह किया कि मैं व्याख्यान दूं, परन्तु कठिनाई यह हुई कि विना अन्तरंग सभाकी आज्ञाके मेज-कुर्सी लगाकर व्याख्यान नहीं हो सकता था। इसलिये यह ठहरी कि मैं अपने भाई साहेबसे, जो बहादुरगढ़में थानेदार थे, मिलने चला जाऊं और लौटते हुए व्याख्यान दूं, तबतक अन्तरङ्ग सभाका जल्सा हो चुकेगा।

बहादुरगढ़में भाद्रपद २८, २६ (१३ और १४ सितम्बर) को व्याख्यान देकर मैं फिर मेरठ लौटा और ३० भाद्रपद (१५ सितंबर) को फिर उपदेश दिया। मैंने चाहा कि भजन कीर्तनकी प्रथा यहां चला दूं, इसलिये एक युवकको हारमोनियम बजानेपर राज़ी भी कर लिया। परन्तु समयपर उसको इतने ताने मिले कि उसने बजानेमें लज्जा प्रकट की। डाक्टर रामचन्द्रजीको साथ ले मैंने वैसे ही भजन गाया तब कुछ और भाई भी सम्मिलित हो गये। जब इससे तीन चार साल बाद उत्सवपर नगरकीर्तन कराया गया था उस समय भी मेरठके बाजारियोंने खूब फबतियाँ उड़ायी थीं।

अबकी बार तो मेज़कुर्सी भी लग गयी और अढ़ाई तीन सौकी उपस्थितिमें मैं दो व्याख्यान देकर जालन्धर लौट आया।

कार्तिकमें आर्यसमाज अमृतसरके जलसेपर मैंने दो व्याख्यान दिये थे, परन्तु उसी समयसे पंडित गुरुदत्तका रोग बढ़ने लगा और मेरे लिए हर सप्ताह लाहौर जाना एक आवश्यक कार्य हो गया। यद्यपि पंडित गुरुदत्तजीकी बीमारीकी चिन्ता अधिक थी, परन्तु इससे धर्मके कार्यों में कुछ शिथिलता नहीं आती थी। इन्हीं दिनों वैदिकधर्मका सन्देश सर्वसाधारण तक पहुंचानेका मैंने दृढ़व्रत धारण किया था।

जालन्धर प्रान्तमें शास्त्रार्थोंकी धूम

मैं लिख चुका हूं कि स्वामी रामानन्द, युवक संन्यासी पूर्णानन्दको वैदिकधर्मकी शरणमें लाये थे। वह स्वामी पूर्णानन्दजी कपूर्थले अपने पुराने परिचित पंडित हरिकृष्णके पास छः दर्शनोंकी पुनरावृत्ति करने गये थे। उक्त पंडित जीने हमारे संन्यासीको पुराणोंके हेर-फेरमें ही फंसा रखा और कपूर्थलाके अर्थसचिव मिश्र अछरूमलजीने उन्हें तङ्ग करना शुरू किया। तब स्वामी पूर्णानन्दजीने विज्ञापन देकर १५, १६, १७ कार्तिक (१, २, ३ नवम्बर) को प्रातः खूब व्याख्यान दिये और पौराणिक मतकी पोल खोली। मुझे भी स्वामीजीने सूचना भेज दी थी। एक ओर तो स्वामी जीकी ओरसे सूचना आयी और दूसरी ओरसे मिश्र अछरूमल जीका खुला चैलेञ्ज था कि यदि मैं कपूर्थलेमें प्रचारके लिये जाऊंगा तो वह मुझे गिरफ्तार करा लेंगे। मैंने १६ कार्तिक (२ नवम्बर) को ही दीवान अछरूमलजीको सूचना भेज दी और १७ कार्तिक (३ नवम्बर) को व्याख्यानके लिये पहुंच गया। मिश्र अछरूमल कट्टर सनातनी थे, इसलिये आर्यसमाजके सभासद उन्हें दूरसे छेड़ा करते थे। एक

आर्य लड़का मेरे व्याख्यानका विज्ञापन मिश्रजीके मकानकी दीवारपर लगा आया। उन्होंने उसे पढ़ते ही फड़वाकर पांच छः कलसे पानीसे दीवारको धुलवा डाला। मेरे व्याख्यानमें एक महाशय बोले, मैंने उनसे ही प्रश्नोत्तर आरम्भ कर दिये। मिश्रजीके कहनेपर कोई मजिस्ट्रेट तो मेरे नाम वारण्ट गिरफ्तारी देने को तय्यार न हुआ, परन्तु कुछ दङ्गई लुच्चे अवश्य व्याख्यान-गृहकी छत-पर आ बैठे और उनमेंसे एकने पक्की ईंट मेरी खोपड़ीको ताककर फेंकी। सच कहा है—'मारने वालेसे बचानेवाला प्रबल है।' जब ईंट ताककर चलायी गयी तो मेरा सिर उसके निशानेमें था परन्तु मैं दूसरी ओर मुंह करके उधर सम्बोधन कर जा खड़ा हुआ और ईंट जोरसे मेजपर जा पड़ी। ८०० के लगभग श्रोतागण थे जो प्रायः हमारी ओर हो चुके थे, कुछने उन लुच्चोंको पकड़ लिया और उनका मुंह बन्द कर बाहर छोड़ आये। कपूर्थलेपर इसके पश्चात् कई धावे हुए परन्तु दीवान अछरूमलकी धमकी, धमकी ही रही।

इस समय एक ओर तो स्वामी लक्ष्मणानन्दजी कुछ दिनों तक प्राणायामकी शिक्षा कुछ आर्य सभासदोंको देते रहे और दूसरी ओर स्वामी पूर्णानन्दजीने संस्कृतकी पढ़ाई आरम्भ कर दी। उन दिनों मैंने भी फिरसे स्वामीजीके आगे पत्रे रखे और लाला रामकृष्णजी प्रधान तथा कुछ अन्य सभासद भी पढ़ने लगे थे जिनमें सुकेतके राजकुमार जनमेजय मुख्य थे।

जालन्धर आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवसे लगभग २२ दिन पहिले मंडीके राजा विजयसेनजीने जालन्धर आकर यह इच्छा प्रकट की कि आर्यसमाज और सनातनधर्मके सभाके मन्तव्य, दोनोंके प्रसिद्ध व्याख्याताओं द्वारा सुनें। ११ मार्गशीर्ष १९४६ के दिन यह प्रसिद्ध धर्म-चर्चा आरम्भ हुई जिस दिन श्री राजा साहब आर्यसमाजके सिद्धान्तोंसे परिचित हुये। राजा साहब पौराणिक थे इसलिये पटियालेके प्रसिद्ध राजपण्डित श्री कृष्णशास्त्री राजा साहबको सहायता देते रहे और प्रश्नोंके उत्तर में, स्वामी पूर्णानन्द तथा श्री देवराजजी देते रहे। राजा साहबने बहुत विषयोंमें आर्यसमाजके मन्तव्योंसे सहमति प्रकट की और भोलेपनसे कहा—"आपकी सब बातें हम मान लेंगे परन्तु मूर्तिपूजा मनावेंगे"। इधरसे उत्तर मिला—"महाराज ! देखिये कौन किसको मना लेता है !" दूसरे दिन पंडित आर्यमुनि तथा पंडित श्रीकृष्ण शास्त्रीका इस विषयपर शास्त्रार्थ हुआ कि वेदमें साकार पूजाका विधान है वा निराकार पूजाका। इस शास्त्रार्थका बड़ा प्रभाव पड़ा और नगरमें धूम मच गयी।

पौष संवत् १९४६ के पूर्वार्द्धमें (दिसम्बर १८८९ के अन्त में) जालन्धर और लुधियाना आर्यसमाजोंमें सम्मिलित हुआ और उन्हींके काममें फंसा रहा। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दने भी इन्हीं दिनों स्वामी पूर्णानन्दजीसे विद्याध्ययन करना आरम्भ किया। द्वाबा उपदेशक-मण्डलीने भी इन्हीं दिनों कार्य्यारम्भ किया। जालन्धर आर्यसमाजका ओर आर्य जनताकी विशेष दृष्टि पड़ने लगी। यह हालत थी जब शिकारपुरी पण्डित प्रीतमदेव शर्म्मा जाल-

न्धर पधारे। उदासी केशवानन्दके अनुकरणमें इन्होंने भी आर्य समाजको गालियां देकर ही, सनातनियोंसे अपना उल्लू सीधा करना शुरू किया। प्रीतमदेव कुछ मन्तव्योंमें आर्यसमाजके साथ सहमत भी थे परन्तु जब स्वामी दयानन्दको गाली देते तो 'सनातन धर्मकी जय' बोलकर धर्म-सभाके साथ सारा मतभेद भूल जाते। जालंधर आर्यसमाजने लाहौरी आर्यसमाजियोंके तानोंसे तङ्ग आकर इस समय स्वयम् ही इस व्यक्तिका मुक़ाबिला किया। अपने सभासदों द्वारा ही उसके व्याख्यानोंका खण्डन कराया और शास्त्रार्थके लिये भी तय्यार हो गये। परन्तु धर्मसभाने उसकी जिम्मेदारीसे इन्कार कर दिया। इस हलचलमें भी आर्यसमाजको कुछ नये सभासद मिले। प्रीतम शर्म्माके भड़कानेसे एक युवक आर्य दौलतरामको उसके पिताने घरसे निकाल दिया। दौलतरामने बड़ी दृढ़ता दिखायी और समाज-मन्दिरमें निवास आरम्भ किया। समाजने इस युवककी शिक्षाका भार अपने ऊपर लिया फिर ठीक आयु होनेसे उसका विवाह एक आर्य कन्यासे करा दिया, और उसे धन कमानेके योग्य कर परिवार पालनेके योग्य बना दिया।

प्रीतम शर्म्माका हम लोगोंने न केवल जालंधर छावनी तक ही पीछा किया प्रत्युत होशियारपुरमें भी स्वामी पूर्णानन्द तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दको भेजनेके अतिरिक्त मैंने भी व्याख्यान दिये और जो शङ्काएं वह सत्यार्थप्रकाशमें दिये प्रमाणों पर उठाता, उनका समाधान पुराणों द्वारा उसके पास पहुंचा देता।

५ चैत्र संवत् १९४६ (१९ मार्च १८९०) को पंडित गुरुदत्तका देहान्त हुआ। शोक-सभामें सम्मिलित होनेके पश्चात् चिरकाल तक मैंने लाहौरके दर्शन न किये। पंडित गुरुदत्तके जीवनसे दिव्य आत्मिक ज्ञान उपलब्ध करने जाया करता था और श्री लाला साईंदासके अनुभवसे शिक्षा प्राप्त किया करता था, परन्तु पण्डित गुरुदत्तके बिछोड़ेका दुःख अभी कम नहीं हुआ था कि ३० ज्येष्ठ संवत् १९४७ (१३ जून १८९० ई०) को लाला साईंदास भी ५१ सालकी आयुमें इस भौतिक शरीरको त्याग गये। अब लाहौरके साथ कोई विशेष लगाव न रहा। 'प्रचारक' में मेरे नोट वर्तमान विषयोंपर होते थे और मर्त्यलोककी खबर लाते थे, श्री देवराजजीके नोट आकाशमें उड़ान भरते थे।

लाहौरकी झगड़ालू रंग-भूमिसे छुटकारा पाकर मैं संवत् १९४७ में बड़े उपयोगी कामोंमें लगा रहा। 'प्रचारक' के कुछ अंकोंमें आर्यपुत्री पाठशालाके न खुलनेपर अपने ऊपर फटकार डालनेके पश्चात् आखिर वह कन्या पाठशाला खुल गयी जिसे आज हम "कन्या महाविद्यालय" के रूपमें देखते हैं। इसके अतिरिक्त धर्म प्रचार में भी अत्यन्त अधिक भाग लिया। फगवाड़ाको सर करके हमारे धार्मिक योद्धा ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दजी पधियाने पहुंचे। वहां भी उन्होंने हलचल डाल दी जिसके कारण मुझे वहां भी पहुंचना पड़ा। वहां वैदिक धर्मका खूब प्रचार हुआ। छः छः घण्टोंतक व्याख्यान हुए। क्रम यह था—मैंने आधे घण्टेतक धर्म विषयपर कहते हुए दूसरे यम (सत्य) की व्याख्या

आरम्भ की, एक भाई बोल उठे कि है तो ठीक, परन्तु कलियुगमें 'सत्य' कैसे चल सकता है। मैंने उस भाईको सम्बोधन करके 'कलियुग' की व्याख्या आरम्भ कर दी इसपर किसी भाईने कुछ और शंका उठाई जिसपर तीसरा विषय आरम्भ हो गया। अन्तको वहाँ बड़ा प्रबल आर्यसमाज स्थापित हुआ।

पञ्जाबके ग्रामोंमें, साधारण बुद्धि तथा विद्या रखनेवाला मनुष्य धर्म-प्रचार नहीं कर सकता। वहाँ ब्रह्म पदको पहुंची हुई स्त्रियोंके अतिरिक्त साधारण कृषिकार भी ब्रह्मज्ञानी ही नहीं प्रत्युत चारवाकोंके कान कतरनेवाले भी मिल जाते हैं। इसी प्रकारके एक साधारण व्यक्तिसे ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दकी बड़ी मनोरञ्जक बातचीत हुई।

रतजगा करके मैं पभियाने पहुंचा, इसलिये भोजन करके लेट गया। केवल कौपीन धारण किये एक नंगा जाट भादोंकी धूपमें घास काटकर लाया था, घासका गट्ठर उतारकर विश्रामके लिये ब्रह्मचारीजीके पास बैठ गया। ब्रह्मचारीजीका पहिलेसे परिचित मालूम देता था। वे उसे ईश्वरका अस्तित्व समझाने लगे। उसने कुछ बेढ़ब सा उत्तर दिया; ब्रह्मचारीजी बोले--"क्या प्राचीन शास्त्रकार ऋषि महात्मा सब मूर्ख थे? वे सब ईश्वरवादी थे।" जाट मुस्किराकर बोला—"मेरी गल्ल सुनलओ। रातनूं गली विच्च खिड़क होई। कुत्ता भौंकन लग्गा। सारे पिण्ड दे कुत्तेयांने चक्क लिता। खिड़क सुननवाले कुत्तेने सिर चक्कके देखया तां कुछ न दिसा। ओह तां सौ गया पर पिण्ड दे कुत्ते सारी रात भौंक दे ही रहे।"

ज्यों ज्यों जाटकी अकाट्य युक्तिको मैं सुनता त्यों त्यों हँसी, विवश होकर, बाहर आती थी। मतलब उसका यह था कि जब एकने भ्रमसे ईश्वर कह दिया तो लाखों उसके चेले "ईश्वर" "ईश्वर" ही! कहने लगे। पहलेका तो भ्रम दूर हो गया परन्तु उसके चेले उसी धुनमें राग अलापते रहे। इसलिये मूर्खोंकी साक्षी कोई युक्ति नहीं है। मुझे ब्रह्मचारीजीकी फँसावटपर दया आयी और मैंने बहुपक्षकी दलीलको छोड़कर उसके साथ उस गँवारी भाषामें उसी प्रकारका विवाद आरम्भ कर दिया, फिर वह बड़े प्रेमसे मेरे व्याख्यानोंमें अच्छे वस्त्र पहिनकर आया और अन्तको हमारा सहायक बन गया।

भादों और असौजके महीनोंमें भी मैं बराबर धर्म-प्रचारके लिये बाहर जाता रहा। नवां शहर और राहोंकी इस निमित्तसे दो बार यात्रा की। जहाँ सवारी न मिली वहाँ पैदल चलकर समयपर पहुंच अपना कर्त्तव्य पालन किया। इन्हीं यात्राओंमें एक बार इक्का ऊपर आ गिरा और माथेमें ऐसा घाव लगा जिसका निशान अबतक बाकी है।

संवत् १६५० में कई बार अपने ग्राम तलवनको जाते और आते हुए नूरमहल तथा नकोदर आदि स्थानोंमें धर्म-प्रचार करता रहा। विशेष प्रचारका कार्य ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दजी करते रहे। इन्हीं दिनों अटकमें दुकान करने वाले अमृतसर-निवासी लाला धनपतरायने सद्धर्म-प्रचारक द्वारा अपनी पुत्रीके लिये

स्वयम्वर विवाहका नोटिस दिया था। उसपर कई प्रसिद्ध आर्य-समाजियोंकी विचित्र प्रकारकी सम्मतियाँ निकली थीं जो इस समय बड़ी मनोरञ्जक प्रतीत होंगी; इनके उत्तर देनेमें मेरा बहुत समय लगा था। फिर 'द्वाबा गुरुदासपुर उप-प्रतिनिधि सभा' का संघटन भी इन्हीं दिनों किया गया था जिसका विशेष काम मुझे ही करना पड़ता था। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द इस उपप्रतिनिधिके अधीन बड़ा सन्तोषजनक काम करते रहे। ब्रह्मचारी जीको कामकी बड़ी लगन थी। जालन्धरके इर्द गिर्द इन दिनों खूब जोर शोरसे प्रचार हुआ। आर्य पुरुषोंमें उन दिनों कितनी दृढ़ता और शान्तिप्रियताका सञ्चार था यह एक दृष्टान्तसे ही विदित हो जायगा। शेखकी बस्तीमें पंडित श्री पतिजी अध्यापक आर्य-समाज जालन्धरने अपने गृहपर आर्य पुरुषोंको धर्म-प्रचारके लिये निमंत्रित किया। बीचमें विघ्न डालनेके लिये विरोधी पौराणिकोंने झाँझ बजाये, ढोलक पीटा और पञ्जाबी गन्दा गीत गाया। परन्तु उपासक ईश्वरोपासनामें मग्न रहे और जब प्रचारकने इसपर भी दृढ़तासे उपदेश आरम्भ कर दिया और शान्तिको हाथसे न छोड़ा तो श्रोताओंपर बड़ा प्रभाव पड़ा और विघ्न डालने वाले लज्जित होकर लौट गये।

इसी वर्ष मार्गशीर्षमें श्री पूर्णानन्दजीने ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दको साथ लेकर द्वाबा गुरुदासपुर उप-प्रतिनिधिकी ओरसे विना वेतन प्रचार आरम्भ कर दिया। श्री पूर्णानन्दजी तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दजीने उस समयसे जिस प्रेमसे जीवनपर्यन्त वैदिक धर्मका प्रचार किया उसका वर्णन बड़ी विस्तृत पुस्तकमें ही आ सकता है। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दजी तो वर्षों तक पञ्जाबमें धर्म-प्रचार करनेके पश्चात् काशी जा विराजे और वहांसे वैदिक धर्मोपदेशक-मण्डली बनाकर निकलनेका शुभ विचार था परन्तु उनकी आयु थोड़ी ही थी। योगाभ्यास करते हुए, सीमासे अधिक परिश्रमके कारण पहिले मस्तिष्कमें विकार हुआ और फिर उनका देहान्त हो गया।

इस वर्ष आर्यसमाज लाहौरके वार्षिकोत्सवमें मैं सम्मिलित तो हुआ परन्तु लाहौरियोंके साथ अधिक सम्बन्ध न जोड़ सका। यह पहला अवसर था कि पंडित गुरुदत्तका स्थान लाहौर आर्यसमाजके प्लेटफार्मपर लाला लाजपतरायने लिया और उसे उन्होंने उस समय निभाया भी बड़ी उत्तमतासे। उस समय उनका सिद्धान्त यह था कि "योरोपमें केवल प्रकृतिकी उपासनामें ही विद्वान् लगे हुए हैं और आर्यावर्तमें आत्मिक जगत्‌की ओर ऋषियोंके समयमें पदार्थ विद्या और ब्रह्मविद्याका मिलाप ही उपनिषद् जैसे ग्रन्थोंके निर्माणका कारण हुआ है। इसलिये जबतक आर्यावर्तकी ब्रह्मविद्याको पदार्थविद्याकी कसौटीपर नहीं परखा जाता तबतक जीवनका वास्तविक उद्देश्य ज्ञात नहीं हो सकता। इस कसौटीपर ब्रह्मविद्याको परखने वाला भी समयकी आवश्यकतानुसार उत्पन्न हुआ और हमें दिखला गया कि जीवनका परमोद्देश्य क्या है"? अन्तमें दयानन्द कालिजके लिये अपील करते हुए श्री लाजपतराय जीने कहा कि—'प्राकृतिक धनको अमूल्य जीवनसे बदलकर अपनी सन्तानके लिये एक स्मारक छोड़ जाओ'।

मांस विषयपर आन्दोलन इन दिनों छिड़ चुका था। २७ मार्गशीर्ष १९४७ के प्रचारकमें स्पष्ट लिखा है कि—"मांस-भक्षणपर दो दल हो रहे हैं।" इसके पश्चात् इस प्रश्नका चित्र कुछ भयानक सा होता गया। स्त्रियोंको उच्च शिक्षाका अधिकार है या नहीं? इसपर भी खूब विचार हुआ करता था। प्रचारक मांस-भक्षणको पाप तथा देवियोंको उच्चशिक्षाका अधिकार बतलाने वाला था।

इसी वर्ष जालन्धर आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवपर 'दोआबा गुरुदासपुर उपप्रतिनिधि'के नियम स्वीकृत हुए। इस सभाका प्रधान मैं बना और मन्त्री श्री रामकृष्णजी वर्तमान प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब। श्री पूर्णानन्दजी इस सभाके प्रथम उपदेशक बन ही चुके थे। बड़े ज़ोरसे प्रचारका कार्य शुरू हो गया।

जालन्धरसे मैं लुधियाना आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवमें सम्मिलित हुआ जहां आर्यसमाज सम्बन्धी विशेष कार्य हुए। इन्हीं दिनों प्रो० मैक्समूलरने अपना प्रसिद्ध—"सत्य-सूक्त" लिखा था जिसपर प्रचारकमें बड़ा जबर्दस्त नोट निकला।

हरद्वारका कुम्भ मेला ऋषि दयानन्दकी मृत्युके पश्चात् पहिली बार ही आनेवाला था। संक्रान्त वैशाख १९४८ को स्नानका दिन था। 'प्रचारक' में इसकी तय्यारीके लिये बहुतसे लेख निकले परन्तु उस आन्दोलनको बीचमें ही छोड़कर मुझे जालन्धर त्यागना पड़ा।

"सुकेत" पहाड़में एक छोटीसी रियासत है। उसके राजा दुष्टनिकन्दन सेनपर प्रजाकी ओरसे कई अभियोग चलाये गये थे। मनुष्य-घात, डाका, लूटमार, सभी प्रकारके दोष प्रजाने लगाये थे। राजाके चचा मियाँ शिवसिंह रियासतसे निकाले हुए चिरकालसे जालन्धरमें थे, उनके भी घरको राजाने लूट लिया था। एक लाखका उन्होंने दावा किया था। राजाने कमिश्नर साहबको जज मान लिया और स्वीकार किया कि जो दण्ड वह निश्चित करेंगे, राजा सहन करनेको तय्यार हो जायगें। तब मियाँ शिवसिंह सुकेत बुलाये गये और उन्होंने वहाँ पहुँचते ही मुझे अपनी तथा अन्य प्रजाकी ओरसे वकील नियतकर बुलानेके लिये तार दिया।

सुकेत जानेसे पहिले मेरे अन्दर विचित्र देवासुर-संग्राम हो रहा था। २७ पौष संवत् १९४७ (११ जनवरी, १८९१) की डायरीमें लिखा है—"मैं अपने गत दो वर्षोंके जीवनसे सन्तुष्ट नहीं हूँ, यद्यपि मैंने उस बीचमें आर्यसमाजकी बहुत सेवा की है। मैंने लगभग अकेले ही "सद्धर्मप्रचारक" का सम्पादन किया है, वर्ण-व्यवस्थापर एक ट्रैक्ट लिखा है, कुछ शास्त्रार्थ भी किये और बहुतसे व्याख्यान वैदिक धर्मके प्रचारार्थ दिये। परन्तु क्या मेरी आत्मिक अवस्थामें वास्तविक उन्नति हुई है? हे हमारे मनोंको जानने वाले! तू ही जानता है कि इस दिखावेमें कैसी अपवित्र चेष्टाय छिपी हुई हैं। हे प्राणेश्वर! मुझे बल दो कि मैं धर्म-मार्ग पर चल सकूं और सत्यपर दृढ़ रहूँ।"

उस समयके लेखोंसे ज्ञात होता है कि वकालत छोड़नेके लिये हृदयमें हलचल मच चुकी थी। १२ जनवरी १८६१ ई० (२८ पौष १६४७) की डायरीमें एक महन्तके दुराचारका हाल लिखकर और संन्यासाश्रमकी दुरवस्थाका वर्णन कर लिखा है—"इस प्रकारकी घटनायें जतलाती हैं कि मातृभूमिके पुनरुद्धारके लिये बड़े तपयुक्त आत्मसमर्पणकी आवश्यकता है।"—उसी दिन कचहरीमें जानेका हाल लिखा है—"बार-रूम (वकीलोंके कमरे) में वकील भाइयोंके साथ इस पेशेके धर्माधर्म विषयमें बातचीत हुई। मैं बार २ अपने आत्मासे प्रश्न कर रहा हूँ कि वैदिक धर्मकी सेवाका व्रत धारण करते हुए क्या मैं वकील रह सकता हूँ। मार्ग क्या है, कौन बतलायगा? अपने स्वामी परम पितासे ही कल्याण-मार्ग पूछना चाहिये। यह संशयात्मकता ठीक नहीं। अपने देश तथा धर्मकी सेवाके लिये पूरा आत्म-समर्पण करना चाहिये। परन्तु परिवार भी एक बड़ी रुकावट है। मैं संदिग्ध अवस्थामें हूँ। कुछ निश्चय शीघ्र होना चाहिये। कृष्ण भगवान्ने कहा है—"संशयात्मा विनश्यति" पिता! तुम्हीं पथ-दर्शक हो"।

सुकेतमें १७ दिवस

२ माघ संवत् १६४७ (१५ जनवरी १८६१) की शामको होशियार पुर पहुंचा ३ माघ (१६ जनवरी) को प्रातः पहाड़ी डोलीमें सवार होकर चला। रास्तेमें बराबर मेंह बरसता रहा। दिन रात कहार बदलते रहे। ५ माघ (१८ जनवरी) को १२ बजे दिनके हटरी स्थानपर पहुँचा। हटरीपर रियासत मण्डीका एक कारिन्दा रहता था। उसके मकानपर डालीसे उतर कर नयी सवारीपर सवार होना था जिसे पालकी कहा जाता था। परन्तु जब वह ढांचा सामने आया तो सिवाय दो बांसके लट्ठोंपर एक छोटी पीढ़ीके और कुछ न था। सचमुच 'नाम बड़े और दर्शन थोड़े' थे। कारिन्दाजीके बाल बच्चोंमें मैंने सारी मिठाई बांट दी। उस समय सूर्य भगवान यौवनावस्थामें उदित थे और मैंने स्नान करके कारिन्दाजीका निमन्त्रण स्वीकार किया। बिना धोई छिलके वाली उड़दकी दाल और आलुओंके साथ मण्डों (फुलकों) का जो स्वाद उस समय आया वह शायद जन्मभरमें ४, ५ बार ही अनुभव किया होगा।

भोजनसे निवृत्त होकर पालको नामिनी पीढ़ीपर सवार हुआ। मिठाई-की तीन हंडियोंमेंसे एक हँड़िया मेरे सामने कारिन्देने रख दी। मैंने बहुत इन्कार किया परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया मुझे रास्तेका अनुभव है आपको नहीं, आपके काम आयगी। हटरीसे सीधी चढ़ाईका आरम्भ हो गया। यह सिकन्दरेकी चढ़ाई कहाती है। मेरा सामान कुलियोंकी पीठपर चला। थोड़ी दूर ऊपर चढ़ते ही सारे पहाड़ श्वेत हिमसे ढके हुए दिखायी देने लगे। ज्यों ज्यों ऊपर चढ़ता गया त्यों त्यों दृश्य सुन्दर होता गया। यहां तक कि ऐसी ऊंचाईपर पहुँचा जहाँ हिम गिर रहा था। गरम कोट आदि पहिनकर ऊपरसे मैंने घुस्सा ओढ़ लिया था। मैंने समझा था कि बर्फकी वर्षाके समय सर्दी ज्यादह होगी।

लेकिन हालत दूसरी ही नज़र आयी। धुस्सा झाड़कर बर्फको नीचे फैंक दिया और हाथ हांडीकी ओर बढ़ाया क्योंकि भूख बहुत चमक उठी थी। बर्फ गिरतेमें कैसी भूख लगती है यह बिना अनुभवके पता नहीं लग सकता। कहाँरोंके पाँव हिमपर पड़कर उसकी स्वच्छताको बिगड़ते देख मैं सहन न कर सका। यद्यपि मेरे पैर पड़नेसे भी हिमकी स्वच्छ, साफ चादर मैली होती थी परन्तु वह मेरी दृष्टिसे पीछे रह जाती थी। मैंने उस समय पौराणिकोंका ही अनुकरण किया और अज्ञानमें पाप न समझते हुए मनोरञ्जक यात्राकी। आधमील पर खड़े होकर मैंने मिठाईके साथ बर्फ मिलाकर खाना आरम्भ किया और सिकन्दरे-की चढ़ाईके शिखरपर पहुंचकर खाली करके हँड़िया फोड़ दी। चार बजे उतराईका प्रारम्भ हुआ। भूख पग पग पर बढ़ रही थी और खानेको पास कुछ न था। पांच बजे दूर पर एक दूकान दिखायी दी। आशाके घोड़ेपर सवार हो वहां पहुंचा। पहाड़ी दूकान्दारके पास पावभर गुड़ और आधपाव चनोंके सिवाय कुछ न था। उसीपर सन्तोष कर चने टूंगने शुरू किये और तेज भूख साथ लेकर सायंकाल सुकेत पहुंचा।

कमिश्नरका कैम्प ग्रामसे बाहर एक मैदानमें था। वहीं मेरे मुवक्किल मियां शिवसिंहका कैम्प था। मैं उनको पीछे छोड़ सीधा ग्रामकी दूसरी हद्द पर मियां पराक्रमसिंहके यहाँ पहुँचा। वहाँ बाबू दसौंधीराम तथा लाला गणेशदास वकील मिले जो मुझसे पहिले मियाँ शिवसिंहकी सहायतार्थ आये हुए थे। मेरे मित्र मियाँ जनमेजय भी मिले। भूखेको भोजनकी पहिले सूझी और फिर शयन-की। इधर नींदके झोंके आ रहे थे और उधर स्थान एकान्त न था। लाचार फिर-से यात्रा आरम्भ कर दी और डेढ़ मील पैदल चलकर सिहारल पहुंच मियाँ ज्वालासिंहके मकानमें आराम किया। यहाँ शीत बहुत था और साथ ही मेरे कमरेके किवाड़ोंके कुछ शीशे टूटे हुए थे परन्तु फिर भी ६॥ बजे सोकर ४॥ बजे तक करवट न बदली।

दूसरे दिन प्रातःकाल यथानियम उठकर स्नान किया। जिस कूलके झरनेका शब्द रातको लोरियां देकर सुला रहा था उसीके शीतल जलसे लोटे भर भर स्नान किया। पहाड़के रमणीय जंगलमें सन्ध्या की और अग्निहोत्रके समय सुगन्धके कारण घरके बच्चोंके साथ पालतू जानवर भी मेरे साथ आ बैठे। मेरे यजमान मियाँ ज्वालासिंह, मियाँ शिवसिंहके छोटे भाई थे। उन्होंने शीघ्र ही मेरी इच्छानुकूल भोजन तय्यार करा दिया और मैं दिन भरके कामके लिये तय्यार होकर "सिहारल" से चल दिया।

यहाँ एक बार ही लिख देता हूं कि यद्यपि मुझे नित्य बिखड़े मार्गमें तीन मीलसे अधिक चलना पड़ता था परन्तु रातके लिये मैंने निवास-स्थान 'सिहारल' को ही बनाये रखा। दूसरी रातको एक घटना भी ऐसी हुई जो शायद दूसरे आदमीको वहांसे भगा देती। मेरे कमरेके किवाड़ोंके कुछ शीशे टूटे हुए थे। सर्दी रोकने के लिये उनपर कागज़ चिपका रखे थे। मेरे सुकेत पहुंचनेकी

तीसरी रातको, खिड़कीके कागज़का फाड़ वाघने अपना पंजा अन्दर घुसेड़ दिया और रात भर मेरे पलङ्गके पाए पर पञ्जा डाले पड़ा रहा। प्रातः उठने पर मैंने देखा कि वह अन्दरकी तरफ टिकटिकी जमाये बैठा है। मैंने डण्डेसे उसका पञ्जा बाहर कर दिया और लाठीको जमीनपर मारकर उसे डपट सुनायी। इस पर बाघ गरजता हुआ भाग गया। मुझे बहुत समझाया गया कि मैं अन्दरके मकानमें सोया करूँ परन्तु मुझे जाड़ेमें भी चारों ओरकी वायुका मार्ग खोलकर सोनेका अभ्यास था। मैं उसी हवादार मकानमें सोता रहा।

५ माघ (१८ जनवरी) से लेकर पूरे १७ दिन मैं सुकेत रहा। इस बीचमें जहां मियां शिवसिंहके मुकद्दमेका मनोरञ्जक काम होता रहा वहां साथ ही असाधारण प्राकृतिक तथा मानवी दृश्य भी देखनेमें आये और साथ ही वैदिक धर्मका प्रचार भी होता रहा।

मेरे साथ जो वकील थे उनमेंसे एक तो ऐसे शराबी थे कि जब रातको शराब पी लेते तो उनकी बुद्धि बड़ी तेज हो जाती परन्तु प्रातः नशा उतरने पर मुर्देके समान दिखायी देते। दूसरे महाशय अंग्रेजीका एक भी अक्षर न जानते थे इसलिये कमिश्नर साहबके यहां बैरिस्टर रैंगिटनके मुकाबिले उन्हें बैठाना व्यर्थ था।। मियां शिवसिंहका दावा था कि उनका भण्डार राजाने लूट लिया। इसका प्रमाण? राजाके अत्याचारोंसे तङ्ग आयी हुई प्रजाने मेरे पास पहुंच कर चोरीके मालका पता दिया। मैंने सब मालूम कर कमिश्नरसे कुछ स्थानोंकी तलाशीके लिये वारण्ट मांगे। कमिश्नर साहबने मियां शिवसिंहको बुलाकर कहा कि यदि चोरीका माल कहींसे न निकला तो उन्हें स्वयं जेल भुगतना पड़ेगा। मैंने इस पर एक लिखित प्रार्थनापत्र पेशकर दिया और सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेनेका वचन दिया। कमिश्नर साहबका आश्चर्य दूर करनेको मैंने अपने पास पहुंचे गुप्त प्रमाण भी उन्हें दिखलाये। तब साहबने उसी समय सरिश्तेदारको न बुलवा मुझसे ही वारण्ट लिखवा कर पुलिस वालोंको मेरे नियत किये हुए आदमियोंके साथ भेज दिया। प्रातः १० बजे वारण्ट जारी हुए और शामके ६ बजे चोरीका माल राजा साहेबकी नौकरानियों और अन्य विश्वासपात्रोंके घरोंसे बरामद होकर आने लगा। सबका कहना यही था कि राजाने यह सामान उनको कुछ दिनों रख छोड़नेके लिये दिया है।

माल तो बरामद हो गया परन्तु फिर भी कुछ स्थानोंसे दूसरे स्थानोंमें माल पहुंच ही गया और इसके कारण स्वयं मियां शिवसिंह थे। हम सब मियां शिवसिंहके भोलेपनको जानते थे। मैंने राजकुमार जनमेजयसे तय किया कि मियां शिवसिंहपर मैं, वह तथा अन्य कई सज्जन पहिरेदार बैठें और उन्हें किसीसे बात न करने दें। मियां साहबको भी मैंने समझाया कि वारण्ट लेकर जो पुलिस गयी है उसका किसीसे जिक्र न करें, क्योंकि ऐसा करनेसे बात फैल जायगी और अपराधी मालको गायब कर देंगे। मियां साहबने प्रतिज्ञा की कि

वह ऐसा न करेंगे। आपने बलपूर्वक कहा कि वह मूर्ख नहीं हैं कि दुश्मनोंको अपनी चालका पता दें। अब हमारा तो यह प्रयत्न और मियां साहबके नौकरोंका यह प्रयत्न कि हमारा प्रोग्राम उनको भी विदित हो जाय। अन्तको विजय नौकरोंका हुआ। मियां साहब लघुशंका करने गये। एक नौकर लोटा ले हाथ धुलाने दौड़ा, दूसरा पज़ारबन्द बांधने लगा, तीसरा छाता लगाकर खड़ा हुआ। बस हाथ धुलाते धुलाते सब कहानी मियां साहबसे पूँछ ली और अपने साथियोंको बताने लगे। सुनने वालोंमें कोई विश्वासघाती भी था, उसने राजाको समाचार पहुँचाया। राजाने आदमी दौड़ाये, परन्तु तब तक पुलिस बहुत काम कर चुकी थी।

मुकद्दमेकी पैरवी तो कोई बड़ी बात न थी परन्तु मियां शिवसिंहसे मुकद्दमेकी रक्षा करना ही सबसे कठिन काम था।

जवनिका-पतन

सुकेतका हाल है तो बड़ा मनोरञ्जक परन्तु उसको विस्तारपूर्वक लिखनेके लिये स्थान नहीं है। राजाको रैगिटन साहब बैरिस्टरने खूब लूटा। पहिले १०००) रोज़ाना फीसपर आये। जब मियाँ शिवसिंहकी चोरीका माल बरामद हुआ तो लाहौरसे तार आया बतला कर चोरीके अभियोगकी पैरवीके दिनोंके लिये १६००) प्रतिदिन लेने प्रारम्भ किये। १००) रोज़ाना भोजनके लिये अलग लेते, और भोजन, राजके पुराने प्रबन्धकर्त्ता डानल्ड साहबके यहाँ करते। फीस बढ़वा ली परन्तु ७ दिन अधिक फीस लेकर मुकद्दमा लड़ानेके स्थानमें ६०,०००) मियाँ शिवसिंहको दिलवा दिये। मियाँ शिवसिंहने जो लाख रुपयेकी चोरी लिखवायी थी इसमें ४०,०००) की तो दवाइयाँ थीं जो बिना मूल्य बंटवायी जाती थीं और शेष वस्तुएँ भी उन्होंने बड़ी महंगी खरीदी थीं। उनके लिये ६०,०००) एक अच्छी सम्पत्ति थी, परन्तु मियाँ साहबके पास वह रुपया जमने वाला न था।

ऊपरका फैसला होते ही मैं चलना चाहता था। परन्तु मियाँ शिवसिंहके सम्बन्धियोंने आग्रह किया कि मैं मियाँ साहबको रुपये नक़द दिलवाकर जाऊँ। तब मैं रुपये गिनवानेके कामका निरीक्षक बना। वहाँ भी बड़ा काम करना पड़ा। राजा साहबसे खोटे रुपये बदलवानेका काम बड़ा कठिन था। परन्तु वह काम भी समाप्त हो गया; और राजा साहब मण्डीके निमन्त्रणपर मैं दोनों सहकारी वकीलों सहित मण्डीको चल दिया। राजा साहबसे भेंट हुई। मुझे देखते ही उन्हें जालन्धर वाला शास्त्रार्थ याद आ गया जो उन्होंने आर्य तथा सनातनी पण्डितोंके बीच कराया था। तब तो आर्यसमाजकी ही बातें होती रहीं और मुझे अपने धर्मप्रचारका बड़ा अच्छा मौका मिला। यहाँपर मैंने पहिले पहल पहाड़ी रियासतोंके कैदियोंकी विचित्र व्यवस्था देखी। प्रातःकाल ही जेलका द्वार खुलता और सब कैदियोंको घास लाने आदिके कई काम सौंप-

कर छोड़ दिया जाता। सायंकालको सब अपना काम ख़त्म कर जेलमें आ सो जाते। मैंने जब आश्चर्य प्रकट किया तो अहलकारोंने बताया कि कभी कोई कैदी नहीं भागा क्योंकि इन लोगोंको अपनी मातृभूमिसे बड़ा प्रेम है।

इसी स्थानमें एक शिव-मन्दिर मुझे दिखाया गया जिसमेंसे शिवलिङ्गको उखड़वा दिया गया था। पुजारीने मन्दिर इस बुद्धिमत्तासे बनवाया था कि मन्दिरकी छतकी ऊपरकी खोलमेंसे आदमी गुम्बदके छिद्रों द्वारा दूध छिड़क सके। यह दूधका छिड़काव बड़े बहुमूल्य चढ़ावेसे होता था। राव, रंक सब पुजारीकी जालमें पागल हो फँस गये। मुझे बताया गया कि वैण्डथ साहब कमिश्नरने इस मन्दिरकी पोलका पता लगाया और राजा साहबने उनकी आज्ञानुसार उसमेंसे शिवकी मूर्त्तिको उखड़वा दिया। मण्डीसे हम सब वकील डोलियोंमें लौट पड़े। पहिली रात इकट्ठे काटी। शेष दोनों वकीलोंने प्रातःवर्षाका ढंग देखते ही खूब पीली। एक स्थानमें ओले बरसने लगे जिसके कारण हमने डोलियाँ रखवा दीं। मैंने तो कहारोंको बतलाकर अपनी डोली ऊँचे स्थानमें रखवायी और शराबियोंकी डोलीको नीची जगह छोड़कर उनके कहार दूर छते हुए स्थानमें जा बैठे। जब मूसलधार पड़ने लगी तो बिचारे शराबी वकीलोंने प्यालेसे हाथ हटाकर शोर मचाया—"भीग गये! भीग गये!! ओ! कहारो! जल्दी डोली उठाओ।" जितनी ही शराबी वकील डांट बतलाते उतना ही कहार और हँसते। इनकी धमकीका परवाह कहारोंको कुछ भी न थी। इनकी हालतपर मुझे रहम आयी और मैंने छाता लेकर डोलीसे बाहर पैर रखा। बस, फिर क्या था—सब कहार दौड़कर डोलियोंको लग गये और मूसलधार बारिशमें ही आगे बढ़ने लगे। रातको फिर बड़ी गड़बड़ हुई। वर्षा बन्द होते ही मैं पैदल हो लिया था और दस मील चढ़ाई उतराईका भुकान कर ऊँची चढ़ाईपर डाक बङ्गलेमें जा पहुंचा और भोजनके बाद गाढ़ निद्राका गोदमें विश्राम लेनेका विचार था कि शराबियोंकी डोलियाँ आधीरातके वक्त पहुंचीं। उनमें एक महाशय पीठके फोड़ेसे बीमार थे। उन्होंने रास्तेमें कहारोंको बहुत गालियां दीं और तंग किया। इस अन्तिम चढ़ाईपर कहारोंके पैर फिसल जानेसे डोली गिरी और शराबी वकीलकी पीठका फोड़ा फूट गया। हम सब तो उनका दुःख दूर करनेकी चिन्तामें और उन्हें यह शक कि कहारोंने उन्हें जान बूझकर गिरा दिया है। इसलिये उन्होंने कहारोंको कोसते हुए, लगभग संसार भरके सब गन्दे शब्द, फुलझड़ीका तरह कहारोंपर बरसा दिये। अन्तमें ज्यों त्यों करके उन्हें कुछ खिलानेका यत्न किया गया, तब शराबकी बोतल खोल बैठे। मैं उन्हें छोड़ चारपाईपर दूर लेट गया। दो पेग (शराबके गिलास) और चढ़ाकर वकील साहबके सिरपर यह धुन सवार हुई कि मैं उनके मद्य-पानको देख नाखुश हो गया हूँ। उनके मुंशीने कह दिया—"वह धर्मात्मा आदमी हैं, आपके पास क्या बैठते—जहाँसे हमेशा मद्यका दुर्गन्ध ही उठता रहता है।" मैं तो गाढ़ निद्रामें बैठा जा रहा था, उधर शोर मचा। वकील साहबके

साथी हिलनेसे मना करते, और वह मेरे पास पहुंचनेके लिये हाथ पैर मारते। कहाँकी नींद और कहाँका सोना। मैं वहाँसे उठ पलंगपर जा बैठा और कह दिया कि मैं नाखुश नहीं हूं;—लेकिन इससे भी छुटकारा न हुआ। मेरे पैरोंको ऊपर खींच शराबी वकील बड़ बड़ाने लगा—"आप धर्मात्मा हैं. आप तो ऐसा कहेंगे ही, परन्तु मैं पापी हूं। क्षमा करो"—इत्यादि। मैंने समझाया, दिलासा दिया, परन्तु वहाँ कौन सुनता था। यही क्रम एक घंटे तक लगा रहा, तब मुझे वहाँ कुछ कहनेका मौक़ा मिला। वहाँ श्रद्धाका प्रवाह था, सोनेको कहा, तो आज्ञा पालन की गयी। उस समय जो करुणा और प्रेमका भाव मेरे अन्दर काम कर रहा था उसका फिर कम ही प्रादुर्भाव हुआ है।

दूसरे दिन दोपहर अपने साथियोंसे बिछुड़ होशियारपुर सायंकाल पहुंचा और तीसरे दिन जालन्धर पहुंच परिवारको मिल निश्चिन्त हुआ।

कुम्भपर वैदिक-धर्मप्रचार

मेरी अनुपस्थितिमें सद्धर्मप्रचारकका सम्पादन लाला देवराजजी करते रहे। लौटनेपर अपना काम मैंने फिर सम्भाल लिया। संवत् १९४८ का कुम्भ पास आ रहा था। मैंने प्रचारक द्वारा बहुत आन्दोलन किया। आर्य प्रतिनिधि सभाओंने चुप साध ली थी; परन्तु जब प्रचारककी प्रेरणा पर सर्वसाधारणने कुम्भ प्रचारके बड़े बोझको उठानेकी तय्यारी आरम्भ की तो सभायें भी जाग उठीं। २८ फाल्गुन संवत् १९४७ (१२ मार्च १८९१ ई०) को पञ्जाब प्रतिनिधिका मुझे तार मिला—"संयुक्तप्रान्त और पञ्जाब प्रतिनिधियोंने कुम्भ प्रचारका फैसला कर दिया। इसी सप्ताहके अखबारमें धन और उपदेशकोंकी पहुंचके लिये अपील करो। व्यय दो सहस्रके लगभग होगा।"

४८ के कुम्भ प्रचारका हाल प्रचारकसे लेकर पंडित लेखरामजीने अलग छपवा कर बँटवाया था। उस कुम्भपर सैकड़ों ही जमा हुए और उतना ही व्यय हुआ। जिस भूमिके एक सिरेपर ४८ के कुम्भका प्रचार हुआ उसीके दूसरे सिरे पर १९६० के कुम्भपर भूमि किरायेपर लेकर फिर वैदिक-धर्मका प्रचार हुआ। उसके १½ वर्ष पीछे ही वह सारी भूमि आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाबकी आज्ञानुसार मैंने उन्हें खरीद दी और जब वैशाख १९७२ कुम्भ पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाकी ओरसे प्रचार हुआ तो उस समय इस भूमिका स्वामित्व आर्यसमाजके पास था।

संवत् ४८ के कुम्भ प्रचारके लिये राजकुमार जनमेजय तथा अपने मुन्शीको साथ ले मैं हरिद्वार पहुंचा। उसका प्रबन्ध मेरे सुपुर्द किया गया था परन्तु मुझे हरद्वारसे चार पांच दिनोंके बाद ही लौटना पड़ा क्योंकि मेरे पुत्रकी बीमारीका समाचार तार द्वारा मुझे पहुंचा। मेरे पहुंचते ही वह नीरोग हो गया।

कुम्भकी समाप्ति पर सब संन्यासी महात्मा मेरे गृहपर जमा हुए। स्वामी

आत्मानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी पूर्णानन्द, ब्रह्मचारी नित्यानन्द, ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द सभी महाशयोंके व्याख्यान हुए। परन्तु जब एक स्थानमें दो तलावारोंका ठहरना कठिन है तो एक स्थानमें इतने वीतराग संन्यासियोंका शान्तिसे ठहरना कैसे सम्भव हो सकता था? स्वामी पूर्णानन्द तो काशी पढ़नेके लिये चले गये, स्वामी आत्मानन्दजीको अपने व्याख्यानोंकी प्रशंसाकी चिन्ता हुई। इसी प्रकार यह मण्डल उस समय छिन्न भिन्न हो गया। स्वामी आत्मानन्दजीका नाम मैंने वार्किंग एन्साइक्लोपीडिआ * रख छोड़ा था। कौन पुरुष था जिसके परिवारके विषयमें उनको कुछ ज्ञात न हो और कौन नगर वा ग्राम है जिसका वर्णन वह न कर सकते थे। दृष्टान्तके तौर पर लाला देवराजजी आये। मैं नाम लेकर उनसे परिचय करानेको ही था कि स्वामीजी बोले—"आइये! लाला देवराजजी! मन्त्री आर्यसमाज तथा जैल्दार जालन्धर। आपके पिता लाला शालिग्राम आनरेरी मैजिस्ट्रेटका क्या हाल है? आपकी सत्या ी प्रार्थना-पुस्तकका दूसरा संस्करण निकला वा नहीं?..." एक दूसरे भाई आये जिन्होंने बतलाया कि वह कुक्कर पिंड (ग्राम) के रहने वाले हैं। स्वामीजीने उस ग्रामके जैल्दार, लम्बरदारोंकी ही पीढ़ियाँ न गिन डालीं बल्कि बड़ और पीपलके वृक्षोंका भी वर्णन कर दिया। मुझे बड़ा शोक है कि स्वामी आत्मानन्दजीको आर्यसमाज और उसके प्रवर्तकके सम्बन्धमें जितनी घटनायें ज्ञात थीं वह उनकी मृत्युके साथ ही समाप्त हो गयीं।

इसी संवत् १९४८ के मध्य ज्येष्ठ (१८९१ ई० के मई मासके अन्त) में दयानन्द कालिजका प्रसिद्ध अधिवेशन हुआ था जिसमें आर्य ग्रन्थोंकी पढ़ाईके लिये अलग वैदिक श्रेणी खुलनेका प्रश्न इस युक्तिसे स्वीकृत नहीं किया गया था कि उसके खोलनेसे कालिज सोसाइटीके उद्देश्य बदल जायंगे और इसलिये उक्त सोसाइटीकी रजिस्टरी नाजायज़ हो जायगी। परन्तु जिन महाशयोंने उस समय इस प्रकारकी युक्तियाँ दी थीं उन्हींने अब वैदिक श्रेणी उसी कालिजके सम्बन्धमें खोली है और सोसाइटियोंके रजिस्ट्रारने उसकी रजिस्टरीको नाजायज़ करार नहीं दिया। इन सब कामोंमें भाग लेनेके कारण कुछ दिनों फिर 'प्रचारक' के सम्पादनका काम मैं न कर सका। ३० ज्येष्ठ (१३ जून) से मैंने फिर 'प्रचारक' को सम्भाला और तब वैदिक श्रेणी और संन्यासाश्रमके सुधार आदि विषयोंपर आन्दोलन आरम्भ किया।

इसी समय परोपकारिणी सभाके वैदिक यन्त्रालयमें पंडित रैमलजी तथा पंडित श्यामजी कृष्ण वर्माका झगड़ा आरम्भ हुआ। इस झगड़ेके निबटाने और वैदिक यन्त्रालयकी रक्षाको काम जो 'प्रचारक' ने उस समय किया उसको राय मूलराज तकने स्वीकार किया था। इस प्रश्नको हल करनेके लिये उन दिनों मुझे गरमीकी तीन रातों जागकर काम करना पड़ा था।

---

* Walking Encyclopedia

दोसे एक रहकर नये युगमें प्रवेश

सहधर्मिणीके साथ मेरा शनैः शनैः अटूट सम्बन्ध हो चुका था। शिव-देवीजीसे कभी बिछुड़नेका ख़याल तक न आता था और उन्होंने "वैदिक संस्कार-विधि" का पाठ करके यह धारणा दृढ़की थी कि पतिसे कभी वियोग न होना चाहिए। श्रावणके अन्त (अगस्तके मध्य भाग) में उन्हें पांचवीं सन्तान उत्पन्न होते समय बड़ा कष्ट हुआ। चिकित्सककी सहायता ली गयी। लड़कीका जन्म लेते ही देहान्त हो गया। देवी इससे बहुत निर्बल हो गयीं। धर्मशाला पर्वतके आर्य-समाजसे वार्षिकोत्सवके लिए निमन्त्रण आया था। निश्चय कर लिया कि १५ भाद्रपद (३१ अगस्त) को परिवार सहित धर्मशालाके लिए कूच होगा। मैं क्या सोच रहा था और कर्मानुसार उधर कुछ और तय्यारी हो रही थी।

१२ भाद्रपद संवत् १९४८ (२८ अगस्त सन् १८९१ ई०) की शामको दस्त और वमन आरम्भ हुए। डाक्टर सारी रात पास रखकर मैं जागता रहा। तीन बजे प्रातःकाल दस्त बन्द हो गये। समझ लिया कि अब नीरोग हो गयी हैं। १३ भाद्रपद (२९ अगस्त) के दिन और रात आराम रहा। १४ भाद्रपद (३० अगस्त) को आर्यसमाजके साप्ताहिक अधिवेशनमें बैठे समाचार आया कि फिर दस्त शुरू हो गये। घबराहट कुछ कुछ दोपहरसे ही हो रही थी। डाक्टरोंको सम्मतिके लिये बुलाया गया। एक डाक्टरने वहां ही डेरा लगाया। माताने आकर शामसे ही गोदमें ले लिया। देवीके भाई पास थे। बहुतेरा इलाज किया, परन्तु कालके आगे किसीका वश न चला। नौ बजे रातके जब माता थोड़ी देरके लिये अलग हुई तो पुत्री वेद कुमारीसे अपना क़लम-दान मांगा। पर्चेपर कुछ लिखा और उसके निचले खानेमें रख दिया। एक बजे जब मैं दवाई पिलाने लगा तो हाथ जोड़ कर प्रणाम किया। जब दवाई पिला चुका तो माताको धीमे स्वरसे कहा—"मुझसे बड़े अपराध हुये हैं। जिनकी मुझे सेवा करनी थी, वे मेरी सेवा कर रहे हैं।" माताने प्यार दिया। भाई देव-राजने कहा—"बीबीजी, भजन सुनोगी" कहा "हां"—देवराजजीने आरम्भ किया— 'प्रभुजी ! भेंट धरूं क्या मैं तेरी" देवी लब हिलाती रहीं, बोल नहीं सकती थीं, भजन समाप्त हुआ। माताने रोकर पूछा "बच्चे किसके सुपुर्द कर चली हो" उत्तर मिला—"आप ही पल जायंगे।"

मुझे देवी बाबूजी कहकर सम्बोधन किया करती थीं। ४॥ बजे मैं बाहर डाक्टरसे कुछ सलाह करने गया। २० मिनिट पीछे बुलावा हुआ। मुझे देखते ही दो बार कहा-"बाबूजी ! बाबूजी !" मने झुककर नब्ज़ हाथमें ली। लब हिलते थे। एक बार स्पष्ट "ओ३म्" का उच्चारण मैंने सुना और फिर माता-की गोदमें प्राण त्याग दिये।

६ बजेसे ही नरनारीका हजूम जमा हो गया। स्त्रियोंने रोना पीटना आरम्भ किया। देवीकी माता और उनकी जेठानी (मेरे बड़े भाईकी धर्म-पत्नी)

ने सबको रोने पीटनेसे बन्द कर दिया और ६ बजे श्मशान-भूमिमें वैदिक विधिसे मृतक शरीरका अन्त्येष्टि-संस्कार कराके परमात्मासे शान्तिके लिये प्रार्थना की गयी।

देवीने चार सन्तान छोड़ीं—(१) वेद कुमारी, १० वर्ष (२) हेमन्त कुमारी, जिसका यज्ञोपवीत संस्कारके समय नया नाम रक्खा गया—"अमृतकला"—६ वर्ष (३) हरिश्चन्द्र, ४ वर्ष (४) इन्द्र, २ वर्ष। इनमेंसे इन्द्र उस समय भी ज्वर और दस्तोंसे पीड़ित था और छः मास पहले भी उसे निमोनिया हो चुका था। मेरे बड़े भाईकी धर्मपत्नीने इन सबको संभाल लिया।

दूसरे दिन प्रातः मैंने देवीका सामान संभालना शुरू किया। बड़ी पुत्रीने क़लमदान लाकर बतलाया—"माताजीने एक काग़ज़ लिख कर इसमें रक्खा था।" मैंने काग़ज़ निकाला। उसमें लिखा था—"बाबूजी! मैं अब चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जायगी, परन्तु इन बच्चोंको कभी मत भूलना। मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करो!" यह उन पंजाबी वाक्योंका अनुवाद है जो देवीने देवनागरी अक्षरोंमें लिखे थे। वे वाक्य मेरे हृदयपर अंकित हो गये। रातको सब बच्चोंको सुलाकर, मैंने एक घण्टे तक परमात्मासे बल के लिये प्रार्थना की और यह दृढ़व्रत धारण किया कि बच्चोंके लिए माताका स्थान भी मैं ही पूरा करूँगा। यह मेरे वर्तमान बच्चे बतला सकते हैं कि मैंने अपने इस संकल्पको कहाँ तक पूरा किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्दके उपदेशों और वैदिक धर्मके आदेशोंने सम्बन्धियों, मित्रों और हितचिन्तकोंके, सामने धरे प्रलोभनोंसे मुझे बचाया, परन्तु देवीके अन्तिम सन्देशने मेरे अन्दर मातृभावका संचार करके मुझे इस योग्य बना दिया था कि मैं गुरुकुलका आचार्य बन सकूँ जहाँ वेदाज्ञाके अनुकूल आचार्यको माता और पिता दोनोंका स्थान पूरा करना पड़ता है।

सार्वजनिक जीवनमें प्रवेशकी तय्यारी

हरिश्चन्द्रको साथ लेकर मैं धर्मशाला पर्वतको चल दिया और शेष बच्चोंको लेकर मेरी बड़ी भौजाई ग्राम तलवनको चली गयीं। धर्मशाला आर्यसमाजके वार्षिकोत्सवमें व्याख्यान देनेके अतिरिक्त मैं गुरखापल्टन और हिमगिरिके गद्दियोंमें भी धर्मप्रचार करता रहा। आश्विनके उत्तरार्द्ध (अक्टूबरके आरम्भ)में लौटकर फिर वकालतके काममें लग गया। मेरे बड़े भाई, श्री आत्मारामजी, ने अपनी धर्मपत्नी सहित, बच्चोंकी रक्षा सेवाके लिये जालन्धरमें डेरा आ जमाया। इसी वर्ष लाहौर, होशियारपुरादि स्थानोंके आर्यवार्षिकोत्सवोंपर मांसभक्षण विषयपर प्रश्नोत्तर होने शुरू हो गये थे।

संवत् १९४८ के अन्त (सन् १८९२ के आरम्भ) से ही मैं कुछ बीमार रहने लगा, दो बार एक एक सप्ताह बीमार रह कर मई (वैशाख-ज्येष्ठ) मासमें

अधिक बीमार हो गया। डाक्टर और हकीम, सबसे ही परीक्षा करायी। सब अंग ठीक पाये गये; परन्तु बीमारी यह थी कि ज्यों ज्यों दिन चढ़ता जाता शरीरमें जलन बढ़ती जाती और शामको दूर हो जाती। न ज्वर था, न फेफड़ोंमें कुछ कसर थी और न किसी अन्य रोगके चिन्ह थे। तब ज्येष्ठके उत्तरारंभ (जूनके आरम्भ) में ही धर्मशाला पर्वतका रास्ता पकड़ा। वहाँ दो आर्य संन्यासियोंमें पहिलेसे ही मांस विषयका विवाद चल रहा था, जिसमें आर्यसमाजी बैरिस्टर वकील भी भाग ले रहे थे। मैंने उस समय तो वहाँ पहुंचकर उस विवादको मिटा दिया परन्तु मैदानमें वह झगड़ा ज़ोर पकड़ता गया। रायजादा भक्तराम उस समय धर्मशालामें बैरिस्टरी करते थे, उनके पास चार मास बहुत उत्तम काटे। एक ओर वकालत करते हुए वहाँ कुछ आर्थिक कमाई भी की और साथ ही आत्मिकोन्नति और स्वाध्यायके लिये भी काफ़ी समय मिला। काङ्गड़ा, पालमपुरादिमें वैदिकधर्म-प्रचारका भी खूब अवसर मिला। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दने मुझे दो शास्त्रार्थोंमें भी घसीट लिया। उन दिनों सहनशीलताका पाठ पढ़नेका भी अच्छा अवसर मिला और पहाड़ोंकी चढ़ाईमें मानसिक बलकी भी कई वार परीक्षा हुई।

अक्टूबर (आश्विन कार्तिक) मासमें मैं जालन्धर लौटा। मांस विषयपर मैदानमें ताम्र आन्दोलन हो रहा था। इसपर दो दल बन गये थे। यद्यपि अभी समाजका संघटन एक ही था तथापि एक दूसरे पक्षको उपाधियां मिलने लग गयी थीं। मांसखोर और घासखोर, मांसप्रचारक और महात्मा बुद्ध-एक दूसरेको खिताब मिल रहे थे। इसी उधेड़बुन और लड़ाई-झगड़ेमें आर्यसमाज लाहौरका वह वार्षिकोत्सव आ पहुँचा जिसमें दोनों पक्षोंकी ओरसे खुल्लमखुल्ला अपने मन्तव्योंका प्रचार हुआ और जो लोग गुप्त रीतिसे मांसका प्रचार करते थे उन्होंने खुले बन्दों प्रकट होकर मांस-भक्षणका समर्थन करना शुरू कर दिया। पंजाबके समस्त आर्य समाजोंकी प्रतिनिधि सभाका वार्षिक चुनाव था जिसमें मुझे उक्त सभाका प्रधान बनाया गया। उस समयसे मेरा जीवन निजू नहीं रहा। वह सार्वजनिक जीवन हो गया और इसलिये अपनी जीवन-यात्राका दूसरी मंजिलको मैं यहीं समाप्त करता हूँ। आश्रम इसे कह नहीं कह सकता क्योंकि वैदिक ब्रह्मचर्य्याश्रमके साथ मेरा स्पर्श तक न हुआ था। फिर गृहस्थ भी अवैदिक ही रहा। हाँ इससे आगे मैंने वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेशकी तय्यारी आरम्भ कर दी थी। उस तय्यारीमें ६ वर्ष व्यतीत करके किस प्रकार मैंने वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश किया और उस आश्रम-धर्मके पालनमें मुझे कहाँ कहाँ ठोकरें लगीं इसके वर्णनका समय अभी नहीं आया। तब चौथे आश्रममें प्रवेशका वर्णन अभी बहुत दूर है।

श्रद्धानन्द संन्यासी।

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

म

य

रोचक वर्णन,

पक्की जिल्द

पृथिवी प्रदक्षिणा ।

मनोरम चित्र

लेखक—श्री शिवप्रसाद गुप्त

पृष्ठ संख्या ४५०, चित्र संख्या २६४

यदि आपको सुन्दर कागजपर छपी सैकड़ों चित्रोंसे सुशोभित, अच्छी जिल्दसे युक्त पुस्तककी खोज हो तो आप इसे अवश्य लीजिये । यदि देश विदेशोंका हाल आपको जानना हो, यदि दूसरे स्थानोंके नर नारियोंके आचार विचारका ज्ञान आप प्राप्त करना चाहते हों, तो इसे पढ़िये। यदि आप नयी पुरानी सभ्यताओंका साक्षात दर्शन करना चाहते हों, यदि आप वर्तमान संसारकी जटिल समस्याओंका परिचय प्राप्त करना चाहते हों, यदि आपको यह जाननेकी अभिलाषा हो कि संसारके लोग किस प्रकारसे अपनी समस्याओंको हल कर रहे हैं तो आप इस पुस्तकका अवलोकन कीजिये । यदि आप नये नये विशाल नगरों, आनुधिन धन धान्य, व्यापार व्यवसायोंके केन्द्रोंमें भ्रमण करना चाहते हों तो इस पुस्तकके पन्ने उलटिये । यदि आप नये और पुराने आविष्कारों, प्रकृतिके नाना प्रकारके रूप रंगोंको आंखसे स्वयं देखना चाहते हों, तो इसके चित्रोंको देखिये । यदि आप यह जानना चाहते हों कि एक भावुक-देशभक्त-स्वतंत्रता प्रिय भारतीयके मनमें पृथ्वीके भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें घूमते हुए क्या भाव उत्पन्न होते हैं, यदि ऐसे व्यक्तिकी दृष्टिसे संसारका भूत और वर्तमान इतिहासका भी ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों, यदि आपको यह अभीष्ट है कि आप भी यह जानें कि भूतकाल और वर्तमान कालमें ईश्वरकी बनायी हुई प्रकृतिके साथ ईश्वरके ही बनाये हुए मनुष्यने क्या क्या खेल खेले हैं और भविष्यमें उसकी क्या क्या और खेल खेलनेकी सम्भावना है, तो भी आप इस पुस्तकको मंगाइये । यदि आप यह देखना चाहते हों कि विदेशोंकी चाल ढाल देखता हुआ भारतीय किस प्रकारसे अपने घरकी चाल ढालका मतलब समझने लगता है, उसे अच्छा मानने लगता है, और जिन रिवाजोंको उठानेका सुधारककी हैसियतसे वह यत्न करता था, उन्हींका समर्थन करने लगता है तो आप इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़िये और यदि आप भारतके पूर्वकालके महत्त्वको स्मरण करना चाहते हों, उससे भविष्यके लिये शिक्षा ग्रहण करना चाहते हों और यह देखना चाहते हों कि संसारपर भारतकी कैसी छाप किसी दिन पड़ी थी और किस तरह अभीतक प्राय: सभी देशोंमें इस छापका प्रमाण मिलता है, तो आप इस पुस्तकपर मनन कीजिये । मूल्य १५) किन्तु पेशगी देने वालोंको कमीशन काटकर १३ॽ) में, डाक व्ययके लिये १) अलग भेजिये । हर हालतमें कमसे कम ५) पेशगी प्राप्त होना चाहिये ।

व्यवस्थापक, ज्ञानमण्डल पुस्तक भण्डार, काशी ।